साधनापथ की अमर साधिका

लेखिका
साध्वी सरला 'सिद्धांताचार्य'
साध्वी चंदना 'दर्शनाचार्य'

●

भूमिका
उपाध्याय अमरमुनि

●

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

●

प्रकाशक
जैन महिला समिति, देहली—६

प्रकाशक :
जैन महिला समिति,
जैन श्वे० महिला स्थानक,
४४६२ पहाडी धीरज,
सदर बाजार, देहली—६

प्रथम प्रकाशन
४ नवम्बर, १९७०
मूल्य : पाच रुपए मात्र

मुद्रक :
रामनारायन मेडतवाल,
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मडी, आगरा—२

रगीन मुद्रण
मोहन मुद्रणालय
नाई की मडी, आगरा

समर्पण

सेवा, समता, सहिष्णुता की दिव्यज्योति
गंभीरज्ञान एवं पवित्र आचार की अमरकीर्ति
श्रद्धेया बालब्रह्मचारिणी महाश्रमणी
स्व० प्रवर्तनी श्री पार्वती जी महाराज
के
पुनीत चरण-कमलों में

• •

श्रमणसाधिका सम्मान्या महास्थविरा
महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज

प्रकाशकीय

प्रातःस्मरणीया अमरसाधिका महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज का जीवन परिचय ग्रंथ पाठकों के कर कमलों में प्रस्तुत करते हुए आज हमें अत्यन्त प्रसन्नता व गौरव का अनुभव हो रहा है।

वि० सं० २००२ से प्रायः निरन्तर ही महासती जी के मधुर व प्रेरणादायी सान्निध्य का पुण्य संयोग देहली सदर की जनता को मिल रहा है, यह हमारे बहुत बड़े सौभाग्य की बात है। इस क्षेत्र का बहुत बड़ा वर्ग महासती जी के प्रति अत्यंत भक्ति व श्रद्धा से अनुप्राणित है। यह सर्वविदित है कि महासती जी ने अपने सुदीर्घ संयमसाधना काल में जिनशासन की जो अपूर्व सेवा एवं जनकल्याण के महानकार्य किये हैं, वे हम सब के लिए प्रेरणा एवं गौरव के विषय हैं। बहुत समय से हमारी प्रबल इच्छा थी कि– उनके जीवन के अस्सीवें वर्ष प्रवेश के समय समाज की ओर से उनका श्रद्धापूर्ण अभिनन्दन होना चाहिए और उनके जीवन-प्रसंगों एवं सेवा कार्यों को प्रकाश में लाना चाहिए।"

महासती जी की सुयोग्य शिष्या विदुषी श्री सरला जी महाराज, सिद्धान्ताचार्य ने जब हमारी भावना जानी तो वे बहुत प्रसन्न हुई। सब भार तो आखिर उन्हीं पर था, उन्होंने इस कार्य को हाथ में लिया और सर्वप्रथम महासती जी का जीवन-ग्रन्थ तैयार करने में जुट गई। श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज एवं मुनि

श्री सुशीलकुमार जी महाराज का मार्गदर्शन, विदुषी महासती श्री सुमतिकु वर जी एव क्रात विचारक श्री चन्दना जी महाराज की प्रेरणा तथा सहकार प्राप्त हुआ और कार्य अपनी गति से आगे बढा। श्री अमर भारती के यशस्वी सम्पादक श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का सक्रिय सहयोग भी हमे प्राप्त हो गया, और जीवन-ग्रन्थ का सम्पादन एव प्रकाशन आदि समस्त जिम्मेदारिया उन्होने कुशलतापूर्वक सम्पन्न करली। हमें आशा नही थी, कि ४ नवम्बर को जब महासती जी अपने अस्सीवे वर्ष मे प्रवेश कर रही है, तब तक के अल्प समय मे यह कार्य इतने सुन्दर रूप मे सम्पन्न हो सकेगा, किन्तु श्रद्धेय कवि श्री जी एव मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज के मार्गदर्शन, महासती सरला जी के अथक प्रयत्न एव श्री सुराना जी के अनवरत श्रम के सुफल रूप मे समय पर हमारी भावनाए साकार हो रही है, यह अत्यत प्रसन्नता का विषय है।

इस जीवन परिचय ग्रथ मे जिन-जिन महान मुनिराजो एव महासतियोजी ने अपनी शुभ कामनाए व सस्मरण प्रेषित किए हैं, हम उनके अनुग्रह का श्रद्धापूर्वक आदर करते है, साथ ही जिन लेखक एवं लेखिकाओ ने अपने सस्मरण आदि भेजने की कृपा की है हम उनके आभारी है।

प्रस्तुत ग्रथ के प्रकाशन मे देहली सदर व अन्य क्षेत्रो की उदारचेता धर्मशीला बहनो एव भाइयो ने जो 'पत्र पुष्प' के रूप मे अर्थ सहयोग प्रदान कर हमारे कार्य को आगे बढाया है उन सब के प्रति मै हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूं। और आशा करती हूँ, यह पुस्तक सपादन, कलात्मक मुद्रण आदि दृष्टियो के साथ-साथ प्रेरणाओ की दृष्टि से भी विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

—विमला जैन

महासचिव-जैन महिला समिति,
देहली

लेखिका :- विदुषी साध्वी श्री सरला जी 'सिद्धान्ताचार्य'
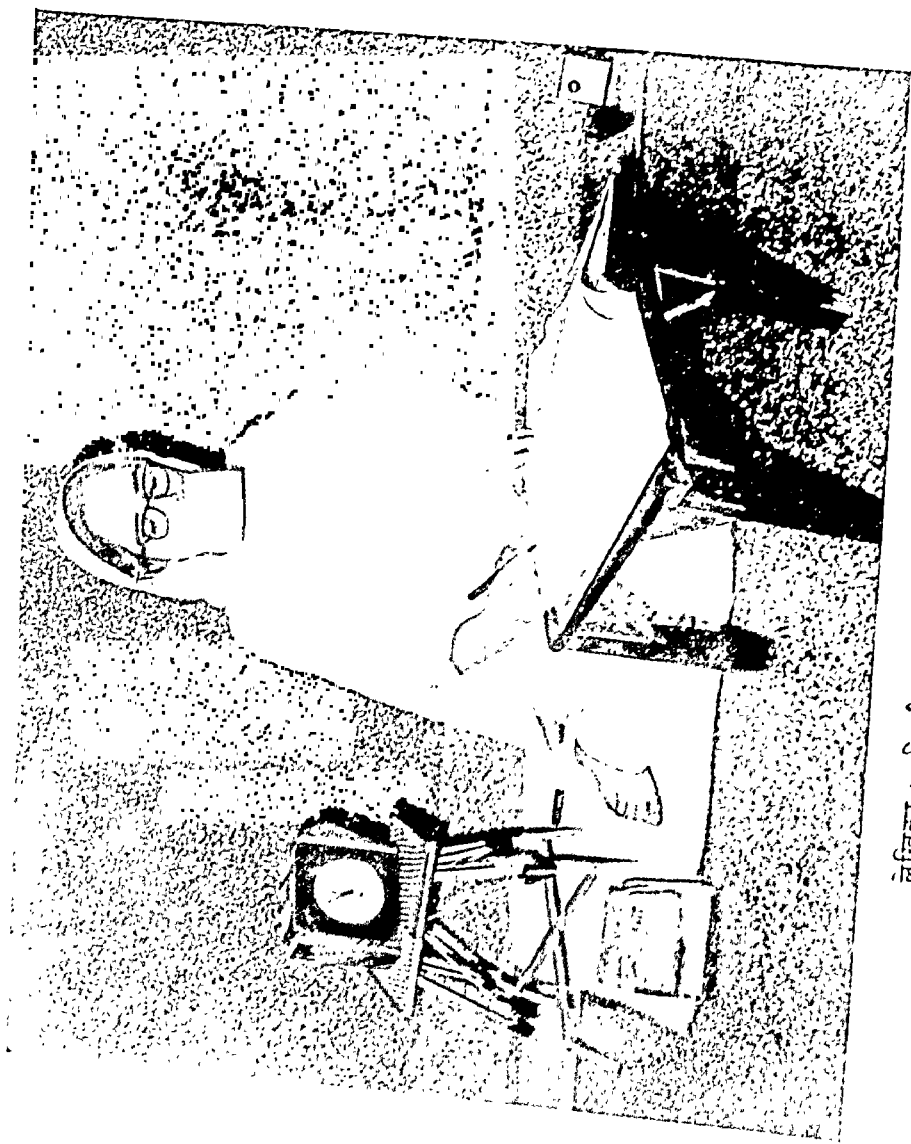
लेखक की कलम से

सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते न परतो नृणाम् कदा
आमोदो नहि कस्तूर्य्याः शपथेन विभाव्यते ।

--भामिनी विलास

सत्पुरुषों के सद्गुण स्वयं ही प्रकाशमान होते हैं,बल्कि दूसरों के प्रकाश से नहीं, जैसे कि कस्तूरी की सुगन्ध शपथ दिलाकर नहीं बताई जाती, अर्थात् कस्तूरी की खुशबू स्वतः प्रकट होती है ।

"मुश्क आनस्त कि खुद बगोयद
न कि अतार बगोयद ।।"

अर्थात्—खुश्बू स्वयं अपना परिचय दे देती है, गंधी के कहने से नहीं ।

इसी प्रकार महापुरुषों का जीवन भी सद्गुण एवं सदाचार रूपी कस्तूरी की महक प्रदान करने वाला होता है । साधना के उत्तुंग शिखर तक पहुँचने के लिए कई साधक व साधिकाएँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप की मशालें लेकर अज्ञानान्धकार को विच्छिन्न करने के लिए कटिबद्ध होकर चलते हैं । वे मार्ग में आने वाले कष्टों की तनिक भी परवाह न करते हुए, मुस्कराते हुए

और आगे कदम बढाते हुए अपनी मजिल पार कर लेते हैं।

भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल इतिहास के पन्नो पर ऐसे अनेक महापुरुष एव शीलसम्पन्न पुरुषो और नारियो के नाम अकित है। जिन्होने सुख दु ख, मान-अपमान की परवाह किए बिना सदा अपनी मजिल की ओर चरण बढाये है। किन-किन के नाम गिनाऊँ ? सीता, दमयन्ती, कुन्ती, चन्दनबाला, राजीमती, ब्राह्मी सुन्दरी आदि महासतियो का नाम प्रतिदिन प्रात काल क्यो लिया जाता है ? कारण यह है कि शील एव सदाचार के प्रभाव ने ही तो उन्हे प्रात स्मरणीया बनाया है।

भारतीय सस्कृति की महान् साध्वी परम्परा मे महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज का जीवन भी उच्चकोटि का है। आप आदर्श शीलसम्पन्नना की साक्षात्मूर्ति हैं। आपके जीवन मे सहिष्णुता-ममता-मधुरता-सरसता विशिष्ट रूप से पाई जाती है। आप स्पष्ट और निर्भीकवक्ता है। सत्य के पक्ष मे सुदृढता से अडी रहती हैं हिमालय की भाति।

महासती जी के जीवन मे बडप्पन या उपाधि की लालसा नही है। इनके हृदय मे गरीबो के प्रति सवेदना और कष्टो मे पीडित व्यक्तियो को सहायता पहुँचाने की उदारता विशेष रूप से पाई जाती है।

इनके जीवन की एक प्रमुख विशेषता है, प्राप्त परिस्थितियो के अनुसार समझौता। इसीलिए यह किसी भी बात का मन पर परिणाम नही होने देते।

महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज ने ८० वर्ष के दीर्घ जीवन मे जो ज्ञान की आराधना की, जो महान् सयम व तप की साधना की है, उन कार्यों का विवरण लिपिबद्ध करना बहुत कठिन है। ७० वर्ष की सयमसाधना मे सलग्न रह कर, इन्होने

सेवा के कई महनीय कार्य सम्पन्न किये। कभी भी नाम की कामना ने इन्हें पीड़ित नहीं किया। २६ वर्ष के दीर्घ स्थिरवास के समय में कई वृद्धा एवं रुग्ण साध्वियों की सेवा-शुश्रुपा का भार इन्होंने कन्धों पर उठाया और उनके दीर्घायुष्य के अन्त तक इन्होंने पूरी-पूरी सेवा की। सेवा इनके जीवन की अनूठी आभा है।

नारी जाति के जागरण एवं जीवन उत्कर्ष की तड़प सदैव इनके मन में वनी रही है। इनका जीवन वड़ा क्रान्तिकारी है। साध्वी समाज में सवसे पहले इन्होंने अपने जीवन में सच्ची क्रान्ति उत्पन्न की। क्योंकि सच्चा क्रान्तिकारी पहले अपने जीवन में क्रान्ति लाता है। समाज तो उसका प्रतिविम्व ग्रहण कर ही लेता है, जैसे जलाशय अपने तट पर खड़े वृक्षों का।

आपका व्यक्तित्व महान् एवं उच्चकोटि का है। आपकी वक्तृत्व कला वहुत सुन्दर है। प्राकृत-संस्कृत-उर्दू-हिन्दी भाषा पर विशेप रूप से आपका अधिकार रहा है। तरुणावस्था जैसे मधुर स्वर में अव भी आप जव मृदुल संगीत सुनाती हैं, तो श्रोता आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। भले ही वृद्धावस्था के कारण अव आप किसी कार्य में सहयोग कम दे पाती हैं ,परन्तु मन से तो आप आज भी सवका साथ देती हैं।

महासती जी ने अपने चरित्र तथा सारगर्भित उपदेशों से समाज को ऐसे अनेक अमूल्य मोती दिये हैं,जिनसे समाज चिरकाल तक समृद्ध रहेगा। आपने मानव सेवा, गौसेवा, मूकजीव दया आदि पुनीत कार्यों का दृढ़ व्रत लेकर पंजाव-राजस्थान-उत्तर प्रदेश व भारत के अनेक प्रदेशों की पदयात्रा की है। अवोध सुप्त समाज को महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज ने जो सन्मार्ग दिखाया है उससे समाज उऋण नहीं हो सकता।

आपने अपने जीवन को तप-त्याग व सयम की कसौटी पर कसकर शुद्ध स्वर्ण की भाँति चमका लिया है।

इनके जीवन मे सदैव परोपकार की प्रबल भावना बनी रही।

महासती जी की गुणगरिमा का कहा तक वर्णन करे? क्योंकि उनकी विशेषताओ का वर्णन करने मे लेखनी असमर्थ है हमारे असीम पुण्योदय का अवसर है कि 'देहली जैन महिला सघ' की प्रेरणा ने हमे प्रोत्साहित किया कि महासती जी के गुण कीर्त्तन का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। हमने हृदयस्थ भक्ति भावना को पुस्तक के कुछ पृष्ठो पर अकित कर पाठको के सन्मुख रखने का प्रयास किया है। महासती जी महाराज के गुण गौरव को तो जीवन के गम्भीर अध्ययन से जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस पुनीत कार्य मे उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी महाराज का मार्गदर्शन एव श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' का अथक सहयोग मिला है, वस्तुत यह पुस्तक उनके सहयोग का ही सुफल है। हम उनके प्रति विशेष आभार प्रकट करती है। अन्त मे अपने सुज्ञ पाठको से अनुरोध है कि 'साधना पथ की अमर साधिका' नामक भव्य स्मारिका पढकर अपने जीवन को सफल बनाएं।

—साध्वी सरला
—साध्वी चन्दना

सम्पादकीय

जिन्दगी केवल न जीने का बहाना,
जिन्दगी केवल न सांसों का खजाना,
जिन्दगी सिन्दूर है पूरब दिशा का
जिन्दगी का काम है सूरज उगाना।

संसार उसी जीवन को नमस्कार करता है, जो सूरज की तरह संसार को प्रकाश देता है। जो नदी प्रवाह की तरह सरसता, फूलों की तरह महक, और फलों की भांति माधुर्य का खजाना लुटाता है, वही जीवन वन्दनीय, वर्ण-नीय एवं अर्चनीय माना जाता है। आदि काल से कवि उसी वर्णनीय जीवन की गौरवगाथा गाता आया है, इतिहासकार की लेखनी उसी जीवन के चरण-चिन्हों पर इतिहास का स्मारक खड़ा करती आयी है, और कलाकार की तूलि ने उसी जीवन को रंगों की छवि में चिरनूतन रूप दिया है।

महासती पन्नादेवी जी का जीवन केवल अस्सी वर्षों की एक कहानी मात्र नहीं है, असंख्य क्षणों का एक प्रवाह मात्र नहीं है, किंतु वह मानवीय गुणों का एक अजर-अमर रूप है, सेवा. समता, करुणा, परोपकार एवं सदाचार निष्ठा का ऐसा रम्य-भव्य पुष्प है जो मानवता

के उपवन मे स्वय महका है और अपनी अम्लान काति एव रम्य सौरभ मे उपवन को महकाया है। इस मानव-पुष्प की अर्चना एव वर्णना करने का जिसने भी प्रयत्न किया, उसका स्वय का जीवन भी धन्य हो गया। कविवर मैथिलीशरण के शब्दो में—

राम, तुम्हारा चरित
स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय
सहज सभाव्य है।

सतो की पवित्र जीवन रेखाओ का आलेखन कर सम्पादक बनना सहज भी है, और सौभाग्यप्रद भी। श्रद्धेय कविवर उपाध्याय श्री जी के असीम अनुग्रह एव महासती सरला जी के सहज स्नेह एव आत्मीय भाव के कारण प्रस्तुत जीवन चरित के सपादन-मुद्रण का अवसर मुझे प्राप्त हुआ, इसे मैंने अपना पुनीत कर्तव्य ही नही, बल्कि सौभाग्य भी समझा है। यह कर्तव्य भावना तक ही सीमित नही रहा, मेरी श्रद्धा का विषय भी बन गया था, इसलिए इसके मूल्याकन के लिए पाठको से अपेक्षा-पूर्वक आग्रह करना उचित नही होगा। जैसी भी ये रेखाएं हैं, मेरी श्रद्धा और भावना की रेखाए है—

साथी! श्रद्धा-सिक्त हृदय की
रेखाओं में बल है।
चाहे, टेढी - मेढी - टूटी
तिरछी और सरल है।

—विनीत
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

भूमिका

मानव सृष्टि के मंगल रथ के दो चक्र हैं—पुरुष और नारी। रथ का एक चक्र दुर्बल अथवा क्षत-विक्षत रहने से जिस प्रकार रथ की गति में अवरोध पैदा हो जाता है, उसी प्रकार मानव सृष्टि का कोई एक चक्र उपेक्षित, दुर्बल व अशक्त रहने से उसकी गति भी लड़खड़ा जाती है। इसलिए भारतीय संस्कृति के अमर चिंतकों ने मानव सृष्टि के इन दोनों अंगों को समान महत्त्व दिया है। उपादेयता एवं उपकारिता में कोई भी अग किसी से कम नहीं है।

वेद, उपनिषद् एवं मूल आगम ग्रंथों के अनुशीलन पर से मेरा यह दृढ़ विश्वास बना है कि नारी भारतीयसंस्कृति एवं सभ्यता की आदि शक्ति रही है। मानव सभ्यता के विकास में ही नहीं, किंतु उसके निर्माण में भी नारी का योगदान पुरुष से कहीं अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

जैन परम्परा के अनुसार आदि युग की प्रथम शिक्षिका भगवती ब्राह्मी ने ही सर्वप्रथम मानव को अक्षरज्ञान का पहला पाठ सिखाया था, और भगवती मरुदेवा ने ही मानव के आध्यात्मिक उत्कर्ष के चरम शिखर मोक्ष का द्वार सर्वप्रथम खोला था। करुणा, कोमलता, सेवा, तितिक्षा, वैराग्य और बलिदान के पथ पर नारी के सुदृढ़ चरण पुरुष से आगे और आगे रहे हैं—यह एक ऐतिहासिक सत्य है। ब्राह्मी, सुन्दरी, मैत्रेयी, मदालसा, सीता राजीमती, विशाखा, सुलसा, चेलणा, चंदना और मृगावती का इतिहास आज

भी शिक्षा, वैराग्य, निनिक्षा, महिष्णुता सेवा और समता की अमर कीर्ति-गाथा बनकर हमे प्रेरणा दे रहा है।

वर्तमान शताब्दी मे स्थानकवासी जैन श्रमणी परम्परा मे महासती पार्वती जी तेजस्विता की प्रतिमूर्ति एव महान श्रमणी हुई है। उन्ही की शिष्या महास्थविरा श्री पन्नादेवीजी त्याग सेवा एव कर्तव्यनिष्ठा की जीती-जागती मूरत है। उनका जीवन ऊर्जस्वल एव तपोमय रहा है। ज्ञान मे क्रियाशीलता एव चरित्र मे विवेकनिष्ठा का अद्भुत समन्वय उनके व्यक्तित्व का महनीय गुण है। मैंने कई बार उनको निकट से देखा है। उनमे क्षत्रियोचित तेजस्विता एव श्रमणोचित समता का अपूर्व सगम हुआ है। शीघ्र निर्णय करने की क्षमता, व्यवहार की मधुरता और विचार-चिंतन की युगानुकूल सचेतनता उनकी विशेषताए है। वे स्वय अध्ययन एव चिंतन की दिशा मे अग्रणी रही हैं, और अपने विशाल शिष्या-परिवार को भी निरन्तर इस ओर गतिशील बनाती रही है। देहली मे अनेक वर्षों से स्थिरवास रहते हुए भी जन-मानस मे उनके प्रति वही श्रद्धा, सत्कार एव आदर की भावना है और यही उनके निष्कलुष, निष्कपट मधुर मानस की सच्ची तस्वीर है।

प्रस्तुत मे उनके गौरवमय एव प्रेरणाप्रद जीवन का आलेखन किया गया है--'साधना पथ की अमरसाधिका' के रूप मे। पुस्तक की पृष्ठभूमि के रूप मे नारी जाति के गौरवमय अतीत की सुन्दर एव प्रशस्त झाकी प्रस्तुत की गई है, जिसे पढते समय पाठक एव पाठिकाए अवश्य ही एक सात्विक गौरव की अनुभूतियो मे खो जाएँगे।

जीवन रेखाओ का द्वितीय खण्ड भी काफी रोचक और प्रवाहमय बन पडा है। सर्वत्र शैली की सुघटना, भाषा की सरसता एव प्रवाह पूर्णता से जीवन चरित्र पाठकों के लिए रोचक एव शिक्षाप्रद सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। प्रवचन खण्ड के प्रवचन, यद्यपि बाद मे सकलित किए गये है, फिर भी श्री महासती जी के विचारों एव भावनाओं का सच्चा प्रतिबिम्ब उनमे झलक रहा है।

मैं आशा करता हूँ महासती पन्नादेवी जी के अस्सीवें जन्मदिवस पर प्रकाश्य यह ग्रन्थ उनके प्रेरणाप्रद जीवन का सच्चा चित्र प्रस्तुत कर अपनी कृतार्थता सिद्ध करेगा।

महासती जी के साधनामय दीर्घजीवन की मंगल कामनाओं के साथ प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता की शुभाशा करता हूँ।

जैन भवन, आगरा
२०-१०-७०

—उपाध्याय अमरमुनि

अनुक्रमणिका

राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-४
२२, अगस्त १९७०

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि महासती पन्नादेवी जी के ८० वें जन्मदिवस पर उन्हें सम्मानित करने का आयोजन किया जा रहा है। उनके जीवन से सदाचार एवं चरित्रनिष्ठा की प्रेरणाएं सब लोग ग्रहण करेंगे—ऐसी आशा की जाती है।

महासती पन्नादेवी जी के जीवन के लिए राष्ट्रपति जी अपनी शुभ कामनाएं भेजते हैं।

खेमराज गुप्त
(राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव)

●

रक्षामन्त्री, भारत
नई दिल्ली
१५-६-७०

साध्वी पन्नादेवी जी की ८० वीं वर्षगाँठ पर आयोजित अभिनन्दन समारोह के अवसर पर उनकी जीवन स्मारिका का प्रकाशन हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता !

उनकी समाज सेवाएं तथा नारी जाति के उत्थान के लिए किये गये प्रयत्नो से सबको प्रेरणाए मिलेगी !

आयोजन की सफलता के लिए शुभ कामनाएं ।

—जगजीवनराम
(रक्षामन्त्री, भारत सरकार)

अखिल भारतीय
कांग्रेस कमेटी

७, जंतर मंतर रोड,
नई देहली,
१२-१०-७०

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ४ नवम्बर १९७० को पुण्यश्लोका साध्वी पन्नादेवी जी की ८० वीं वर्षगांठ पर 'साधना पथ की अमर साधिका' नामक स्मारिका प्रकाशित हो रही है।

विश्व के आज सभी देश भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर हैं और उनमें एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लगी हुई है। इस होड़ में मानवता के प्रति पूर्णतया उपेक्षा बरती जा रही है और हिंसा एवं संहारात्मक युद्धों का खतरा बढ़ता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में जैन मत की साधिका महासती पन्नादेवी जी का जीवन हर मनुष्य के लिए विशेषतया नारी जाति के लिए, अपने जीवन और व्यवहार में अहिंसा और त्याग की भावना को सर्वोपरि स्थान देने के लिए एक प्रेरणा का स्रोत है। इस मार्ग को अपनाकर ही विश्वबन्धुत्व व मानवता की भावना और राष्ट्र-प्रेम को बल मिल सकता है।

मुझे आशा है कि आपका यह प्रकाशन सत्य, अहिंसा और त्याग-भाव का संदेश जनसाधारण तक पहुँचाने में सफल होगा।

सि० निजलिंगप्पा

(सिद्धवनहल्ली निजलिंगप्पा)

मुख्य कार्यकारी पार्षद,

दिल्ली प्रशासन २५-६-७०

यह जानकर हर्ष हुआ कि साध्वी पन्नादेवी जी की ८० वी वर्षगाठ के अवसर पर "साधना पथ की अमर साधिका" नामक स्मारिका प्रकाशित की जा रही है, जिसमे नारी जागरण के हेतु किये गये प्रयासो का सकलन किया जायेगा।

इस मगलमय भूमि भारत का इतिहास ही साधना, त्याग, तपस्या और बलिदान से भरा हुआ है। कितने ही साधक, तपस्वी, ऋषि और मुनि इस धरती पर समय-समय पर अवतरित होते रहे है। आज भी लोकमानस उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। मेरी हार्दिक शुभकामनाए ·

विजयकुमार मलहोत्रा
दिल्ली प्रशासन

नगर प्रमुख
आगरा

४/६ करीम लॉज
सिविल लाइन्स, आगरा-२
२८-८-७०

महास्थविरा साध्वी पन्नादेवी भारत की उन महान् विभूतियों में से हैं जिनका जीवन कठोर साधना एव महान् समाज-सेवा का जागृत प्रतीक है। महासती जी ने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही संसार के सुख, भोग और वैभव को त्याग कर वलिदान के पथ पर जीवन को चलाने का संकल्प किया और आज वे सारे देश के लिए आदर्श, त्याग, सेवा और पवित्र व्रत का प्रकाश-स्तम्भ वनी हुई हैं। उनकी कीर्ति सभी को मार्गदर्शन करती रहेगी।

उनके ८० वें जन्मदिवस पर उनके स्वास्थ्य और सफलता के लिये मेरी शुभकामनायें सादर सर्मपित हैं।

—रामवाबू वर्मा।

डा० रामकुमार वर्मा
एम० ए० पी-एच डी०
इलाहवाद यूनीवर्सिटी

साकेत
इलाहवाद
४-९-७०

महासती पन्नादेवी जी की साधना इस युग में अध्यात्म क्षेत्र की वहुत वड़ी उपलब्धि है। उनका तपोमय जीवन वास्तव में ऐसी ज्योति-शिखा है, जिससे वासना के शलभ तो जलेंगे ही, कल्याणमार्ग पर दिव्य प्रकाश भी पड़ेगा।

उनके श्री चरणों में मेरे शतशः प्रणाम।

(डा०) रामकुमार वर्मा

अखिल भारतीय दिल्ली-७

सस्कृत साहित्य सम्मेलनम् ७-१०-७०

पुण्यश्लोका साध्वी पन्नादेवी जी ने वास्तव मे नारी जागरण मे जो योगदान दिया है, वह प्रशसनीय है। ८० वर्ष के दीर्घजीवन मे उन्होने अपनी त्याग, तपस्या और सेवा से मानव कल्याण के लिए भारत के अनेक प्रदेशो मे पदयात्रा कर एक अनुपम आदर्श स्थापित किया है। आपकी तितिक्षा, सत्य-निष्ठा, अविचल श्रद्धा अनुकरणीय है। आपने १० वर्ष की अवस्था मे ही जैनसाध्वी का दीक्षाव्रत ग्रहण कर तपस्या और सयम की चरम सीमा का प्रदर्शन किया।

मैं उनके जन्मदिन के शुभ अवसर पर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि उनकी छत्रछाया चिरकाल तक भारतीय सस्कृति का मार्ग दर्शन करती रहे।

(डा०) गोस्वामी गिरिधारीलाल
महामंत्री

●

केशव कुंज, बम्बई
२६-८-७०

महास्थविरा साध्वी पन्नादेवी जी महाराज का जीवन प्रकाशित किया जा रहा है, यह बडी खुशी की बात है।

सन्यासियो के मार्ग मे जैन-सन्यास अति कठिन है। जैन सन्यास-अर्थात् श्रमण धर्म—एक आदर्श और उच्चकोटि का जीवन है।

आपने आदर्श जैन श्रमणी का जीवन प्रकाशित करने का विचार किया, यह बहुत ही स्तुत्य है। पुस्तके कितनी ही पढी जायें, लेकिन जीवन चरित्र से जो प्रेरणा मिलती है, वह अन्य मार्ग से नही मिल सकती। पूज्य साध्वी जी का त्यागमय आदर्श जीवन दीर्घायु व सुखमय हो, यही प्रार्थना है।

—दुर्लभजी भाई के० खेताणी

सस्ता साहित्य मंडल

दिल्ली, २०-८-७०

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि विदुषी साधिका पन्नादेवी जी ४ नवम्बर को अपने कृतार्थ जीवन के ७९ वर्ष पूर्ण करके ८० वें वर्ष में पदार्पण कर रही हैं और उनके जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में दिल्ली की जैन महिला समिति एक ग्रंथ प्रकाशित कर रही हैं। मैं इस मंगल अवसर पर परम आदरणीया साध्वी जी का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और प्रभु से कामना करता हूँ कि वह दीर्घायु हों और उनकी साधना अखंड गति से दीर्घ-काल तक चलती रहे।

इस संसार में मानव जीवन दुर्लभ माना गया है, लेकिन हममें से अधिकांश व्यक्ति बिना किसी ऊंचे उद्देश्य को सामने रक्खे अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जिन्होंने नर-तन पाकर आत्मिक उन्नति तथा दूसरों की भलाई नहीं की, उनका जीवन अकारथ गया।

सौभाग्य से हमारे बीच कुछ ऐसी महान् आत्माएं आज भी विद्यमान हैं,जो अपनी कथनी और करनी से हमारे सम्मुख ऊंचा आदर्श प्रस्तुत करती हैं। महासती पन्नादेवी जी उन्हीं में से एक हैं। उन्होंने अपने त्यागी, संयमी तथा परोपकारमय जीवन से समाज को जो दिया है, वह वास्तव में अभूतपूर्व है।

उनका वरदहस्त हम पर बहुत समय तक बना रहे, ऐसी मेरी आंतरिक कामना है।

—यशपाल जैन

खण्ड : १

श्रमण संस्कृति के अंचल में नारी का गौरवमय अतीत

नारी ! तुम शक्ति महान् !
आदि शक्ति तुम सकल सृष्टि की,
मानवता की त्राण !
जननी, भगिनी, सह्-धर्मिणी,
कन्या, कुल की शान !
समय-समय पर दिया मनुज को,
ज्ञान-शक्ति का दान !
नारी ! तुम शक्ति महान् !

—'सरस'

रेखांकन :

१ | आर्यसंस्कृति की दो धाराएं

जीवन की पवित्रता तथा चिन्तन की श्रेष्ठता की दृष्टि से आर्यसंस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में प्रथम श्रेणी की संस्कृति है। आर्य संस्कृति ने जीवन के भौतिक पक्ष को जितना समर्थ, सशक्त एवं व्यापक रूप प्रदान किया है, उतना ही उसके आध्यात्मिक पक्ष को उदात्त, प्राणवान एवं प्रोज्ज्वल बनाया है। आर्यसंस्कृति के मूल पुरुषों ने जीवन के आन्तरिक पक्ष को सदा पवित्र, उज्ज्वल, ऊर्जस्विल एवं आनन्दमय रूप में देखा है, और उस रूप को ही वरेण्य मानकर सदा उस ओर गतिशील रहे है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन के भौतिक या वाह्यपक्ष को उपेक्षित कर दिया गया हो, आन्तरिक पवित्रता के साथ-साथ वाह्य-जीवन की सुन्दरता, रमणीयता, श्रेष्ठता एवं आनन्दशीलता का भी उन्होंने सदा आदर किया है, जीवन को उस रूप में ढालने का प्रयत्न किया है। आर्यसंस्कृति की अपनी यही एक मौलिक विशेषता है, उसकी शाश्वत श्रेष्ठता का मूल आधार है, कि वह जीवन के दोनों पक्षों को, अन्तर वाह्य को, अध्यात्म एवं भौतिक रूप को, सदा समुन्नत, सचेतन एवं संतुलित रखने में सतत जागरूक रही है।

सभ्यता एव सस्कृति के आदिकाल मे जब आर्यपुरुषो ने जीवन की आनन्द यात्रा प्रारभ की, तो उन्होने पहला उद्घोष किया—

शं नः पुरंधीः शमु सन्तु रायः[1]

हमारी बुद्धि और सपत्ति सब के शाति एव आनन्द के लिए हो। अपने साथियो को कर्त्तव्य का आह्वान करते हुए उन्होने जीवन की ऊर्ध्वमुखी दृष्टि को जागृत किया—**ऊर्ध्व नो अध्वर कृतम्**[2]—हमारे सभी कर्त्तव्य-कर्म ऊर्ध्व-मुखी बनते जायें। जीवन की इस पवित्रता एव शाति के अभियान मे न केवल अपने साथी पुरुषो को, अपितु प्रकृति को भी साथी के रूप मे आह्वान किया गया—

"आ वात, वाहि भेषज, वि वात वाहि यद् रपः[3]

"हे पवन! तू हमे सुख, शाति एव आरोग्य प्रदान कर! हमारे समस्त पाप विकारो को दूर करदे।"

आर्यवाङ्मय के ये मूलवचन निस्सदेह जीवन की भौतिक शान्ति एव समृद्धि के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष एव श्रेष्ठता के प्रकाश स्रोत रहे है।

यह कहना कि ऋग्वेद मे सिर्फ वैदिक ऋषियो के ही चिन्तन सूत्र हैं, आज के सास्कृतिक इतिहासकार को मान्य नही है। मूलत वेदो की जीवन दृष्टि, आर्यजीवन की दृष्टि है, आर्यावर्त के प्रज्ञा पुरुषो के चिन्तन का नवनीत है। आगे चलकर जिस आर्यसस्कृति की धारा ने वैदिक एव श्रमणसस्कृति के रूप मे अपना मार्ग बनाया, उसका उत्स मूलत आर्यचिन्तन है, और वह जीवन के उभय पक्षो को समान रूप से समुन्नत एव समृद्ध बनाने की दिशा दे रहा है।

दो धाराएं

जीवन की इस उभय पक्ष-प्रधान दृष्टि मे जब भौतिक एव बाह्य सुख, शाति एव समृद्धि का आग्रह बढने लगा तो उसमे प्रकृति-उपासना, यज्ञकर्म,

---

१ ऋग्वेद ७।३५।२, २ वही ७।२।७, ३ वही १०।१३७।३।

युद्ध एवं समाज संघटना आदि तत्व प्रबल हो उठे, और आध्यात्मिक पवित्रता, अनासक्ति, मैत्री, करुणा, निर्वेद और वैराग्य के अर्थ धुंधले पड़ने लग गये। जिन आर्यचिन्तकों ने आध्यत्मिक पवित्रता एवं अनासक्ति तथा वैराग्य को जीवन का मूलध्रुव बनाए रखा, उनकी दृष्टि बाह्य की उपेक्षा करने लगी और इस प्रकार आर्य-संस्कृति की दो धाराएं स्पष्टतः परिलक्षित होने लगी। एक आध्यात्म को केन्द्र मानकर चलने वाली श्रमण संस्कृति, तथा दूसरी जीवन के भौतिक पक्ष को प्रधानता देकर आगे बढ़ने वाली वैदिक संस्कृति !

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति के विभाजन को मैं मूलतः जीवन के दृष्टिकोण का विभाजन मानती हूँ। श्रमण संस्कृति ने जीवन के आध्यात्मिक चिन्तन को जहाँ चरम उत्कर्ष पर पहुँचाया है, वहाँ वैदिक संस्कृति ने भौतिक जीवन को मधुर, समृद्ध एवं सामाजिकता के एकसूत्र में आवद्ध कर आध्यात्मिक साधना की सुन्दर पृष्ठ भूमि तैयार करने का महनीय कार्य किया है। दोनों संस्कृतियों के इस रहस्य को प्रसिद्ध मनीषी आचार्य हरिभद्र ने अपने शब्दों में समन्वय देते हुए यों व्यक्त किया है—

"वैदिको व्यवहर्तव्यः कर्तव्यो पुनराहतः।"

आर्य संस्कृति की इन धाराओं को मैं जीवन-यात्रा की विभाजक धाराए नहीं मानती, किंतु परस्पर पूरक धाराएं मानती हूँ। दोनों में भेद नहीं, अभेद हैं, पूरकता का भाव है। यदि हम आज इस पूरक भाव को समझकर स्वीकारने का प्रयत्न करें तो ब्राह्मण-श्रमण की दूरी कम हो सकती है, ज्ञान और कर्म निकट आ सकते हैं, भारतीयों के हृदय पुनः एक सूत्र में आवद्ध हो सकते हैं और जीवन की भौतिक समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक समृद्धि का मंगल द्वार भी हमारे समक्ष खुल सकता है।

२ श्रमणसंस्कृति की धुरा : आत्म-चेतना

श्रमण संस्कृति में आर्यजाति का मूल चिन्तन आज भी सुरक्षित एवं संपोषित हो रहा है। यह हम बता चुके हैं कि श्रमण संस्कृति के चिन्तन की धुरा, बाह्य जगत नहीं, अन्तर जगत रहा है, भौतिक नहीं, अध्यात्म ही उसका केन्द्र रहा है। वह अनादिकाल से आत्म-चेतना के परिपार्श्व में ही अपना अनन्त विस्तार करती रही है।

श्रमण का शाब्दिक परिचय भी उसकी अन्तर्मुखी चेतना का द्योतक है। आचार्यों ने श्रमण के विभिन्न अर्थ किये हैं—

१. श्रम अर्थात् तपस्या, कठोर तप साधना करने वाला साधक श्रमण कहलाता है।

२. श्रमण अर्थात् सम-मन, समता में रमा हुआ मन हो जिसका, वह समत्व भाव का परम उपासक श्रमण कहलाता है।

३. श्रमण का प्राकृत रूप होता है सुमन—भद्रमन। जिसका मन प्राणिमात्र के मंगल एवं सुख की कामना में सदा लीन रहे वह सु-मन—श्रमण।

इस प्रकार 'श्रमण' शब्द की ध्वनियों में श्रमण संस्कृति की आत्मा मुखरित हो रही है। उसका उदात्त जीवनदर्शन, आत्मोन्मुखी दृष्टि और लोक कल्याणकारी चिन्तन का असली स्वरूप 'श्रमण' शब्द में छिपा हुआ है। बस, यही श्रमण संस्कृति की ऊर्ध्वमुखी आत्म-चेतना है।

श्रमण संस्कृति का ध्रुव विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी में एक अखण्ड आत्म-चेतना परिव्याप्त है, कीड़ी और कुंजर में एक समान आत्मा है। आत्मा का जो स्वरूप एक अधमातिधम नरकीट, या नैरयिक के अन्दर है, वही स्वरूप एक परम विशुद्ध सिद्ध आत्मा का भी है।

ज्ञान-दर्शन-उपयोगात्मक जो चेतना जीव में है, वही चेतना जिन में भी है, इसलिए स्वरूप दृष्टि से समस्त प्राणि-चेतना में अखण्ड एकसूत्रता की अनुभूति करते हुए श्रमण-संस्कृति के उद्घोषकों ने कहा है—**"एगे आया"**[१] आत्मा एक है। **"हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे"**[२] हस्ती और कुंथुआ में जीव-चेतना एक समान है। और इसलिए प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक प्राणी का बन्धु है, मित्र है, **"मेत्ति मे सव्वभूएसु"**[3] सब प्राणियों के साथ मेरी अखण्ड मैत्री है, आत्मतुल्यता है।

प्राणीमात्र में एक समान आत्मचेतना का स्वीकरण श्रमण संस्कृति की धुरा है, उसके चिन्तन-मनन दर्शन की आधारशिला है। इसी धारणा के आधार पर उसके तीन मूल सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—

१. आत्म-साधना, आत्म-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी को समान अधिकार है, इसलिए उनमें वर्ण, जाति, लिंग, वय आदि किसी भी प्रकार का भेद अतात्त्विक है। अतः जन्म, जाति, पद, लिंग आदि की दृष्टि से न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन।

२. प्रत्येक प्राणी में अपने समान ही चेतना है, आत्मा है, अनुभूति एवं संवेदना है, इसलिए किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहिए, उत्पीडित नहीं करना चाहिए।

---

१. स्थानांगसूत्र १, २. भगवतीसूत्र ७।८, ३. आवश्यकसूत्र।

२ | श्रमणसंस्कृति की धुरा : आत्म-चेतना

श्रमण संस्कृति में आर्यजाति का मूल चिन्तन आज भी सुरक्षित एवं संपोषित हो रहा है। यह हम बता चुके है कि श्रमण संस्कृति के चिन्तन की धुरा, बाह्य जगत नही, अन्तर जगत रहा है, भौतिक नही, अध्यात्म ही उसका केन्द्र रहा है। वह अनादिकाल से आत्म-चेतना के परिपार्श्व मे ही अपना अनन्त विस्तार करती रही है।

श्रमण का शाब्दिक परिचय भी उसकी अन्तर्मुखी चेतना का द्योतक है। आचार्यों ने श्रमण के विभिन्न अर्थ किये हैं—

१. श्रम अर्थात् तपस्या, कठोर तप साधना करने वाला साधक श्रमण कहलाता है।

२ श्रमण अर्थात् सम-मन, समता मे रमा हुआ मन हो जिसका, वह समत्व भाव का परम उपासक श्रमण कहलाता है।

३. श्रमण का प्राकृत रूप होता है सुमन—भद्रमन। जिसका मन प्राणिमात्र के मंगल एवं सुख की कामना मे सदा लीन रहे वह सु-मन—श्रमण।

इस प्रकार 'श्रमण' शब्द की ध्वनियों में श्रमण संस्कृति की आत्मा मुखरित हो रही है। उसका उदात्त जीवनदर्शन, आत्मोन्मुखी दृष्टि और लोक कल्याण-कारी चिन्तन का असली स्वरूप 'श्रमण' शब्द में छिपा हुआ है। बस, यही श्रमण संस्कृति की ऊर्ध्वमुखी आत्म-चेतना है।

श्रमण संस्कृति का ध्रुव विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी में एक अखण्ड आत्म-चेतना परिव्याप्त है, कीड़ी और कुंजर में एक समान आत्मा है। आत्मा का जो स्वरूप एक अधमातिधम नरकीट, या नैरयिक के अन्दर है, वही स्वरूप एक परम विशुद्ध सिद्ध आत्मा का भी है।

ज्ञान-दर्शन-उपयोगात्मक जो चेतना जीव में है, वही चेतना जिन में भी है, इसलिए स्वरूप दृष्टि से समस्त प्राणि-चेतना में अखण्ड एकसूत्रता की अनुभूति करते हुए श्रमण-संस्कृति के उद्घोषकों ने कहा है—**"एगे आया"**[1] आत्मा एक है। **"हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे"**[2] हस्ती और कुंथुआ में जीव-चेतना एक समान है। और इसलिए प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक प्राणी का बन्धु है, मित्र है, **"मेत्ति मे सव्वभूएसु"**[3] सब प्राणियों के साथ मेरी अखण्ड मैत्री है, आत्मतुल्यता है।

प्राणीमात्र में एक समान आत्मचेतना का स्वीकरण श्रमण संस्कृति की धुरा है, उसके चिन्तन-मनन दर्शन की आधारशिला है। इसी धारणा के आधार पर उसके तीन मूल सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—

१. आत्म-साधना, आत्म-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी को समान अधिकार है, इसलिए उनमें वर्ण, जाति, लिंग, वय आदि किसी भी प्रकार का भेद अतात्त्विक है। अतः जन्म, जाति, पद, लिंग आदि की दृष्टि से न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन।

२. प्रत्येक प्राणी में अपने समान ही चेतना है, आत्मा है, अनुभूति एवं संवेदना है, इसलिए किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहिए, उत्पीडित नहीं करना चाहिए।

---

१. स्थानांगसूत्र १, २. भगवतीसूत्र ७।८, ३. आवश्यकसूत्र।

३ जो प्राणी अपनी शाति, समृद्धि एव आनद की कामना करता है, उसे उसी रूप मे दूसरो की शाति, समृद्धि एव आनन्द की कामना करनी चाहिए।"

"समाहिकारए ण तमेव समाहि पडिलब्भइ"[१] समाधि (सुख-शांति) देने वाला अवश्य ही समाधि पाता है—यह श्रमण सस्कृति का सगान है।

इस प्रकार हम देखते हैं, श्रमण सस्कृति ने प्राणिमात्र के बीच अभेद दृष्टि, समत्व बुद्धि एव मैत्रीसस्कार का अमरसूत्र जोडने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक प्राणी को आत्म-विकास एव जीवन अभ्युदय का समान अवसर प्राप्त हो, समान अधिकार प्राप्त हो, यह श्रमणसस्कृति की समानता का महान उद्घोष है, जो आज अगणित शताब्दियां बीत जाने पर भी प्रखरता के साथ अपना स्वर मुखरित कर रहा है।

मानव-चिन्तन ने आज तक अनेक करवटें ली है। अपने बुद्धिबल से विकास के क्षितिज को स्पर्श करता रहा है। उसमे अपनी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता एव महानता का गौरव जगा, किन्तु दुर्भाग्य से उस गौरव की मधुरता मे अहकार की जहरीली गध समा गयी। वह अपनी महानता के अहकार मे उद्धत हो गया। दूसरे प्राणियों को अपने से तुच्छ, निकृष्ट एव पामर समझने लगा। अपने स्वार्थ एव आनन्द के लिए उन्हे उत्पीडित कर कुचलने लगा। उसके अहकार की चरम सीमा तो यहा तक पहुँच गयी कि अपने जीवन की अखड सहयोगिनी नारी को भी उसने अपने से हीन समझ लिया। उसके मातृत्व, पत्नीत्व आदि गौरव-पूर्ण पक्षो को भुलाकर उसे दासी एव अबला के रूप मे हीन दृष्टि से देखने लगा। और आश्चर्य तो यह है कि अपने इस 'अह' को, मिथ्यादर्प को उसने शास्त्र का रूप दे दिया और अन्य क्षुद्र प्राणियों की भाति नारी जाति को भी प्रताडित एव अपमानित करने लगा।

श्रमणसस्कृति प्रारम्भ से ही पुरुष के इस मिथ्यादर्प को ललकारती रही है। उसने प्राणिमात्र को आत्म-सखा, बन्धु एव मित्र दृष्टि से देखने की प्रेरणा

---

१ भगवती ७।१।

दी है। नारी को उसने पुरुष की अर्धांगिनी ही नहीं, किन्तु उसकी जननी, जीवनसहायिका एवं उद्‌बोधिका के रूप में भी देखा है। चिन्तकों के कुछ क्षुद्र हृदयों ने जहां धर्म-साधना, शास्त्र-स्वाध्याय एवं मोक्ष का अधिकार अपने कब्जे में रखने के लिए प्रकल्पित शास्त्रों का निर्माण किया, वहां श्रमण-संस्कृति एक स्वर से उसे पुरुष के समान धर्मसाधिका के सिंहासन पर आसीन कर नारी के देव-दुर्लभ गौरव का उद्‌गान करती आई है।

अगले प्रकरणों में हम श्रमणसंस्कृति के इसी दिव्यरूप की एक भव्य झांकी देखेंगे—जहां नारी ने जीवन के तमसिल भागों में आलोक जगमगाकर संसार को प्रकाशमय बनाया है।

३ श्रमणसंस्कृति में नारी का आध्यात्मिक उत्कर्ष

श्री, ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, निधि, ह्री, धृति, कीर्ति, शक्ति, सरस्वती, बुद्धि आदि शब्दो पर जरा गहराई मे सोचिए, व्याकरण की दृष्टि मे इन्हे 'स्त्रीलिंग' क्यो बनाया गया है ? क्या शब्दशास्त्री पुरुषो को इनके वाचक पुल्लिंग शब्द नही मिले थे ?

इसका उत्तर खोजने पर स्पष्ट होता है कि *शब्दशास्त्र या व्याकरण, शब्दो* का निर्माण नही करते, केवल शब्दो को सिद्ध करते हैं। शब्दो का निर्माण होता है लोक-जीवन मे। लोकहृदय से ही शब्दो की प्रसूति होती है। अतः लोकहृदय मे जब स्त्री को शक्ति रूप मे प्रतिष्ठा मिली, तो उसने जीवन की समस्त दिव्य विभूतियो का आधान भी उसी नारी शक्ति मे किया। पुरुष के पराक्रम ने भले ही सर्वत्र अपना प्रभुत्व जमाया हो, किंतु स्त्री शक्ति के समक्ष उसका पौरुष भी सदा विनत होता रहा है। पुरुष आदि काल से ही नारी की

चरण धूलि सिर पर चढाकर अपने को कृतार्थ मानता आया है। उपर्युक्त शब्दों की वैयाकरणी-विवेचना में भी यही बात स्पष्ट हो रही है।

श्रमणसंस्कृति, जिसका एक महान् प्रवाह आज जैनसंस्कृति के रूप में प्रवाहित हो रहा है, नारी शक्ति की दिव्यता एव अलौकिकता का सदा सन्मान करती रही है।

आध्यात्मिक उत्कर्ष

आत्मा की दृष्टि से श्रमणसंस्कृति ने नारी और पुरुष में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना है। आध्यात्मिक उत्कर्ष में भी जहां तक पुरुष का प्रवेश है, वहीं तक नारी भी पहुँच सकती है, पहुँचती रही है। आध्यात्मिकता का चरम लक्ष्य आत्म-विकास की श्रेष्ठतम स्थिति मोक्ष है। मोक्ष, आत्मा का परम विशुद्ध एव संपूर्ण विकसित रूप है। मोक्ष के द्वार तक पुरुष भी पहुँचा है, और नारी भी पहुँची है। कहीं-कहीं ऐसे भी उदाहरण मिलते है, जब पुरुष से भी आगे नारी मुक्ति की मंजिल पर पहुँची है। इस अवसर्पिणीकाल में सर्वप्रथम एक प्रबुद्ध नारी माता मरुदेवा ने ही मुक्ति के द्वार खोले और वही युग की प्रथमसिद्ध बनी। आत्म-साधना के क्षेत्र में पुरुषों की अपेक्षा नारियां अधिक संख्या में एवं अधिक उत्साह के साथ आगे बढती रही हैं। जैनश्रुतियां इसका साक्ष्य देती हैं कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन तक में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की तथा श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या अधिक रही है। स्त्री स्वभावतः ही धर्मप्रिय, करुणाशील एवं सहिष्णु होती है। धार्मिकसाधना में उसकी रुचि तीव्र होती है, तपस्या एवं कष्टसहिष्णुता में भी वह पुरुष से आगे रहती है। जैनशास्त्रों में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण आते हैं जब किसी तीर्थंकर, केवली या आचार्य आदि की एक ही देशना से हजारों-हजार स्त्रियाँ एक साथ प्रबुद्ध हो उठती हैं और वे एक साथ ही अपने समस्त भोग ऐश्वर्य एवं सुखों का परित्याग कर रमणी से श्रमणी बन जाती है। अन्तगड़ सूत्र में वासुदेव श्रीकृष्ण की रानियों की चर्चा आती है, जिन्होंने भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन कर धर्म देशना सुनी, और एक

ही प्रवचन मे प्रबुद्ध होकर पद्मावती आदि रानियो ने ससार त्याग कर दीक्षित होने का ऐसा ताता लगाया कि स्वय वासुदेव श्रीकृष्ण स्तभित रह गये। और उन रानियो ने दीक्षा लेकर जिस उदग्र एव कठोर तपश्चरण की आराधना की, उसका तो वर्णन सुनकर आज भी रोमाच हो उठता है।

उन्नीसवे तीर्थंकर भगवती मल्लीनाथ का वर्णन ज्ञातासूत्र के स्वर्णपृष्ठो पर अकित है। नारी भी आध्यात्मिक विभूतियो एव ऋद्धि सिद्धियो की स्वामिनी होकर उसी प्रकार तीर्थंकर पद को विभूषित कर सकती है, जिसप्रकार एक पुरुष, यह भगवतीमल्ली के दिव्य-जीवन से व्यक्त हो जाता है। जब वे प्रव्रजित होती है, तो उनके साथ सहस्रो राजकुमारिया, रानिया, कुटुम्बिनिया भी अपने-अपने सरक्षको की अनुमति लेकर प्रव्रज्या के आग्नेय पथ पर साहस के साथ चल पडती है।

भगवान महावीर के युग मे आर्याचन्दनबाला, महासती मृगावती, जयन्ती आदि सहस्रो राजकुमारिया एव रानिया ऐसी आती है जिनके जीवन मे आध्यात्मिक तेज अपनी सपूर्ण प्रखरता के साथ निखर उठता है। चन्दना एव मृगावती का जीवन एक नारी के अचलधैर्य, अटूट साहस, अविचल तितिक्षा एव परम नि सगता की ऐसी लोमहर्षक कहानी है, जिसका दूसरा उदाहरण भारतीय नारी के इतिहास मे नही मिलता।

बौद्ध साहित्य का देदीप्यमान ग्रन्थ थेरीगाथाएँ, जिस पर आज सपूर्ण बौद्ध जगत को गर्व है, उसमे कुछ ऐसी प्रबुद्ध साधिकाओ की चर्चा हैं, जो अपने ज्ञान, वैराग्य, नि सगता एव वीतरागता का अपूर्व आदर्श उपस्थित करती है। उसमे कुछ ही साधिकाओं का यह आदर्श है, जब कि जैन साहित्य के अनेक ग्रन्थ इस प्रकार की सहस्रो वैराग्यमूर्ति, ज्ञाननिधि साध्वियो के उज्ज्वल चरित्र से आज भी जगमग कर रहे हैं।

वैदिक साहित्य[१] मे ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी के उत्कृष्ट त्याग का गौरव-गान बडी तन्मयता के साथ गाया गया है। याज्ञवल्क्य जब वानप्रस्थ की

१- बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।३-४

ओर बढ़ रहे हैं, तो अपनी दो पत्नियां—कात्यायनी एवं मैत्रेयी को धन-संपत्ति का बटवारा करके देते हैं। कात्यायनी उसे प्रसन्नतापूर्वक ले लेती है, किंतु मैत्रेयी ऋषि के समक्ष एक ऐसा दुरूह प्रश्न रखती है, जिसका उत्तर भारतीय साहित्य में आज तक अपूर्व उत्तर रहा है। मैत्रेयी पूछती है—"आप जिस धन को नश्वर समझकर छोड़ रहे हैं, और जिस अविनश्वर की साधना के लिए कदम बढ़ाए जा रहे हैं, उस धन को पाकर क्या मैं अमर हो जाऊंगी ?"

चिन्तन की असीम गहराई में उतर कर ऋषि कहते हैं—"मैत्रेयी ! इस धन से कोई अमर नहीं हो सकता।" तब मैत्रेयी ने गंभीर होकर कहा—"**येनाऽहं नामृता स्याम् किं तेन कुर्याम्**—जिस धन को पाकर मैं अमर नहीं हो सकती, उस धन को लेकर मैं क्या करूं ? मुझे तो वही अमरता का मार्ग चाहिए जिस पर आप स्वयं बढ़ रहे हैं।"

मैत्रेयी का यह ऊर्ध्वमुखी चिन्तन एवं धन के प्रति निस्पृहता वैदिक साहित्य की गौरव-मंडित मणि है। जैन परंपरा के कोषागार में यदि देखा जाये तो न जाने इस प्रकार के ऊर्ध्वमुखी चिन्तन, वैराग्य एवं निस्पृहता की कितनी दिव्यमणियां जगमगारही हैं। भगवान ऋषभदेव की द्वितीय पुत्री सुन्दरी जो उस युग की अद्वितीय सुन्दरी एवं प्रतिभासम्पन्न राजकुमारी थी। जैन अनुश्रुति के आधार पर युगल-परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट् भरत उसके सौन्दर्य पर मुग्ध थे और वे उसे छह खण्ड के सम्राट् की अग्रमहिषी के पद पर आसीन करना चाहते थे। भरत की सौन्दर्य-लिप्सा का रहस्य पाकर सुन्दरी ने तपस्या के द्वारा अपने शरीर को दुर्बल, तपःजर्जर एवं कृश कर डाला। और आखिर में सम्राट के प्रस्ताव को ठुकराकर भगवान ऋषभदेव के चरणों में पहुँची और योग साधना के द्वारा जीवन की कृतार्थता का वरण किया।

उत्तराध्ययन सूत्र[1] में राजा इषुकार और रानी कमलावती का एक रोचक प्रसंग है। राजपुरोहित भृगु अपनी पत्नी एवं दो पुत्रों के साथ संसार

---

१. उत्तराध्ययन, अध्ययन १४।

त्याग कर दीक्षित हो रहे है। अपना अर्जित वैभव एव ऐश्वर्य लोक कल्याण के लिए छोड़ जाते है तो उसे धन लुब्ध राजा इषुकार अपने राजकोष मे रखने का आदेश दे देते हैं। जब पुरोहित की सपत्ति वाहनो पर लाई जा रही है तो रानी कमलावती उसे देखकर चौंक उठती है। महाराज से पूछती है—"महाराज यह धन सपत्ति आज कहाँ से लाकर राजकोष मे भरी जा रही है ?"

राजा मुस्कराकर कहता है—"रानी ! तुम्हे नही मालूम ! अपने राज पुरोहित भृगु अपनी पत्नी और दो पुत्रो के साथ वैरागी बन गये है। वे गृह-त्याग कर दीक्षा ले रहे है। उनके पीछे कोई नही है, अत अस्वामि-धन का स्वामी राजा ही होता है, इस कारण वह सब धन अपने भडार मे आ रहा है।"

राजा की बात सुनकर रानी गभीर हो गई। उसके गुलाबी गालो पर विषाद की कालिमा छा गई और तेजस्वी आँखे सुस्त हो गई। राजा ने रानी की उदासी का कारण पूछा तो एक तडफती हुई आवाज मे उसने कहा—

वंतासी पुरिसो रायं, न सो होई पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं धणं आदाउमिच्छसि ?

—उत्तराध्ययन १४।४०

"महाराज ! किसी का थूका हुआ चाटना अच्छा नही है। जिस धन को नश्वर समझकर ब्राह्मण ने छोड दिया, आप क्षत्रिय होकर उस धन को ग्रहण करना चाहते हैं ?"

मरिहिसि राय ! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि।

—उत्तराध्ययन १४।४१

"महाराज ! इन मनोहर काम भोगो को छोडकर देर-सवेर सभी को मरना है। परलोक मे ये धन, ऐश्वर्य, भोग कोई भी रक्षक नही होंगे, वहाँ तो

केवल एक धर्म ही हमारा रक्षक होगा। त्राता होगा, इसलिए महाराज! आप भी इन भोगों को छोड़कर धर्म की शरण लीजिए।"

रानी कमलावती का यह अध्यात्म-बोध मैत्रेयी की अमरत्व-स्पृहा से भी अधिक उत्कृष्ट चिंतन का प्रतीक है।

निस्सन्देह श्रमण परम्परा में नारी जाति के आध्यात्मिक उत्कर्ष को बड़ी निष्ठा, सचाई एवं उन्मुक्त दृष्टि से चित्रित किया गया है।

नारी : कुशल उपदेशिका
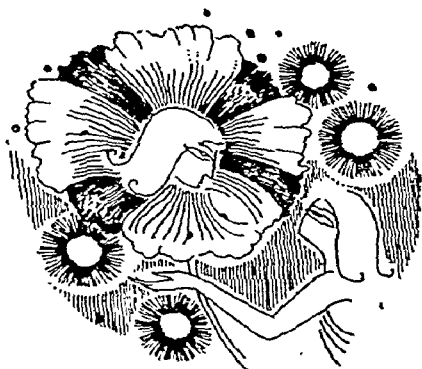
नारी उच्चकोटि की शिक्षिका एव उपदेशिका रही है। उसके उपदेशो मे मधुमक्खी के डक की तरह हृदय की मधुरिमा के साथ-साथ मार्मिकता भी छिपी रहती है, जो पुरुष के हृदय को सीधी स्पर्श कर जाती है। श्रमण सस्कृति ने नारी के इस उच्चआदर्श को पुनरुज्जीवित किया है। इतिहास मे अनेको उदाहरण मिलते है, जो समय-समय पर नारी द्वारा दिए गये उद्बोधनो की चमत्कृति व्यक्त करते है।

भगवान ऋषभदेव के द्वितीयपुत्र महाबली बाहुबली जब तपस्या करते-करते बिना सिद्धिलाभ के एक वर्ष तक जगल मे खडे रहे, तो उन्हे उद्बोधन देने के लिए भगवान ने ब्राह्मी-सुन्दरी को ही भेजा। बाहुबली प्रव्रजित होकर भी भगवान ऋषभदेव की शिष्यमडली मे इसलिए सम्मिलित नही हुए कि वहा उनसे पूर्व प्रव्रजित उनके लघु भाई भी हैं, जिन्हे चरित्र-ज्येष्ठता के नाते वदन करना चाहिए। गृह-मुक्त होकर भी मनके अहकारो से वे मुक्त नही हो सके। ब्राह्मी-सुन्दरी प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर जगल मे गई। उन्होने देखा बाहुबली

अचल हिमाचल की भांति कब से ध्यान लगाए खड़े हैं। उनकी भ्रमर सम कृष्ण-केशराशि किसी वटवृक्ष की जटाओं की भांति भूमि को छू रही थीं। पक्षियों ने जटाओं में घोंसले बनालिए हैं। शरीर पर मिट्टी की परतें यों जम गई हैं, जैसे दीवार पर पपडी जमगई हो। इस उत्कट तपस्या को देखकर दोनों बहनें रोमांचित हो उठीं। "इतनी घोर तपश्चर्या और फिर भी कैवल्य नहीं? सच अहंकार का शिलाखण्ड सिद्धि के द्वार को रोके खड़ा है।" ब्राह्मी सुन्दरी के समवेत स्वर से एक मधुर गीत की झंकार फूटी—

वीरा ! म्हांरा गज थकी ऊतरो,

गज चढ्यां केवल न होसी रे !

संगीत की मधुरिमा व उद्बोधन की मार्मिकता ने बाहुबली के अन्तर् को झकझोर दिया। वे बहनों के परिचित स्वर से सहसा चौंक उठे। "मेरी बहनें-आज मुझे पुकार रही हैं, उद्बोधन दे रही हैं, हाथी से उतरने के लिए? कहाँ है हाथी? मैंने तो राज्य, वैभव, अश्व-गज, रमणी सब कुछ त्याग दिया? क्या इन्हें नहीं मालूम, एक वर्ष से ध्यान लगाए खड़ा हूँ?" बाहुबली बाहर से भीतर की ओर मुड़े। "ओह! बहनें सच कह रही हैं, अहंकार का हाथी जो है, मैं तो साधु बनकर भी उस हाथी पर बैठा हूँ।" बस घोर तपस्वी बाहुबली की अन्तश्चेतना स्फुरित हुई, अहंकार चूर-चूर होने लगा। लघु बन्धुओं को वंदना के लिए जैसे ही उनके स्थिर चरण भूमि से उठे, बस "केवली बाहुबली की जय"—से दिग्मंडल गूँज उठा।

बाहुबली की उद्बोधिका ब्राह्मी सुन्दरी जैन इतिहास की आदि शिक्षिका भी है। भगवान ऋषभदेव ने युग के प्रारंभ में वर्णमाला का प्रथम बोध पाठ-ब्राह्मी को दिया। जिसने समस्त मानवजाति के लिए अक्षर-ज्ञान का द्वार उन्मुक्त किया। ब्राह्मी के द्वारा संप्रवर्तित-लिपि आज भी असंख्य शताब्दियों के बाद उसकी अलौकिक प्रतिभा का अमर स्मारक बनकर 'ब्राह्मी लिपि' के नाम से विश्रुत है।

वैदिक साहित्य के इतिहास में आज कुछ नारियों का नाम बड़े ही गौरव के

साथ लिया जाता है, जिन्होने ऋग्वेद की कुछ ऋचाए लिखी थी। विश्ववारा, अपाला, घोषाकाक्षीवती के नाम से आज भी ऋग्वेद के कुछ सूक्त प्रसिद्ध है।[1] वैदिक ऋचाओ की सर्जिका नारी का गौरव, नारी जाति के लिए गर्व का विषय है, किंतु उसमे भी शतगुन-सहस्रगुन अधिक गौरवशाली घटना यह है कि समस्त वर्णमाला का आदि स्रोत नारी की मेधा के उत्स से प्रवाहित हुआ। और साथ मे यह भी तो एक गौरवपूर्ण तथ्य है कि वर्णमाला की भाति, अकविद्या का आदिस्रोत भी सुन्दरी के द्वारा प्रवाहित किया गया। शिक्षा जगत् मे नारी का अपूर्व योग नारी जाति के गौरवमन्दिर पर स्वर्ण-कलश के समान आज लहरा रहा है।

१ धर्मशास्त्र का इतिहास (डा० पी० वी० काणे) भा० २

५ बलिदान की अमरकीर्ति : नारी

श्रमण संस्कृति ने नारी जाति के आध्यात्मिक उत्कर्ष को ही महत्त्व दिया हो, ऐसी बात नहीं हैं, किंतु उसमें साहस, उदारता एवं बलिदान होने की अमर प्रेरणाएँ भी जागृत की हैं। राजीमती, मृगावती, धारिणी, चेलणा आदि सन्नारियों की ऐसी परम्परा चलती रही है, जिन्होंने अपने आदर्शो की रक्षा के लिए नारी सुलभ सुकुमारता का त्याग कर कठोर साहस, बौद्धिक कौशल एवं आत्म-उत्सर्ग की अदम्य वृत्ति के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

राजीमती जैन संस्कृति एवं साहित्य में एक प्रसिद्ध रसनायिका के रूप में आती है और अन्त में अपने लक्ष्य के लिए जीवन के समस्त भोग-ऐश्वर्य को त्याग कर अमर-प्रणय के महापथ पर चल पड़ती है। जो राजुल दुलहिन बनकर रंगमहल में बैठी प्रियतम नेमिकुमार के लिए पलकें बिछा रही है, जिसका रोम-रोम प्रियतम के स्नेह में उत्कंटित हो रहा है, रंगीन कल्पनाओं में जो अपने भावी प्रियतम की मधुर तस्वीर संजोरही है, वही राजुल जब देखती है कि करुणार्द्र नेमिकुमार बिन व्याहे ही तोरण से लौट गए हैं, और दुलहे का

वेष त्याग कर योगी-साधु का वेष पहन कर गिरनार की ओर चल पड़े है, तो परिणयोत्सुक राजुल राजमहल मे बैठी-बैठी वैरागिन बन जाती है। नश्वर दैहिक प्रणय-बधन को तोडकर आत्मा के अविनश्वर अमर-प्रणय सूत्र से बध कर युग की परम सुन्दरी राजकुमारी यौवन के प्रवेश द्वार पर ही वैराग्य का मार्ग पकडकर चल पडती है। जिस सौन्दर्य-सुधा का पान करने हजारो यदु-कुमारो की प्यासी आँखे तडप रही थी, वह सौन्दर्य-निधि राजुल हजारो राज कुमारियो को वैराग्य का बोध देकर योग के कण्टकपथ पर बढ जाती है।

हिन्दू भक्ति परम्परा मे 'मीरा' का अमरप्रभु-प्रेम आज अद्वितीय माना जाता है। गिरधर के प्रेम मे पगली हो, मीरा ने समाज के समस्त सम्बन्धो का परित्याग कर डाला, और अपूर्व तन्मयता से पुकारने लगी थी—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो नहीं कोई।

जैन सस्कृति की राजुल आज भी अपने अद्वितीय अमर प्रणय के लिए आदर्श है। मीरा, सिर्फ गिरधर की भक्ति मे ही डूबी रही, पर राजुल तो नेमिकुमार की भक्ति मे डूब कर ही नही रही, बल्कि उनके चरण-चिन्हो पर चलकर उन्ही के स्वरूप को प्राप्त कर गई। मीरा भगवान की भक्ति मे जीवन भर भक्त ही बनी रही, राजुल भगवान की भक्ति के प्रवाह मे बही, तो ऐसी बही कि स्वय भगवद्स्वरूप बन गई। इस दृष्टि से राजुल की भक्ति, स्नेहोत्सर्ग मीरा से भी आगे बढ गया है।

राजुल का हृदय एक ओर इतना सुकुमार था कि प्रणय की एक हलकी-सी ठोकर ने उसके समूचे जीवन को बदल डाला तो दूसरी ओर इतना कठोर और साहसी भी था कि अपने जीवन व्रत मे बाधा डालने वाले विघ्नो पर वह सिहनी की तरह झपट कर उन्हे समाप्त करती गई।

जब गिरनार की तलहटियो मे वर्षा में भीगी राजुल साध्वीदल से बिछुड कर एकाकिनी रह गई, तो उसने एक गुफा मे आश्रय लिया। अपने गीले वस्त्र सुखाने लगी। तभी गुफा मे ध्यानस्थ नेमिकुमार के छोटे भाई रथनेमि की गीध दृष्टि एकाकिनी निर्वसना राजुल के अनावृत सौन्दर्य पर

गिरी। रथनेमि उन्मत्त होकर राजुल के सामने आया। राजुल संभल कर उस कामोन्मत्त रथनेमि के समक्ष सिंहनी की तरह गूँज उठी। मार्गभ्रष्ट रथनेमि पुनः अपने मार्ग पर आगया और राजुल से क्षमा माँगने लगा। नारी के इसी रूप को देखकर शायद कवियों ने यह गाया होगा—

हृदय है फूलों-सा सुकुमार
मगर शूलों-सा तीखापन भी है।
सदा जो मुग्धा-मृगी समान
समय पर वह वाघन भी है।

महासती राजुल का जीवन नारी के इस द्विविध रूप की साकार अनुभूति लिए हुए हैं। अवला, समय पर सबला भी होती है, मृगी-सी भोली सूरत समय पर वाघन—सिंहनी-सी प्रचंड भी हो उठती है; यही तो नारी का सहज चमत्कार है, जो पुरुष जाति को प्रयत्न से भी प्राप्त नहीं हो पाया।

धारिणी का आत्मोत्सर्ग

महासती धारिणी—जो आर्या चन्दना की वीर जननी थी, अपने शील की रक्षा के लिए जिस आत्मोत्सर्ग-वलिदान के मार्ग पर बढ़ी, वह जैन इतिहास के पृष्ठों पर आज भी ज्योतिर्मय हो रहा है। जब चंपानगरी पर शतानीक ने आक्रमण किया तो महाराज दधिवाहन उस आकस्मिक आक्रमण का सामना नहीं कर सके। राजा का साहस टूटा, तो सेना बिखर गई। शत्रु राजा के सैनिकों ने चंपा को जी भर कर लूटा। और इसी लूट-खसोट में एक रथी सैनिक राजमहलों में पहुँच गया। परम सुन्दरी महारानी धारिणी और गुलाव-कली-सी खिलती हुई राजकुमारी वसुमति को देखकर रथी हीरे जवाहरात लेना भूल गया और दोनों माता-पुत्री को रथ में बैठाकर ले चला।

धारिणी ने अपने वहुमूल्य आभूपण उतार कर रथी के सामने रख दिए। ललकार कर कहा—"रथी! तुम्हें सोना चाहिए, आभूपण चाहिए तो ये ले लो! सब तुम्हारे सामने रखे हैं, पर खबरदार जो हमारे ऊपर दृष्टि उठाई! छोड़ दो हमें! इस हड्डी-मांस के पुतले देह से तुम्हें क्या प्रयोजन है? हमें

यही उतार दो, जंगल मे। हम कही भी जाकर अपना जीवन बितायेंगी, तुम ले जाओ ये सब आभूषण !"

पर पता नही, रथी के मन मे क्या था ? कौन-सी अतृप्त वासना की आग उसे जला रही थी ? उसने सती की ललकार पर कान नहीं दिए, उसकी कठोर चेतावनियों की बिजली कौंधती रही, पर उसे कौन देखे ? जब विवेक की आंख ही गायब हो ? धारिणी ने जब देखा, उसके सतीत्व पर खतरा आ रहा है, उसके शील-रत्न पर कोई लुटेरा ललचारहा है तो उस क्षत्रियाणी सती ने रथी को अन्तिम चेतावनी देकर उसी के सामने हाथो से अपनी जीभ खींच डाली !

सती के आत्मोत्सर्ग ने रथी के वासना वेग को सहसा एक दूसरा मोड दे दिया। वह स्तंभित था, और साथ ही भयभीत भी—"कही यह बाला भी मा के उत्सर्ग पथ का अनुसरण न कर ले।" उसने वसुमति से क्षमा मागी, और निर्भय रहने का आश्वासन दिया।

धारिणी का बलिदान राजपूत नारियो के जौहर का एक सात्विक रूप है। जौहर के पीछे एक लौकिक दृष्टि है, एक पीडा-मिश्रित अधैर्य है जो वैधव्य की आग मे तिल-तिल जलने की अपेक्षा चिता की आग मे एक बार ही जलने को महत्त्व देती है। किन्तु इस आत्मबलिदान के पीछे सतीत्व-सरक्षण की दिव्य भावना है, उसमे कष्टमय जीवन की विभीषिका का प्रकम्पन नही है, किंतु सुख-दुःख की कल्पना से परे जीवन की श्रेष्ठता के सरक्षण का अपूर्व साहस भरा है। जहां जौहर मे यह भावना है, वहां जौहर भी इस आत्म-बलिदान की तुलना मे आ सकता है। हा, तो जैन सस्कृति ने आत्म-बलिदान की एक सात्विक परिपाटी का रूप प्रस्तुत किया है और इस बलिदान की अग्रगामिनी रही है जैन सस्कारो मे जन्मी और पली-पुसी नारी।

६ | आर्यसंस्कृति की धरोहर : चन्दना

राजकुमारी वसुमति—अर्थात् आर्या चन्दना की कहानी भारतीय नारी की एक लोमहर्षक कहानी है। जिसमें सहिष्णुता, तितिक्षा आदि गुणों के साथ शासन कौशल का भी चरम विकसित रूप देखने को मिलता है।

चन्दना, जो राजसी वैभव की मधुर छाया में जन्मी, पली-पुसी ! आनन्द और ऐश्वर्य की सुकुमार पुष्प-शय्या पर जो खेलती रही, वह एक दिन रथी के द्वारा गुलामों के बाजार में वेश्या के हाथों वेची गई, और वेश्या ने उस अभुक्त यौवना सुन्दरी को विवश किया—पैसों के लिए अपना सतीत्व वेचने के लिए, किन्तु मृत्यु का वरण करने को समुत्सुक चन्दना जब वेश्या के इरादों को पूरा नहीं कर सकी, तो हार खाकर उसने भी उसे बेच डाला एक सेठ के हाथों। सदाचारी सेठ की पितृछाया में भी चन्दना एक दासी की तरह प्रताड़ना एवं यंत्रणाओं से घिरी रही। ईर्ष्यालु सेठानी ने उसके सुनहले लंबे-लंबे बालों को कैंची से काटकर हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ पहना कर भूमिगृह में डाल दिया, एक घोर अपराधी की तरह। और तीन दिन

तक भूख-प्यास मे बिलबिलाती बाला आखिर जब भूमिगृह मे बाहर निकाली गई तो, उसका उद्धार किया पतित पावन विश्वोपकारी प्रभु महावीर ने।

सकटो एव यत्रणाओ की इस काली छाया मे भी चन्दना के धैर्य एव साहस का प्रकाश कभी क्षीण नही हुआ। उसकी शाति एव समता का सरोवर सूखा नही—वह निरन्तर अपने हृदय मे एक दिव्य भावना सजोए अज्ञानग्रस्त आत्माओ के मगल कल्याण की कामना करती रही।

भगवान महावीर ने चन्दना के अन्तस् को पहचाना। भक्ति एव श्रद्धा का उद्रेक उसके हृदय को झकझोर रहा था, साहस, तितिक्षा एव धैर्य का महासागर ठाठे मार रहा था और साथ ही उस दिव्य नारी मे क्षत्रिय-स्वभाव-जन्य शासन-निपुणता की अद्‌भुत कला विकसित हो रही थी। चन्दना प्रभु के चरणो मे आई, प्रभु महावीर ने चन्दना जैसी महान नारी की आत्मा को पहचाना और युग की जड मान्यताओ को चुनौती देकर उसे श्रमणी के रूप मे दीक्षित किया।

नारी की प्रव्रज्या . एक क्रांति

भगवान महावीर के युग का इतिहास बताता है कि ई० पू० छठी-सातवी शताब्दी भारतीय इतिहास की सघर्षपूर्ण सधिवेला थी। पुरुष जाति सर्वत्र अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमा चुकी थी। नारी के आध्यात्मिक अस्तित्व पर उसने गहरे प्रहार शुरू कर दिए थे। जो नारी वेदो की निर्मात्री रही है, उससे वेदाध्ययन का अधिकार भी छीन लिया गया। जिस नारी ने पुरुष जाति का आध्यात्मिक नेतृत्व किया, इस युग मे उसे अध्यात्म पथ पर चरण बढाने से भी रोक दिया गया। यहा तक कि धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करने मे पुरुष को ही प्रधानता देकर स्त्री को उसके अयोग्य करार दे दिया गया। वह यदि ससार से विरक्त होती है, वैराग्य की हिलोरें मन मे उठती हैं, तो वह सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर सन्यास नही ले सकती।

'नारी सन्यासिनी, साध्वी नही बन सकती' यह उस युग की आम धारणा बन गई थी। इस धारणा का प्रभाव श्रमणसस्कृति की एक धारा बौद्ध

संस्कृति पर भी पड़ा। तथागत बुद्ध ने स्त्रियों को दीक्षा देने से इन्कार कर दिया। बहुत वर्षों तक उनके संघ में सिर्फ भिक्षु ही थे, भिक्षुणियां नहीं बनी। विनयपिटक[१] में उल्लेख है कि तथागत की मौसी महाप्रजापति गौतमी जिसने मातृ विरह में बुद्ध को अपने आंचल का दूध पिलाकर पाला था, जब संसार से विरक्त होकर तथागत के संघ में प्रव्रजित होने को लालायित हुई तो तथागत ने यह कहकर इंकार कर दिया कि "स्त्रियों को संघ में सम्मिलित करने से संघ को ही खतरा है।" स्त्रिया अविश्वासनीय एवं चंचल हृदय होती है। करुणावादी तथागत के स्त्री जाति के प्रति इन कठोर विचारों से प्रजापति के हृदय को बहुत ठेस पहुँची। वह रोने लग गई। बार-बार उसने बुद्ध से दीक्षा देने का आग्रह किया, किन्तु बुद्ध का हृदय नहीं पिघला। प्रजापति गौतमी ने बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द से जाकर कहा। आनन्द प्रजापति की भाव-विह्वलता देख कर रो पड़े। वे स्वयं भगवान बुद्ध के पास आये, और प्रजापति को दीक्षा देने का आग्रह किया। बुद्ध ने जब पुनः इन्कार किया तो भाव-विह्वल आनन्द ने कहा—"भंते! यह महाप्रजापति गौतमी एक महान नारी है, भगवान की मौसी है, इसने भगवान को अपना दूध पिलाया है, यदि ऐसी स्त्री को भी दीक्षा नहीं दी गई तो फिर लोग क्या कहेंगे......।' आनन्द के अत्याग्रह से बुद्ध ने आखिर अनमने भाव से प्रजापति को दीक्षा की स्वीकृति देते हुए कहा—"आनन्द! मेरा यह भिक्षु संघ यदि सहस्र वर्ष टिकने वाला था तो अब पांच सौ वर्ष से अधिक नहीं टिकेगा। नारी दीक्षा से धर्म संघ की आधी उम्र हो गई है।"

देखना है कि नारी जाति के आध्यात्मिक अस्तित्व पर जिस वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति के एक अंग ने इतना कठोर प्रहार किया, नारी की श्रेष्ठता में इतना संदेह किया, उसी युग में श्रमणसंस्कृति के ज्योतिर्धर तपस्वी भगवान महावीर ने आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने वाली नारी का

---

१. विनयपिटक चुल्लवग्ग, भिक्खुणी स्कन्धक, १०-१-४

उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया। उन्होने प्रकल्पित रूढिगत सिद्धान्तों को स्पष्ट चुनौती देते हुए कहा—"स्त्री और पुरुष के शारीरिक भेद के आधार पर धार्मिक अधिकारो मे भेद करना अनुचित है, अज्ञान है, मूढता है। जिस आत्म-शक्ति का चरम विकास पुरुष मे सभव है, वह स्त्री मे भी सभव है। स्त्री पुरुष से किसी भी प्रकार हीन एव दीन नही है। वह भी आत्म साधना कर सकती है, तपस्या एव ब्रह्मचर्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है।" भगवान महावीर की इस निर्भीक उद्घोषणा ने तात्कालीन रूढिगत-धार्मिक विचारो मे एक खलबली मचा दी। किंतु तीर्थकर महावीर तो अपनी निष्ठा एव श्रद्धा के अविचल स्तम्भ थे। उन्होने अपने क्रान्तिकारी विचारो को मूर्त रूप दिया। अपनी पहली धर्म सभा मे ही भगवान ने राजकुमारी चदना के साथ अनेक राजरानियो, एव सद्गृहिणियो को दीक्षा देकर अपने धर्म सघ मे सम्मिलित किया। भगवान महावीर के इस क्रान्तिकारी कदम का युग पर अपूर्व प्रभाव पडा। नारी जाति ने बडे उत्साह के साथ इस धार्मिक समानता का स्वागत किया। ऐतिहासिक आँकडो से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर के लगभग ३० वर्ष के तीर्थकर काल मे ३६ हजार सन्नारियो ने प्रव्रज्या ग्रहण की। ऐसा लगता है कि जैसे एक रुका हुआ प्रवाह मार्ग पाकर पूरे वेग के साथ उमड पडा। स्त्री जाति मे जैसे आध्यात्मिकजागरण की लहर मचल पडी। नारियों के झुड के झुड पुरुषो से आगे बढकर आत्म-साधना के लिए आये, और भगवान के चरणो मे दीक्षित होने लगे, ध्यान, स्वाध्याय, योग एव कठोर तपश्चरण द्वारा अपना एव विश्व का कल्याण करने लगे।

उस युग मे जनता की अनभ्यस्त आँखो ने कितना विचित्र एव रमणीय दृश्य देखा होगा, जब राजकुमारियो, राज रानियो से लेकर सामान्य गृहिणियो तक के झुड राजहसी-सी उज्ज्वल-श्वेत वेश भूषा धारण किए घर-घर, गाव-गाव मैत्री-करुणा का सदेश लिए घूमने लगी थी। अज्ञान एव क्लेशो से सतप्त जनता को सद्ज्ञान एव शान्ति का जीवन मत्र देने वाली उन महान साधिकाओ को देखकर, भोगो की कालिमा से मुक्त हो, त्याग वैराग्य की

दिव्य-उज्जवल आभा से युक्त हो विचरण करने वाली उन मानवी विभूतियों का दर्शन कर, क्या पुरुष-श्रेष्ठता के अहंकार में दीप्त उन कथित धार्मिकों का मस्तक नारी के पवित्र चरणों में नहीं झुका होगा ? अवश्य ! अवश्य !

भगवान महावीर के इस अप्रतिम साहस और उदारता का प्रभाव बुद्ध के हृदय पर भी पड़ा। और प्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या के पश्चात् उस परम्परा में भी नारियों की दीक्षा का प्रवाह-सा उमड़ आया।

हां, तो मैं बता रही थी, स्त्री जाति को दीक्षा का अधिकार प्रदान कर भगवान महावीर ने एक युग-युग से रुके हुए आध्यात्मिक प्रवाह को नया मोड़ दिया। जनता की धार्मिक जड़ता को झकझोर कर क्रांति का शंखनाद किया। और किया नारी जाति पर एक असीम उपकार ! अद्वितीय अनुग्रह !

नारी : कुशल शासिका

हां, तो आर्या चन्दना जिसकी लोमहर्षक कहानी हम पूर्व लिख चुके हैं, भगवान महावीर के चरणों में आयी और उसके जीवन की दैविक-दिव्यताओं का दर्शन कर भगवान ने उसे दीक्षा दी। अपनी प्रथम शिष्या बनाई और अपने विशाल श्रमणी संघ को एक सूत्र में आबद्ध कर उसकी बागडोर सौंपी चन्दना के कुशल हाथों में।

उस युग में यह भी एक आश्चर्य था कि गृह एवं परिवार की कारा में बंधी नारी एक इतने बड़े धार्मिक श्रमणीसंघ का नेतृत्व करने की क्षमता भी रखती है ? लोग जिस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे—वह बात उनके सामने साकार हो रही थी। नारी की नेतृत्व-कुशलता एवं अनुशासन-दक्षता उस युग के चिन्तन से दूर क्षितिज पार की कल्पना थी, किन्तु महासती चन्दना ने ३६ हजार श्रमणियों एवं ३ लाख से अधिक उपासिकाओं के नारी संघ का कुशलनेतृत्व कर इस बात को प्रमाणित कर दिया कि नारी सिर्फ घर की ही नहीं, समाज एवं राज्य की नैया भी कुशलता के साथ खे सकती है, वह अनुशासन एवं नेतृत्व में पुरुष से किसी प्रकार कम नहीं है। वर्तमान

युग नारी को राष्ट्राध्यक्ष एव प्रधानमत्री के पद पर आसीन देखकर जिस प्रबुद्ध चेतना का गौरव अनुभव कर रहा है, कहना होगा उस गौरवमयी परम्परा का मूल उत्स श्रमण सस्कृति के इस पच्चीस-सौ वर्ष पुराने इतिहास मे छिपा है। और इतिहास के ये बीज भी बहुत पहले तीर्थंकर भगवती मल्लि के शासन मे देखे जा सकते हैं। जिनके शासन मे लगभग ६५ हजार श्रमण श्रमणी एव ५ लाख मे अधिक श्रावक श्राविकाए थी।[1]

१ कल्पसूत्र (तीर्थंकर चरित्र)

७ | शांति की सूत्रधार : मृगावती

नारी गृहनीति की ही नहीं, राजनीति की भी संचालिका रही है। युद्ध और शांति दोनों की सूत्रधार रही है।

महावीर युग में वत्सराजउदयन की माता, वैशाली गणराज्य के नेता महाराज चेटक की पुत्री मृगावती ने शासननीति में अपूर्व दक्षता प्रदर्शित कर चंडप्रद्योतन जैसे—प्रतापी सम्राट के दांत खट्टे कर दिये थे।

उज्जयिनीपति चंडप्रद्योत अपने युग का प्रखरप्रतापी सम्राट था। राज्यलोभ से भी अधिक सौन्दर्यलालसा से पीड़ित चंडप्रद्योत ने कई बार युद्ध क्षेत्रों में मुंह की खाई। मृगावती वत्सराज शतानीक की पट्टमहिषी थी, उसके अद्भुत लावण्य एवं सौंदर्य की कीर्ति दूर-दूर के राज्यों तक फैली हुई थी। चंडप्रद्योत ने जब मृगावती का चित्र देखा, तो वह उसकी लावण्यमयी सुषमा पर मुग्ध हो उठा। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मृगावती तक वह नहीं पहुँच सका, तो उसने वत्सदेश पर आक्रमण कर दिया। चंडप्रद्योत के भयंकर आक्रमण का मुकाबला वत्स जैसा छोटा प्रान्त क्या कर पाता? उस युद्ध में महाराज शतानीक का तो कहीं पता ही नहीं चला, वे कहां गये, क्या हुआ? उनका पुत्र कुमार उदयन अभी बहुत छोटा था। अतः राज्य की समस्त

बागडोर महारानी मृगावती ने अपने हाथों मे सभाली। शिकार पर ताक लगाए बैठे नाग की तरह चडप्रद्योत कौशाम्बी के द्वार पर खडा ही था, उसने सकटापन्न रानी के पास प्रस्ताव भेजा—"अपनी, अपने पुत्र एव राज्य की कुशलता चाहती हो, तो अपनी सौन्दर्य-सुधा से चडप्रद्योत को तृप्त करो।"

रानी नदी प्रवाह मे डूबी सिहनी की तरह सर्वथा असहाय थी, वह चुपचाप इस तीखे विषघूट को पी गई। उसने राजनीतिक कुशलता से काम लिया, और चडप्रद्योत को आश्वासन के स्वरो मे सदेश भेजा—"अभी इतनी शीघ्रता न करिए ! पति का वियोग, एव राज्यभग की पीडा से अभी मेरा मन उद्विग्न हो रहा है, जरा मन को शात एव निर्भय होने दीजिए और इसलिए आप मेरा सहयोग करिए।"

रानी के प्रस्ताव पर चडप्रद्योत की बाछे खिलगई। उसने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"महारानी सर्वथा निर्भय रहे, हम सहयोग के लिए तैयार है, वे क्या, कैसा सहयोग चाहती है ?"

रानी ने कहलाया—"कौशाम्बी पर आक्रमण होने से वह सर्वथा असुरक्षित हो गई है, अत शत्रुओ का भय है, इसलिए सर्वप्रथम नगर का परकोटा एव किला मजबूत करवाया जाय, सेना को अच्छे शस्त्र दिए जाय।"

काम-मूढ चडप्रद्योत रानी के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर गया। उज्जयिनी की पक्की मजबूत ईटे, व अपने कुशल कारीगरो के द्वारा उसने कौशाम्बी की सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ बनाई। अपनी सेना के अच्छे-अच्छे हथियारो से उसने कौशाम्बी की सेना को सन्नद्ध किया। सब कुछ ठीक हो जाने के बाद चडप्रद्योत ने पुन रानी मृगावती से प्रणय-याचना के रूप मे अपना सदेश भेजा।

रानी चडप्रद्योत की मूढता पर मन-ही-मन हस पडी। उसने कहलाया—"चडप्रद्योत मेरी आशा छोड दे।" रानी का उत्तर सुनकर चडप्रद्योत आगबबूला हो उठा। उसने कहा—"एक स्त्री होकर भी इतनी चालाक ! पहले आश्वासन

देकर अब इन्कार कर रही है ? चंडप्रद्योत के साथ भी मजाक ! इसका फल तो रानी को मिलेगा ही"—और क्रुद्ध चंडप्रद्योत ने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। इस वार कौशाम्बी के दरवाजे तोड़ना लोहे के चने चवाने थे। वहुत दिनों तक घेरा डालकर पड़े रहने पर भी चंडप्रद्योत कौशाम्बी में प्रवेश नहीं कर सका। इसी बीच श्रमण भगवान महावीर कौशाम्बी के उद्यान में पधारे। रानी ने जव भगवान का पदार्पण सुना तो, उसका रोम-रोम पुलक उठा। संकटमोचन प्रभु जब उसकी रक्षा के लिए आगए तो अव भय किस वात का ? उसने मंत्रिमंडल से परामर्श किया, और कौशाम्बी के द्वार खोल देने को कहा। मंत्रियों ने भयमिश्रित स्वर में कहा—"महारानी ! आप संकट को न्योता दे रही हैं ? जव शत्रु नगर के वाहर घेरा डाले पड़ा है, और नगर-द्वार तोड़ने की दमतोड़ चेष्टाएँ कर रहा है, उस स्थिति में द्वार खोल देना कोई भी बुद्धिमानी नहीं है। मंत्रियों की दृष्टि सिर्फ राज्य की सुरक्षा तक ही जा रही थी, पर दीर्घदर्शिनी मृगावती मानवीय अन्तःकरण की गहराई तक पहुँच गई थी। उसका आत्मविश्वास हिमालय की तरह अचल था, उसने दृढ़ता के साथ कहा—"मंत्रियो। इसके परिणाम का अनुमान आप भिन्न दृष्टि से कर रहे हैं और मैं कुछ और ही सोच रही हूं। मेरी अन्तर-आत्मा की आवाज है, शत्रु हमारे से प्रवल है, अतः उसे शत्रुता से नहीं, मित्रता से जीतना चाहिए, और मित्रता के लिए मेरी ओर से वढ़ाया गया यह चरण अवश्य ही फलप्रद होगा। भगवान स्वयं हमारी रक्षा के लिए कौशाम्बी के उद्यान में पधार गये हैं, उनके चरणों में पहुँच कर दुष्ट सज्जन वन जाते हैं, सिंह श्रृगाल की तरह आचरण करते हैं, तो क्या उन महामहिम प्रभु के पावन चरण-स्पर्श से काम-मूढ़ चंडप्रद्योत का हृदय नहीं बदलेगा ? मुझे भगवत्‌शक्ति में विश्वास है और मानव मन की पवित्रता में भी। आप निर्भय होकर कौशाम्बी के द्वार खोल दीजिए। देखती हूँ, मेरे सद्‌भावों के सुमनों को कुचल कर कौन नर-राक्षस कौशाम्बी के राजद्वार में घुसता है ?"

रानी के आत्मविश्वास के समक्ष मंत्रियों का हृदय झुक गया। धड़कते

हृदय से सेनापति ने कौशाम्बी के द्वार खोले। हजारो नगरवधुओ के साथ प्रभुभक्ति के गीत गाती हुई उजले श्वेत वस्त्र पहने रानी मृगावती नगर के बाहर निकली। चडप्रद्योत ने जब यह अद्भुत दृश्य देखा तो फटी आँखो से देखता ही रह गया। महारानी सीधी प्रभु महावीर के चरणो मे पहुँच गई। उधर चडप्रद्योत भी महावीर के चरणो मे उपस्थित हुआ। प्रभु के अमृत-उपदेश से चडप्रद्योत के मन का विष शात होगया। रानी ने अवसर देखकर प्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो! आपकी धर्म सभा मे आपसे सयम-भिक्षा की याचना करने से पूर्व महाराज चडप्रद्योत से दो बातो की याचना करती हूँ।"

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु मौन स्वीकृति दे चुके थे। चडप्रद्योत रानी के अपूर्व साहस एव बुद्धि चातुर्य पर स्तम्भित, चकित एव आशकित हुआ भूमि को देख रहा था।। अपनी कुत्सित-चेष्टाओ पर जैसे उसे आत्म-ग्लानि हो रही थी। रानी ने आगे बढ़कर चडप्रद्योत का अभिवादन किया—"उज्जयिनी पति! आपसे दो प्रार्थना है, आशा है आप मुझे निराश नही करेंगे। पहली बात है: ससार मे मेरा मन विरक्त हो गया है, मै प्रभु के चरणो मे दीक्षा लेना चाहती हूँ। कृपया आप प्रभु से मेरी दीक्षा के लिए प्रार्थना कर दीजिए। और मेरा राजकुमार उदयन अभी बालक है, अत इस राज्य की एव राजकुमार की रक्षा का दायित्व आप अपने कधो पर लेकर मुझे अनुग्रहीत करे"—निर्भयतापूर्वक कहती हुई रानी ने उदयन को उठाकर चडप्रद्योत की गोद मे बैठा दिया।

चडप्रद्योत चकित था—रानी उसके साथ क्या खेल खेल रही है? वह आया था मृगावती को अपने अन्त पुर मे ले जाने के लिए और वह उसी से प्रार्थना करवा रही है, दीक्षा देने के लिए। एक नारी के समक्ष बौद्धिक-पराजय पाकर चडप्रद्योत मन-ही-मन उद्भ्रान्त हो गया। पर, आखिर और मार्ग ही क्या था उसकी प्रतिष्ठा बच पाने का। उसने रानी की दोनो प्रार्थनाएँ स्वीकार की। ससार देखता रह गया, एक नारी के अद्भुत चातुर्य को, शासन-कौशल

को और अटल आत्मविश्वास को, जिसने दो संघर्परत राज्यों में बिना रक्त की एक बूँद बहाये प्रेम का सूत्र जोड़ दिया, और स्वयं के सतीत्व की रक्षा भी करली।

कुछ चिन्तकों ने नारी को कलह की जड़ बताया है, पर क्या उन्होंने नारी के इस उज्ज्वल रूप को नहीं देखा, कि वह युद्ध की ज्वाला ही नहीं, शांति की अमृत वर्षा भी है। उसकी बौद्धिक चातुरी और आत्म-विश्वास ने मानव जाति को शांति से जीने की कला सिखाई है।

८

दान और सेवा की मूर्ति : विशाखा

जैन साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य मे भी अनेक महान नारियो के ऐसे जीवन चरित्र भरे पड़े है, जिनमे श्रमण सस्कृति के दिव्य रूप की विरल झाँकी प्रतिबिम्बित हो रही है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद की अट्ठकथा (पृ०।१० १२८) मे विशाखा मृगारमाता की रोचक घटना अकित की गई है। वह श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी की पुत्रवधू थी। लावण्य की मूर्ति विशाखा बौद्धिक चातुरी, मधुर भाषण एव सेवा तथा उदारता मे भी अप्रतिम थी। उसके लिए उल्लेख है कि वह प्रतिदिन पाँच-सौ भिक्षु-भिक्षुणियो को भोजन के लिए अपने घर पर निमत्रित करती थी। बुद्ध का प्रतिदिन उपदेश सुनती और विहार मे जाकर आने-जाने वाले, रोगी, दीन-गरीबो की सभाल लेती, उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करती।

एक बार विशाखा तथागत का उपदेश सुनने गई। वह 'महालता प्रसाधन' नामक बहुमूल्य आभूषण को धारण किए हुए थी। विहार मे प्रवेश करते समय उसने आभूषण उतारकर दासी को दे दिया और कहा—"भगवान के पास से लौटते समय मैं इसे पहनूँगी।" दासी उन्हे विहार मे ही रखकर भूल गई। परिषद के चले जाने पर आनन्द ने उन आभूषणो को देखा तो उठाकर एक

ओर रख दिए। कुछ ही समय बाद विशाखा ने दासी से आभूषण माँगे तो दासी को स्मरण आया। वह रुआँ-सी हो गई। स्वामिनी से उसने कहा—"मैं तो आभूषणों को विहार में ही भूल आई।" विशाखा ने धीरज के साथ कहा—"कोई बात नहीं है, आभूपण विहार से चोरी नहीं जा सकते। जाओ तुम देख के ले आओ, हाँ, ध्यान रखना यदि स्थविर आनंद ने उठाकर उन्हें कहीं रख दिए हों तो फिर मत लेना।"

सुप्रिया दासी विशाखा के आभूपण खोजने विहार में घूमने लगी। स्थविर आनंद ने उसे देखा तो पूछा—"तुम क्या खोज रही हो भद्रे ?"

दासी ने विनयपूर्वक कहा—"भंते ! स्वामिनी के आभूपण कहीं रखकर भूल गई हूँ।" तब स्थविर आनंद ने एक ओर रखे आभूपणों की ओर संकेत किया—"वे रखे हैं, मैंने उठा कर एक ओर धर दिये थे। तू उन्हें ले जा।" सुप्रिया दासी तब यह कहती हुई लौट गई—"आपके हाथ से छू जाने पर ये आभूपण मेरी स्वामिनी के पहनने योग्य नहीं रहे।"

विशाखा ने जब यह सब घटना सुनी, तो उसने सभी आभूपण तथागत के चरणों में अर्पित कर दिए। पर तथागत तो आभूपण का क्या करते ? विशाखा ने सोचा—"इन आभूषणों के मूल्य से भिक्षुओं के लिए एक विहार का निर्माण करवाऊँगी। अतः उसने बेचने के लिए स्वर्णकारों को बुलाकर उन आभूपणों का मूल्य पूछा। स्वर्णकार दिव्य आभूषणों को देखकर चकित थे। उन्होंने बताया—"इन आभूपणों का मूल्य है नौ करोड़ स्वर्ण मुद्रा और एक लाख इसकी बनवाई है।" विशाखा ने उन्हें इस मूल्य पर आभूपण बेच देने को कहा। किंतु इतनी बड़ी राशि देकर आभूपण खरीदने वाला कोई नहीं मिला। आखिर विशाखा ने स्वयं ही उन्हें खरीदा और नौ करोड़ एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ गाड़ी में भरवा कर विहार में भेज दिये।

विशाखा ने प्रासादनिर्माण प्रारम्भ किया और हजारों शिल्पी, कर्मकर प्रासाद निर्माण में जुट गये। नौ मास में प्रासाद का निर्माण पूर्ण हुआ। तब बुद्ध पुनः श्रावस्ती आये। विशाखा ने प्रासाद का विराट् उत्सव किया। चार

महीने तक उसने समस्त भिक्षु संघ को, गरीबों को, रोगियों को, अन्न, भैषज्य वस्त्र आदि दान किये। उल्लेख है कि विशाखा ने उस प्रासाद के लिए भूमि खरीदने, प्रासाद निर्माण एवं उत्सव तथा दान आदि में सत्ताईस करोड स्वर्ण मुद्राएँ खर्च की।

इतना बडा दान देने पर भी विशाखा को अपने दान का कुछ भी गर्व नही थी। उसके जीवन मे जैसे एक ही उद्देश्य था, संकल्प था—सेवा। उसने एक बार बुद्ध को प्रसन्न देख कर प्रार्थना की—"भंते! मैं आप से एक वर मॉंगना चाहती हूँ।" बुद्ध ने प्रसन्न हो स्वीकृति दी, लोग आश्चर्यपूर्वक कान लगाए बैठे थे—"महान सेवापरायणा विशाखा आज भगवान से क्या वर मागेगी?" जब उसके वर की भाषा लोगो ने सुनी तो वे आश्चर्य-मुग्ध हुए उसकी ओर देखकर धन्य-धन्य कह उठे। विशाखा ने जो वर मांगे उनमे से कुछ ये है—

१—मैं यावज्जीवन (श्रावस्ती मे) नवागन्तुको को भोजन देना चाहती हूँ।

२—मैं यावज्जीवन गमिकों (प्रस्थान करने वाले भिक्षुकों) को भोजन देना चाहती हूँ।

३—मै यावज्जीवन रोगी को, रोगी की सेवा करने वालो को भोजन, एवं भैषज्य आदि देना चाहती हूँ।

यह है श्रमणसंस्कृति के संस्कारो मे पलने वाली एक महान नारी के संकल्प! जो एक वर्ष मे सत्ताईस करोड का दान देकर भी उसी प्रकार रोगी, वृद्ध एवं शैक्ष भिक्षुओ की विनयपूर्वक सेवा करती है, और यावज्जीवन सेवा करते रहने का ही वरदान चाहती है। उस नारी ने, धन, ऐश्वर्य, सुख, भोग, सब कुछ ठुकरा कर एक ही संकल्प बनाया, एक ही ध्येय बनाया—सेवा! और उसके लिए अपनी विशाल संपत्ति मानव जाति के लिए अर्पित कर दी। विशाखा के इस दान का आज भी गौरव है, केवल विशाल दान की राशि का नही, किंतु दान के साथ उसके उच्च संकल्पो का, आदर्शों का। उसने नारी जाति के उच्च संकल्पो का एक कीर्ति ध्वज स्थापित किया है—जो भारत की श्रमणसंस्कृति के उच्चतम आदर्शों का प्रतीक है।

६ सुलसा : अचल श्रद्धा एवं उत्सर्ग की प्रतीक

विशाखा का दान जिस प्रकार बौद्ध साहित्य का गौरवमय अंश है, उसी प्रकार सुलसा की अचल श्रद्धा, बलिदान एवं अविचल धैर्य भी जैन ग्रन्थों में गौरव के साथ उल्लिखित हुए हैं। स्थानांगसूत्र (६।३) में उल्लेख है कि सुलसा ने अपनी अविचल धर्म श्रद्धा एवं साधुसेवा के उत्कृष्ट भावावेग में बहकर इसी जीवन को कृतकृत्य नहीं किया, किंतु आगामी जन्मों में तीर्थङ्कर होने का महान पुण्य भी उपार्जन किया है। वह आगामी चौबीसी में 'निर्मम' नामक पन्द्रहवाँ तीर्थंकर होंगी—यह सुलसा के आदर्श जीवन की गरिमा की फलश्रुति है। उसके जीवन की घटनाएँ रोचक होने के साथ रोमांचकारी भी हैं। जैन इतिहास के प्रथम सूत्र-शिल्पी आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति- में सुलसा के जीवन की रोचक कहानी सूत्र रूप में लिखी है, जिस पर चूर्णि-कार[१] ने विस्तार के साथ प्रकाश डाला है।

---

२. आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध

सुलसा राजगृह के नाग नामक रथिक की पत्नी थी। दोनों की भगवान महावीर के प्रति अडिग श्रद्धा थी। अपनी अचल श्रद्धा के कारण वे दूर-दूर तक दृढधर्मी व प्रियधर्मी नाम से विख्यात थे।

एक बार नाग ने किसी सेठ के घर मे बालको को उन्मुक्त भाव से खेलते देखा। वे बच्चे बडे सुकुमार सुन्दर व चचल थे। उनकी मीठी किलकारियो व क्रीडाओ से घर आँगन खिल उठा था। यह दृश्य नाग की आँखो व हृदय मे समा गया। उसके मन मे बार-बार यह विचार उभरने लगा—"वह घर सूना है, जहाँ बच्चो की किलकारियाँ सुनाई नही देती हो।" किन्तु इस सूने पन की पूर्ति करना भी तो किसी के हाथ की बात नही थी। नाग सोचता रहा। पुत्र प्राप्ति की प्रबल इच्छा लेकर वह ज्योतिषियो, मान्त्रिको एव लौकिक देव-देवियो के चक्कर लगाने लगा। सुलसा ने नाग की यह व्यथा देखी तो उसने सान्त्वना देकर समझाया—"पुत्र, यश, धन आदि की प्राप्ति अपने कृत-कर्मानुसार ही होती है। मनुष्य का प्रयत्न या देव कृपा सिर्फ निमित्त मात्र बनते है। इसके लिये ज्योतिषियो द्वारा बताये गये अनुष्ठान, लौकिक देवो की उपासना आदि क्या कर सकते है। हमे ज्ञान, शील, तपस्या, सेवा आदि धार्मिक अनुष्ठान करने चाहिए, ताकि अपने अन्तरायकर्म शिथिल होने से अपने अभिलषित की प्राप्ति हो सके। लगता है मुझसे आपको अब पुत्र प्राप्ति नही होगी, अत अच्छा हो कि आप दूसरा विवाह करलें।"

सुलसा के सान्त्वना भरे शब्दो के साथ द्वितीय विवाह का प्रस्ताव नाग को नही रुचा। उसका सुलसा के प्रति अत्यन्त अनुराग था। उसने दृढता के साथ कहा—"मै दूसरा विवाह नही करना चाहता, मैं तो तुम्हारे से उत्पन्न पुत्र ही चाहता हूँ।"

सुलसा कुछ देर मौन रही, फिर उसने कहा—"यह तो अपने सयोग-वियोग की बात है, हमे इसके लिए धीरज नही खोना चाहिए। व्यर्थ की चिंता और उद्विग्नता मे जीवन की शाति एव आनन्द को क्षीण नही करना चाहिए।"

सुलसा के मधुर विवेकपूर्ण वचनों से नाग के मन की व्यथा कुछ कम हुई। वह पुन: अपने धार्मिक अनुष्ठानों में दृढ़ता के साथ जुट गया।

एकबार सुलसा के घर पर एक मुनि आये। उन्होंने कहा—"बहन! अमुक मुनि बहुत बीमार हैं, वैद्यों ने लक्षपाक तेल की मालिस करने को कहा है। तुम्हारे घर वह दुर्लभ लक्षपाक तेल है।"

सुलसा मुनि को औषधि-याचना के लिए आये देख कर पुलकित हो उठी। वह प्रसन्नतापूर्वक मुनि को औषधि देने कमरे में गई जहाँ बहुमूल्य लक्षपाक तेल के तीन घड़े रखे थे। घड़ा ज्यों ही उसने उठाया कि हाथ से छूट कर गिर पड़ा। बहुमूल्य तेल बिखर गया। उसने दूसरा घड़ा उठाया और वह भी गिर कर फूट गया। तीसरी बार भी घड़ा हाथ से छूट पड़ा। ऐसी घटना से सहज ही व्यक्ति झल्ला उठता है। परन्तु सुलसा बहुत शान्ति के साथ इस अपूरणीय क्षति को यों सह गई जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। बाहर आकर उसने विनम्रता तथा शांति के साथ मुनि को सब घटना सुनाई और क्षमा मांगने लगी। मुनि ने गहराई से देखा, उसके चेहरे पर अशांति की एक लहर भी नहीं थी, पीड़ा और झल्लाहट की एक शिकन भी नहीं थी। बल्कि इतना नुकसान होने पर भी मुनि के प्रति वही भक्ति उमड़ रही थी, वह उसी शांति के साथ मुनि से क्षमा प्रार्थना कर रही थी। कुछ ही क्षणों में मुनि के स्थान पर एक दिव्य रूप धारी देव प्रकट हो गया। सुलसा कुछ समझ न पाई। देवता ने उसका अभिनन्दन करते हुए कहा—"देवानुप्रिये! तुम धन्य हो, देवराज शक्रेन्द्र ने देव सभा में तुम्हारी क्षमाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। देवराज ने कहा—"तुम अपनी सम्यक्त्व व श्रावक धर्म में इतनी दृढ़ हो कि देव, दानव या मानव कोई भी शक्ति तुम्हें विचलित नहीं कर सकती। मैं उसी परीक्षा के लिए यहाँ आया था और हाथ से वर्तन गिराने की सब माया मैंने रची थी। तुम्हारी धार्मिकता से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। मेरी इस प्रसन्नता में तुम कुछ वर मांगो।"

सुलसा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"धन, ऐश्वर्य व सम्मान प्रतिष्ठा

की मेरे लिए कोई कमी नही है। एक ही अभाव मेरे मन मे खल रहा है, जो स्वय आप समझते है। यह मनोरथ भी समय आने पर स्वत फलीभूत हो जायेगा।"

सुलसा की क्षमा, निस्पृहता एव विनम्रता से देवता अत्यन्त प्रसन्न हो उठा। उसने कहा—"बहन! तुम ये बत्तीस गोलिया लो! एक-एक गोली समय पर खाना बत्तीस सुन्दर पुत्रो की प्राप्ति होगी। और भी जब कभी कोई सेवा हो तो मुझे याद करना।" सुलसा ने बत्तीस गोलियाँ ले ली, देव अन्तर्ध्यान हो गया।

सुलसा ने सोचा—"बत्तीस पुत्रो का मैं क्या करूँगी ? सूने घर को भरने के लिए एक ही सत्पुत्र काफी है। यदि इन गोलियों को एक साथ खालूँ तो बत्तीस शुभ लक्षणो से युक्त एक ही पुत्र हो जायेगा।" सुलसा ने सभी गोलियाँ एक साथ खा ली। कुछ समय बाद उसके उदर मे भयकर पीड़ा आरम्भ हो गई। वह वेदना से तिलमिलाने लगी। कष्ट दूर करने के लिए उसने देवता को याद किया। देवता उपस्थित हुआ। सुलसा ने अपनी कहानी सुनाई तो देव ने कहा—"बत्तीस गोलियाँ एक साथ खाकर तुमने भयकर भूल की है। इससे तुम एक साथ बत्तीस पुत्रो को जन्म दोगी, उनमे से यदि एक की मृत्यु हो गई तो सब की मृत्यु सभव है।"

सुलसा कर्मों पर विश्वास करती थी। उसने कहा—"आखिर जो भवितव्यता है वही होती है। आपके निमित्त से कुछ बन भी गया, तो आखिर मे उसका परिणाम तो वही आया है। देव ने अनुकम्पा कर सुलसा के कष्ट को कम किया। समय पर सुलसा ने बत्तीस पुत्रो को जन्म दिया। बत्तीसो की समान आकृति, समान प्रकृति व समान व्यवहार देख कर सब को आश्चर्य हुआ। उनकी सुकुमारता, भव्यता और चचलता से दर्शक का मन मुग्ध हो जाता था। नागरथिक का सूना घर खिल उठा। जब वह अपने फूलो-से सुकुमार बच्चो की ओर पलक उठाता तो उसका दिल हिलोरे लेने लगता।

बत्तीसो कुमार युवा हुए। युद्ध कला मे दक्षता प्राप्त कर वे महाराज

श्रेणिक के अंग-रक्षक नियुक्त हुए। श्रेणिक ने जव वैशाली से चेलणा का अपहरण कर भूमि मार्ग से राजगृह की ओर प्रस्थान किया तो चेटक ने उसका पीछा किया। अंगरक्षकों ने मार्ग में चेटक को रोक लिया। वे जव तक युद्ध करते रहे श्रेणिक चेलणा को लेकर राजमहलों में पहुँच गये थे। चेटक से संघर्ष करते एक अंगरक्षक मारा गया, और तभी वाकी इकत्तीस भी खड़े-खड़े गिर पड़े।

वत्तीस पुत्रों की एक साथ मृत्यु होने से सुलसा का कलेजा दहल उठा। वह धर्म की जानकार और दृढ़ श्रद्धालु थी, फिर भी पुत्रों के स्नेह एवं अनुराग में विह्वल हो उठी। महामंत्री अभयकुमार सुलसा को सान्त्वना देने आये। सुलसा ने मन को समझाया, पुत्र शोक दूर करने वह धर्म ध्यान में लीन रहने लगी।

एक समय भगवान महावीर चम्पानगरी में पधारे। वहाँ अम्वड़ परिव्राजक जो भगवान का श्रावक था प्रभु की देशना सुनने आया। अम्वड़ अपनी विद्याओं के वल पर तरह-तरह के रूप वदल सकता था। उसने धर्म प्रवचन सुनने के वाद प्रभु से कहा—"भन्ते! आपका उपदेश सुनकर मेरा जन्म सफल हो गया। ...... मैं आज राजगृह जा रहा हूँ।"

भगवान महावीर ने कहा—"राजगृह में सुलसा श्राविका रहती है। वह अपने श्रावक धर्म में वहुत दृढ़ एवं जिन प्रवचन में अविचल आस्था रखती है। ऐसे श्रावक विरले होते हैं, उसे धर्म संदेश कहना।"

भगवान के मुख से सुलसा की प्रशंसा सुनकर अम्वड़ ने सोचा—"धन्य है वह पुण्य-शालिनी। जिसकी दृढ़ धार्मिकता की स्वयं भगवान प्रशंसा कर रहे हैं। भगवान के लाखों श्रावक-श्राविकाओं में सुलसा वास्तव में ही सर्वोत्कृष्ट श्राविका हैं।" अम्वड़ ने सुलसा की परीक्षा लेनी चाही। उसने परिव्राजक का रूप वनाया, अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाकर राजगृह के हजारों लोगों को चमत्कृत कर डाला। मुख-मुख पर अम्वड़ की प्रशंसा होने लगी। हजारों लोग अम्वड़ को अपने-अपने घर भिक्षा का निमंत्रण देने लगे। पर उसने

किसी का निमंत्रण स्वीकार नही किया। लोगो के पूछने पर उसने सुलसा के घर भोजन करने को कहा। लोग दौडे-दौडे सुलसा के घर बधाइयाँ देने आये—"अम्बड जैसे महातपस्वी तुम्हारे घर बिना प्रार्थना किए भोजन करेंगे, तू कितनी सौभाग्यशालिनी है ?"

सुलसा ने उपेक्षा पूर्वक कहा—"आप इसे तपस्या समझते है, और मैं इसे ढोंग मानती हूँ।"

सुलसा के उत्तर से लोग चकित रह गये। अम्बड ने जब यह सुना तो उसने जान लिया—"सुलसा के मन पर मेरे चमत्कारो और वाह-वाही का कोई असर नही होने वाला है। वास्तव मे ही उसकी प्रज्ञा स्थिर है, श्रद्धा अविचल है। वह धर्म को लोकरंजन से दूर आत्म-शुद्धि की अमोघ प्रक्रिया के रूप मे मानती है। उसकी श्रद्धा को मैं तो क्या, कोई दैवी शक्ति भी विच-लित नही कर सकती।" अम्बड निर्ग्रन्थ का रूप बनाकर सुलसा के घर आया, सुलसा ने भक्तिपूर्वक नमस्कार कर सम्मान दिया। अम्बड ने अपना असली रूप प्रगट कर भगवान महावीर द्वारा की गई प्रशसा की बात कही और स्वय भी श्रद्धापूर्वक अभिवादन कर मुक्त मन से उसके गुण-गान करने लगा।

सुलसा की जीवन घटना ने नारी मन की सहज श्रद्धा को विवेक एव परिपक्वता के उच्चतम शिखर पर स्थापित किया है। उसके मन को गहराई और उदारता तो लक्षपाक तेल के तीन घडे फूट जाने पर भी स्थिर मन एव शात हृदय रहने मे उजागर हो रही है। इधर बत्तीस पुत्रो को एक साथ मृत्यु ने उसे झकझोर अवश्य दिया, पर अपने तत्त्वज्ञान से उसने उन क्रूर आघातो को भी सहज रूप मे बर्दाश्त कर नारी के मन की अपूर्व धीरजता का भी परिचय दिया है। उसकी अविचल धर्म श्रद्धा की तो भगवान ने भी प्रशसा की है। वास्तव मे नारी जाति के इस गरिमामय व्यक्तित्व की झाकी श्रमण परम्परा के नारी-गौरव का एक सुन्दर प्रतिबिम्ब है। ●

१०　तत्त्वशोधिका : जयंती

श्रमणसंस्कृति की नारी केवल सेवा, सहिष्णुता एवं वैराग्य में ही अग्रणी नहीं, किंतु शिक्षा एवं तत्त्वज्ञान में भी पुरुषों से आगे बढ़कर चली हैं। वैदिक साहित्य में गार्गीवाचक्नवी का उल्लेख आता है, जो बड़ी-बड़ी धर्म सभाओं में ऋषियों के समान स्तर पर बैठकर उनसे तत्त्वज्ञान की गंभीर चर्चाएँ करती थीं। गार्गी के व्यवहार में ज्ञान की एक कृत्रिम अल्हड़ता-सी थी, जिससे कभी-कभी ऋषिगण क्षुब्ध हो उठते थे। कहते हैं एक बार वह किसी सभा में निर्वसना ही चली गई। ऋषियों ने कहा—"तुझे पुरुषों से लज्जा करनी चाहिए।" इस पर गार्गी ने बड़े अल्हड़ भाव से कहा—"इस सभा में पुरुष कौन है ? सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ हैं। पुरुष तो सिर्फ याज्ञवल्क है। और उससे लज्जा कैसी ? मैं भी उसके समान पुरुष ही हूँ। ज्ञान में उसकी मेरी समानता है, अतः हम दोनों ही पुरुष हैं।" तत्त्वज्ञान का यह एक सूक्ष्म दर्प था जिससे ऋषिजन भी क्षुब्ध रहते थे।

जैन साहित्य में तत्त्वशोधिका जयंती का वर्णन बड़े आदर के साथ किया गया है। जयंती वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन एवं उदयन की बुआ

थी। कौशाम्बी मे आने वाले साधु पहले पहल जयन्ती के यहाँ वसति की याचना करते थे। प्रथम शय्यातर के रूप मे जयन्ती प्रसिद्ध थी। भ० महावीर के तत्त्व दर्शन मे जयन्ती की अगाध श्रद्धा थी। उसकी तर्क शैली बड़ी सूक्ष्म और सलुलित थी। वह अनेक बार भ० महावीर की धर्म सभाओ मे प्रश्नोत्तर किया करती थी। ज्ञान के साथ विनय उसका आदर्श था।

एक बार भगवान महावीर कौशाम्बी पधारे। जयती अपने पुत्र के साथ भगवान को वन्दना करने गई। धर्म देशना सुनने के पश्चात् वह प्रभु के निकट आई और बद्धाञ्जलि प्रार्थना की—"भन्ते! मेरे मन मे कुछ जिज्ञासाएँ उठी है, मैं पूछना चाहती हूँ।"

भगवान की अनुमति पाकर जयन्ती ने अनेक प्रश्न किये। आत्मा का गुरुत्व, लघुत्व, भव्यत्व अभव्यत्व आदि अनेक तर्क प्रधान एव जिज्ञासा प्रधान प्रश्नो को सुनकर उपस्थित सभा चकित रह गई। जयन्ती के कुछ प्रश्न इस प्रकार है।

जयन्ती—"भन्ते! आत्मा गुरुत्व को कैसे प्राप्त होती है?

महावीर—"जयन्ती! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह दोष—पाप हैं। इनके आसेवन से आत्मा शीघ्र ही गुरुत्व को प्राप्त होती है।"

जयन्ती—"भन्ते! आत्मा लघुत्व को कैसे प्राप्त होती है?"

महावीर—"जयन्ती! प्राणातिपात आदि के अनासेवन से आत्मा लघुत्व को प्राप्त होती है। प्राणातिपात आदि के सेवन से आत्मा जिस प्रकार ससार को बढाती है, ससार मे भ्रमण करती है, उसी प्रकार उनके अनासेवन-निरोध से ससार को घटाती है, भव भ्रमण दूर करती है।"

जयन्ती—"भगवन्! जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ?"

महावीर—"जयन्ती! कुछ एक जीवो का सोना अच्छा है, और कुछ एक का जागना।"

जयन्ती—"भन्ते यह कैसे?"

महावीर -- "जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का ही अनुसरण करते हैं, जिन्हें अधर्म ही प्रिय हैं, जो अधर्म में ही आसक्त हैं, जो अधर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं, उनका सोना ही अच्छा है। ऐसे जीव जब सोते रहते हैं, तब प्राण-भूत-जीव-सत्व समुदाय के शोक का कारण नहीं बनते। ऐसे जीवों के सोते रहने से दूसरों के लिए बहुत से अधार्मिक कार्यों की संयोजना नहीं होती, अतः ऐसे अधार्मिक जीवों का सोना ही अच्छा है।"

और जयन्ती ! जो जीव धार्मिक हैं, धर्मप्रिय एवं धर्म में हर्षित एवं धर्मजीवी है। उनका जागना अच्छा है। ऐसे जीव जागते हुए बहुत से जीवों के दुःख और परिताप को दूर करने का कार्य करते हैं, अतः उनका जागते रहना अच्छा है।

जयन्ती—"भगवन् ! जीवों की दुर्बलता अच्छी है या सबलता ?

महावीर— कुछ जीवों की सबलता अच्छी है और कुछ जीवों की दुर्बलता अच्छी है।"

जयन्ती—"भन्ते ! यह कैसे ?"

महावीर जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं और अधर्म से ही जीविकोपार्जन करते हैं, उनकी दुर्बलता ही अच्छी है। क्योंकि उनकी दुर्बलता अन्य प्राणियों के लिए दुःख का निमित्त नहीं बनती। और जो जीव धार्मिक हैं, उनका सबल होना अच्छा है।"

जयन्ती—"भगवन् ! जीवों को दक्ष व उद्यमी होना अच्छा है या आलसी ?"

महावीर—"जयन्ती ? कुछ जीवों का उद्यमी होना अच्छा है और कुछ का आलसी होना।"

जयन्ती—"क्षमाश्रमण ! यह कैसे ?"

महावीर—'जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक है, अधर्मजीवी है, उनका आलसी होना अच्छा है। और जो जीव धर्माचरण करते हैं उनका उद्यमी होना अच्छा है।

थी। कौशाम्बी मे आने वाले साधु पहले पहल जयन्ती के यहाँ वसति की याचना करते थे। प्रथम शय्यातर के रूप मे जयन्ती प्रसिद्ध थी। भ० महावीर के तत्त्व दर्शन मे जयन्ती की अगाध श्रद्धा थी। उसकी तर्क शैली बडी सूक्ष्म और सतुलित थी। वह अनेक बार भ० महावीर की धर्म सभाओ मे प्रश्नोत्तर किया करती थी। ज्ञान के साथ विनय उसका आदर्श था।

एक बार भगवान महावीर कौशाम्बी पधारे। जयती अपने पुत्र के साथ भगवान को वन्दना करने गई। धर्म देशना सुनने के पश्चात् वह प्रभु के निकट आई और बद्धाञ्जलि प्रार्थना की—"भन्ते! मेरे मन मे कुछ जिज्ञासाएँ उठी है, मै पूछना चाहती हूँ।"

भगवान की अनुमति पाकर जयन्ती ने अनेक प्रश्न किये। आत्मा का गुरुत्व, लघुत्व, भव्यत्व अभव्यत्व आदि अनेक तर्क प्रधान एव जिज्ञासा प्रधान प्रश्नो को सुनकर उपस्थित सभा चकित रह गई। जयन्ती के कुछ प्रश्न इस प्रकार है।

जयन्ती—"भन्ते! आत्मा गुरुत्व को कैसे प्राप्त होती है?

महावीर—"जयन्ती! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह दोष—पाप है। इनके आसेवन से आत्मा शीघ्र ही गुरुत्व को प्राप्त होती है।"

जयन्ती—"भन्ते! आत्मा लघुत्व को कैसे प्राप्त होती है?"

महावीर—"जयन्ती! प्राणातिपात आदि के अनासेवन से आत्मा लघुत्व को प्राप्त होती है। प्राणातिपात आदि के सेवन से आत्मा जिस प्रकार ससार को बढाती है, ससार मे भ्रमण करती है, उसी प्रकार उनके अनासेवन-निरोध से ससार को घटाती है, भव भ्रमण दूर करती है।"

जयन्ती—"भगवन्! जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ?"

महावीर—"जयन्ती! कुछ एक जीवो का सोना अच्छा है, और कुछ एक का जागना।"

जयन्ती—"भन्ते यह कैसे?"

महावीर-- "जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का ही अनुसरण करते हैं, जिन्हें अधर्म ही प्रिय हैं, जो अधर्म में ही आसक्त हैं, जो अधर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं, उनका सोना ही अच्छा है। ऐसे जीव जब सोते रहते हैं, तब प्राण-भूत-जीव-सत्व समुदाय के शोक का कारण नहीं बनते। ऐसे जीवों के सोते रहने से दूसरों के लिए बहुत से अधार्मिक कार्यों की संयोजना नहीं होती, अतः ऐसे अधार्मिक जीवों का सोना ही अच्छा है।"

और जयन्ती ! जो जीव धार्मिक हैं, धर्मप्रिय एवं धर्म में हर्षित एवं धर्मजीवी हैं। उनका जागना अच्छा है। ऐसे जीव जागते हुए बहुत से जीवों के दुःख और परिताप को दूर करने का कार्य करते हैं, अतः उनका जागते रहना अच्छा है।

जयन्ती—"भगवन् ! जीवों की दुर्बलता अच्छी है या सबलता ?

महावीर— कुछ जीवों की सबलता अच्छी है और कुछ जीवों की दुर्बलता अच्छी है।"

जयन्ती—"भन्ते ! यह कैसे ?"

महावीर जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं और अधर्म से ही जीविकोपार्जन करते हैं, उनकी दुर्बलता ही अच्छी है। क्योंकि उनकी दुर्बलता अन्य प्राणियों के लिए दुःख का निमित्त नहीं बनती। और जो जीव धार्मिक हैं, उनका सबल होना अच्छा है।"

जयन्ती—"भगवन् ! जीवों को दक्ष व उद्यमी होना अच्छा है या आलसी ?"

महावीर—"जयन्ती ? कुछ जीवों का उद्यमी होना अच्छा है और कुछ का आलसी होना।"

जयन्ती—"क्षमाश्रमण ! यह कैसे ?"

महावीर—'जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक है, अधर्मजीवी है, उनका आलसी होना अच्छा है। और जो जीव धर्माचरण करते हैं उनका उद्यमी होना अच्छा है।

इस प्रकार महावीर की धर्म सभा मे विविध प्रश्न कर जयन्ती का मन अत्यन्त प्रीणित हो उठा। उसका मन पहले से ही विरक्त था। अब तो भगवान के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील होने से उसने उनका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहा। महावीर ने जयन्ती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दी और वह आर्या चन्दना के निकट प्रव्रजित हो गई।[1]

१. भगवती सूत्र: श० १२ उ० २

११ | धर्मशीला महारानी चेलणा
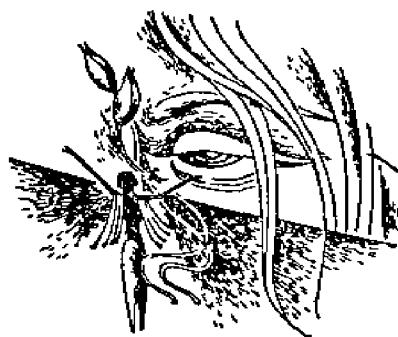
नारी जाति में जिस प्रकार सुकुमारता एक प्राकृतिक देन है, उसी प्रकार धार्मिक सहिष्णुता एवं धार्मिक निष्ठा भी, लगता है उसके रक्त में घुली हुई यह प्राकृतिक सिद्धि है। महारानी चेलणा इस तथ्य का सजीव उदाहरण है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार महाराज श्रेणिक जब युवराज थे तो वे पितृगृह का त्याग कर राज्य से बाहर चले गये। इस बीच वे बौद्धधर्म के प्रति आकृष्ट हुए और जैन धर्म से कुछ दूर जा पड़े। पुनः मगध के सिंहासन पर आसीन होने के बाद जब वे महाराज चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा के सौन्दर्य पर मुग्ध हुए तो उन्होंने चेटक से सुज्येष्ठा के लिये याचना की। श्रेणिक का बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण देखकर चेटक ने अपनी कन्या देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। श्रेणिक इस घटना से दुखी हो गये। सुज्येष्ठा के प्रति उनका अनुराग और तीव्र होगया। गुप्तचरों द्वारा सुज्येष्ठा के मन में भी श्रेणिक के प्रति अनुराग जगाया गया। और सुज्येष्ठा का अपहरण कर राजगृह ले जाने

का षड्यत्र रचा गया। वैशाली के राजमहलो से लेकर राजगृह तक सुरग खुदवाई गई। सुज्येष्ठा के साथ चेलणा भी इस चक्र मे आ फँसी। वह भी मन ही मन श्रेणिक के प्रति आकृष्ट थी और सुज्येष्ठा के साथ वह भी उस भूमिमार्ग से निकल जाने को तैयार हो गई। समय पर सुज्येष्ठा पीछे रह गई और श्रेणिक चेलणा का हरण कर राजगृह ले आये।

राजगृह आने पर जब चेलणा को ज्ञात हुआ कि श्रेणिक बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट है और निर्ग्रन्थो से घृणा करने लगे है, तो वह अपने किये पर पछताने लगी। फिर भी उसने धीरज रखा, सहिष्णुतापूर्वक वह श्रेणिक की शाक्य-भक्ति को सहती गई। चेलणा स्वय विदुषी थी। उसने युक्तियो से महाराज को निर्ग्रन्थो के प्रति आकृष्ट करना चाहा। दोनो के बीच कभी-कभी धार्मिक विवाद भी खडा हो जाता, पर यह विवाद केवल वैचारिक जीवन तक ही रहता। चेलणा मे इतनी धार्मिक सहिष्णुता थी कि वह महावीर की उपासिका होते हुए भी श्रेणिक को कभी भी उसने महावीर के निकट आने के लिये विवश नही किया। और न ही यह धार्मिक विवाद उनके दापत्य की प्रसन्नता को भग कर पाया।

स्वधर्म निष्ठा और परधर्म सहिष्णुता—आज के युग की मुख्य समस्या है। वर्तमान समाज मे, विशेप कर नारी जाति मे आज जितनी स्वधर्म के प्रति निष्ठा है, उतनी ही परधर्म सहिष्णुता भी हो—यह आज का हर बौद्धिक चिन्तक पुकार रहा है। आज से पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के इतिहास मे जैन नारियो मे पर-धर्म सहिष्णुता का यह आदर्श एक शिक्षाप्रद उदाहरण है जिसकी साक्षात्छवि चेलणा और सुभद्रा के जीवन मे प्रतिबिम्बित होती प्रतीत हो रही है।

चेलणा की तरह सुभद्रा भी एक परधर्मानुयायी परिवार मे वधू बनकर गई। पतिगृह मे धार्मिक कट्टरता के साथ धार्मिक विद्वेष भी चरम सीमा पर था। पति व सास आदि की ओर से उसे जो यन्त्रणाएँ व पीडाएं सहनी पडी वे जैनकथा साहित्य मे बडे रोमाचक ढग से लिखी हुई मिलती हैं। किंतु

सुभद्रा ने अपने विवेक एवं धार्मिक सहिष्णुता का अद्भुत परिचय दिया। उसने एक भी शब्द किसी धर्म व धर्मगुरुओं की निन्दा में कहा हो—ऐसा नहीं मिलता। सुभद्रा जो चम्पानगरी के श्रेष्ठी की कन्या थी, अपने निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति जितनी दृढ़ आस्था रखती थी, उतनी ही अन्य धर्मों के प्रति तितिक्षा भी रखती थी। उसकी शील एवं सदाचार की विमलकीर्ति तो चम्पावासियों के मुँह-मुँह पर नाच रही थी। सास ने जब धर्म द्वेप के कारण सुभद्रा के सिर पर मुनि के साथ दुष्कर्म करने का कलंक लगाया तो सुभद्रा मौन व शांति के साथ इस विष घूँट को पीकर रह गई। उसने किसी पर भी आक्रोश नहीं किया, शाप नहीं दिया। किन्तु जब समय आया, उसके सतीत्व की अग्नि परीक्षा हुई। चंपानगरी के द्वार जब हाथियों के शुंडा-प्रहारों से भी नहीं टूटे, तो सुभद्रा ने पानी के छींटे देकर उद्घाटित कर दिये। सुभद्रा के तेजस्वी सतीत्व की निर्मल कीर्ति से दिग्दिगन्त मुखरित हो उठे।

लगता है सतीत्व तेज जैन नारी की जन्मजात सिद्धि रही है। महारानी चेलणा के सतीत्व की स्वयं भगवान महावीर ने प्रशंसा की थी। एक बार की घटना है—भीषण सर्दी पड़ रही थी। सायंकाल के समय महाराज श्रेणिक एवं चेलणा उपवन से घूम कर आते हुए नदी तट पर एक मुनि को ध्यानस्थ खड़े देखा। रात को सर्दी में रानी का हाथ रजाई से बाहर रह गया तो हाथ ठिठुर गया था। रानी जागी तो उसे सहसा मुनि की याद आ गई। उसके मुँह से निकल पड़ा—"अहा ! वह क्या करता होगा ?" राजा ने रानी के मुँह से ये शब्द सुने तो उसका मन शंकाओं से भर गया। प्रातः उसने अभयकुमार को बुलाकर आदेश दिया—"महलों में दुराचार पलता है, इन्हें जला डालो।" और श्रेणिक भगवान की वन्दना करने चले गये। बुद्धिनिधान अभयकुमार ने महल खाली करवाये और उन्हें आग लगादी।

भगवान महावीर ने श्रेणिक के मन की संदेह ग्रन्थि खोलते हुए कहा—"चेलणा सती है, अपने पतिव्रत में वह एकनिष्ठ और निष्पाप है।" श्रेणिक अपने मूर्खतापूर्ण आदेश पर पछताते हुए शीघ्र महलों की ओर आये। महलों

मे धुआँ उठते देखकर अनिष्ट की कल्पना से उनका कलेजा धक्-धक् कर उठा। अभयकुमार से पूछा—"महल का यह क्या किया ?" अभयकुमार ने उत्तर दिया—"आपके आदेशानुसार जला दिया।" श्रेणिक अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे, इस क्षुब्धता में उनके मुँह से निकल पडा—"मूर्ख ! दूरे व्रज ! मुख मा दर्शय" मूर्ख ! दूर चला जा, मुझे मुँह मत दिखा।" अभयकुमार पितृवाक्य को शिरोधार्य कर भगवान महावीर के चरणो मे पहुँचे और प्रव्रजित हो गये।[१]

उपसंहार

नारी चरित्र के उज्जवल गुणो को उजागर करने वाले ये कुछ उदाहरण है, जिनका सीधा सम्बन्ध जैन साहित्य एव जैन सस्कृति के साथ जुडा हुआ है। इस प्रकार के अगणित जीवन, व घटनाएँ जैन साहित्य के पृष्ठो पर आज भी अमर है, जो नारी जाति के विविध जीवन्त गुणो को चमत्कृत कर रही है। नारी सेवा, सहिष्णुता, त्याग, वैराग्य शील एव सदाचार की ही विभूति हो नही, किन्तु शौर्य, धैर्य, क्षमा, उदारता, श्रद्धा, तपस्या, शिक्षा और तत्त्वज्ञान मे भी कभी पीछे नही रही है। श्रमणसस्कृति ने पुरुष के समान ही नारी के जीवन को समस्त दिव्य गुणो से मडित किया है, और ऐसे सहस्रो चरित्र लिपिबद्ध किये है, जिनमे नारी के हजारो हजार दिव्य रूपो की मधुर छवि अकित हुई है।

जैनसाहित्य मे कुछ महान नारियो के चरित्र तो इतने व्यापक है कि उन पर आज किसी भी एक सस्कृति की मुद्रा नही लगाई जा सकती। वे अखिल भारतीय या अखिल मानवीय सपत्ति बन गये है, और प्रत्येक भारत-वासी को, आर्य सस्कृति के प्रेमी को उन चरित्रो के नाम पर गौरव है। सीता, द्रौपदी, दमयती—आदि को जैन सस्कृति ने सोलह महासतियो की गणना मे ली है। और प्रत्येक जैन उनका नाम बडे आदर एव श्रद्धा के साथ स्मरण

---

१ भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति पत्र-३८-४०

करता है। तीर्थङ्करों की स्तुतियों के साथ ही आज हजारों-हजार जैन नर-नारियों के कंठों में प्रातःकाल ये ध्वनियाँ गूँजती सुनाई देती हैं—

ब्राह्मी चन्दनबालिका भगवती,
राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा,
सीता सुभद्रा शिवा ।
कुन्ती शीलवती नलस्यदयिता,
चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन मुखे,
कुर्वन्तु नो मंगलम् ।।

इन महासतियों के नाम स्मरण के साथ आज प्रत्येक जैन अपने जीवन की मंगल कामनाएँ करता है। श्रद्धा के दिव्य भाव संजोकर प्रातःकाल में मन को पवित्र बनाता है।

सीता, द्रौपदी, दयमंती, अंजना आदि सतियों का जीवन आर्यसंस्कृति की एक महान थाती है। इन नारियों के जीवन में विपत्तियों के जो तूफान आये हैं, वे शायद किसी पुरुष के जीवन में आये होते तो, पता नहीं इतिहास क्या लिखता। किंतु यह बात भी सच है कि विपत्तियों की अग्नि ने ही उनके जीवन स्वर्ण को चमका कर दिव्य रूप प्रदान किया है। विपत्ति में ही मनुष्य चमकता है—

सुर्खरू होता है इन्सां आफतें आने के बाद ।
रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद ।

और जो इन विपत्तियों को हँस-हँस कर सह जाते हैं वे ही वास्तव में संसार के इतिहास में चिरस्मरणीय होते हैं—

होते हैं बड़े किस्मत के धनी,
जो यह सदमे सह जाते हैं ।

तूफाने-हवादस में वर्ना,
अच्छे-अच्छे बह जाते है ।

फूलो की सुकुमार शय्या पर चलने वाली सीता जब वन-वन मे कंकड पत्थरो मे पैर छिलाती हुई, ठोकरे खाती हुई, भूखी प्यासी वन्ययंत्रणाओ मे घिरी रहकर भी अपने आराध्य पतिदेव की एकनिष्ठ भाव से सेवा कर रही है । और लंकाधीश रावण के कठोर चगुल मे रहकर भी अपने शील-सदाचार की अखण्ड सुरक्षा कर रही है, उस सीता की पवित्रता मे भी लोकापवाद के कारण राम सदेहशील हो उठते है और गर्भवती असहाय रानी को घोर जगल मे वन्य पशुओ का भक्ष्य बनाकर छोड देते है । सीता वहाँ बैठी राम की मगल कामना करती है, उनके दुर्व्यवहार को अपने कृत कर्मो का फल मानकर राम को सर्वथा निर्दोष करुणावान मानकर उसी भाव से पूजती है । यह कितना ऊँचा आदर्श है नारी की उदारता और महानता का । आक्रमण करने वालो पर भी वह मुस्कराती है, काँटे बर्षाने वालो को भी वह फूल चढाकर पूजती है । उर्दू के शायर 'जोश' का यह शेर सीता की इस कहानी पर याद आ जाता है—

इक नया अहसास इस सीने मे अब पाला हूँ मैं,
दुश्मनी करते हैं दुश्मन और शरमाता हूँ मैं ।
बेकसी-मजबूर इन्सा को दुआ देता हूँ मैं,
वार करता है कोई तो मुस्करा देता हूँ मैं ।

सीता की तितिक्षा, उदारता, सहिष्णुता, कठोर सयम और आत्म-नियन्त्रण वास्तव मे ही अद्वितीय थे, जिससे आज भी नारी जाति का गौरव शिखर पर चढा हुआ है ।

इसी प्रकार द्रौपदी की पुत्रघातक अश्वत्थामा पर अद्भुत क्षमा, अजना का अपूर्व धैर्य, जो घर मे तिरस्कृता अपमानिता रहकर भी अपने विवेक को सँभाले रही है, पुरुष के सौ-सौ अपराधो को भी क्षमा करती रही, और उसकी दुत्कार पर भी भगवान से उसकी मगल प्रार्थनाएँ करती रही ।

सद्गुणों के ऊर्ध्वमुखी विकास में, चारित्रिक श्रेष्ठता में, सेवा, तितिक्षा, संयम एवं सहिष्णुता में जो आदर्श भारतीय नारी ने उपस्थित किया है वह संसार की देव दुर्लभ सिद्धि है । मैं विश्वास के साथ कह सकती हूँ यदि पुरुष जाति ने नारी के साथ घृणा, भेद, एवं असमानता का व्यवहार न किया होता तो नारी ने अपने चरित्र से, अपनी सहज गुण समृद्धि से मानव जाति के इतिहास को कुछ दूसरा ही रूप दिया होता—जिसमें प्रेम, सेवा, करुणा, स्नेह एवं सरलता की निर्मल तरंगे उछलती रहतीं । मानव-मानव आज भ्रातृ-भाव की, दिव्य कड़ियों से बँधा रहता । और मानव सृष्टि, आनन्द उल्लास की हिलोरों में मगन रहती । काश ! नारी के इस गौरवमय अतीत की धारा अतीत से वर्तमान तक अपने निर्मल प्रवाह को अक्षुण्ण रख पाती !

आदर्श जैन नारी...

जो सौन्दर्य की नही,
शील की उपासिका हो,
जो स्नेह एव प्र म की
जीवितमूर्ति,
मधुरता की शीतल गगा,
त्याग की अखण्ड ज्वाला
और
सेवा की भावना
जिसके जीवन के कण-कण में
ओत - प्रोत हो,
जो विपति मे वज्र बन कर
और
सपत्ति में फूल बनकर
वीरता और कोमलता का
मधुर संगम करती हो,
वही है
श्रमण सस्कृति की प्रतीक
आदर्श जैन नारी....

—उपाध्याय श्री अमर मुनि

खण्ड : २

रेखांकन :

व्यक्तित्व-दर्शन

जीवन दर्शन

१ | ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व श्रमण भगवान महावीर ने जिस धर्मक्रांति का प्रवर्तन किया था, उसके स्वर उनके जीवन काल में काफी मुखर रहे हैं। धार्मिक विचारों में यज्ञवाद, दैववाद एवं जातिवाद का जो घना कुहरा छाया हुआ था, भगवान महावीर के क्रांति उद्घोषों के प्रबल प्रभंजन से वह काफी छंट गया था। सामाजिक यात्रा पथ भी, जो धर्म की मंजिल पर जाकर समाप्त होता था, वहां भी वर्गवाद, उच्चनीचभाव, स्त्री पुरुष का भेद, शूद्र-ब्राह्मण संघर्ष, दास प्रथा आदि विविध झाड़-झंखाड़ों से दुरुह एवं भयानक हो रहा था। भगवान महावीर के क्रांत चरणों ने इस पथ की भीषण झाड़ियों को उखाड़ कर मार्ग को सरल एवं सहज बनाने का प्रयत्न किया था।

भगवान महावीर ने समता प्रधान संयम धर्म का उपदेश किया और आत्म-पुरुषार्थ से उसकी सिद्धि करने का मार्ग बताया। धर्म-साधना में उच्चनीच, स्त्री-पुरुष के भेद को समाप्त किया। उनके धर्म संघ में गौतम जैसे कर्मकांडी ब्राह्मण भी दीक्षित हुए, मेघकुमार जैसे क्षत्रियपुत्र भी आये, शालिभद्र एवं धन्य जैसे श्रेष्ठीकुमार

(वैश्य) भी भगवान के चरणो मे प्रव्रजित हुए तो हरिकेशबल, मेतार्य जेसे अन्त्यज एव शूद्र भी उनके धर्म सघ मे आदर एव श्रद्धा के साथ पूजे गये। यद्यपि वह युग पुरुष-प्रधान युग था। धर्मशास्त्रो का निर्माण एव धार्मिक क्रियाकाडो का अधिकार पुरुष वर्ग के हाथो मे था, किंतु भगवान महावीर ने युग के इस अधिकारवाद को चुनौती देकर पुरुष के समान नारी को भी धार्मिक अधिकारो के सिहासन पर अर्धासन प्रदान किया।

भगवान महावीर के साधु सघ मे १४ हजार साधु थे और उनका नेतृत्व था ग्यारह गणधरो के हाथ मे। किंतु आश्चर्य के साथ गौरव की बात है कि ३६ हजार श्रमणियो के विशाल धर्म सघ का सपूर्ण नेतृत्व आर्या चन्दना ने सभाला और बडे ही सुचारु ढग से श्रमणी सघ का विकास किया। श्रमणीवर्ग के लिए और विशेषकर नारी जाति के लिए यह बहुत ही गौरव की बात है कि आज से पच्चीस शताब्दी पूर्व की नारी इतनी विकसित, प्रतिभासपन्न साहस तथा उच्च आत्मविश्वास से युक्त थी कि जिसने आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर होते हुए सघ सचालन का दायित्व जो सहज मे प्राप्त हुआ, उसे भी पूर्ण दक्षता एव योग्यता के साथ निर्वहन कर नारी जाति के मानसिक एव आध्यात्मिक उत्कर्ष का एक उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत किया।

/भगवान महावीर के श्रमणी सघ मे रानिया, राजकुमारियाँ, कुटुम्बिनिया आदि समाज के प्रत्येक वर्ग की महिलाए दीक्षित हुई थी। महाराज श्रेणिक की अनेक रानिया भगवान के चरणो की शरण मे आकर दीक्षित हुई थी। वत्सदेश के राजा शतानीक की रानी मृगावती जिसके बौद्धिक चातुर्य के समक्ष चडप्रद्योत जैसे पराक्रमी नरेश भी मात खा चुके थे, भगवान महावीर के साध्वी सघ मे प्रव्रजित हो आत्म कल्याण की दिशा मे बढी। भगवान महावीर

का श्रमणी संघ उस युग में सबसे विशाल, तेजस्वी एवं प्रभावशाली संघ था। श्रमणों की तरह श्रमणियां भी गांव-गांव नगर-नगर में घूमकर भगवान का धर्मसंदेश घर-घर पहुंचाती थीं, दर्शन एवं तत्त्व ज्ञान की गंभीर चर्चाओं को लेकर जीवन के नैतिक सिद्धान्तों पर समान रूप से प्रवचन करतीं, प्रेरणा देती और प्रतिबोध देकर उन्हें श्रावक एवं श्रमणधर्म में दीक्षित भी करतीं। भारतीय नारी के इतिहास में भगवान महावीर का युग वास्तव में ही एक स्वर्ण-युग था। उस युग में नारी जाति ने अपना खोया हुआ आध्यात्मिक गौरव, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आदर पुनः प्राप्त किया, और उसे विकास के चरम शिखर तक पहुंचाया। नारी जाति मे आत्म गौरव की अनुभूति कितनी तीव्रता के साथ जगी इसका एक उदाहरण बौद्ध साहित्य में मिलता है।[1] आनन्द के आग्रह पर बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षु संघ में स्थान दिया तो प्रजापति गौतमी के समक्ष बुद्ध ने कुछ शर्तें रखीं थीं। उनमें एक शर्त थी– "चिर दीक्षिता भिक्षुणी के लिए भी सद्यःदीक्षित भिक्षु वन्दनीय होगा।" गौतमी ने उसे स्वीकार तो किया, परन्तु इस शर्त ने उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुंचाई। वह चाहती थी विनय का नियम व विधि तो सहज आत्म-स्फूर्त होनी चाहिए, शर्त के रूप में नहीं। आखिर प्रव्रजित होने के बाद उसने एक दिन बुद्ध से पूछ ही लिया—"भन्ते ! चिर दीक्षिता भिक्षुणी ही नव-दीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे ऐसा क्यों ? क्यों न नव दीक्षित भिक्षु ही चिर-दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करें ?" बुद्ध ने इसका गोल-मटोल उत्तर दिया—"गौतमी ! इतर संघों में भी ऐसा नहीं है, हमारा धर्म संघ तो बहुत श्रेष्ठ है।"

आज से अढाई हजार वर्ष पूर्व गौतमी द्वारा उठाया गया यह तर्क उस युग में विकसित नारी जाति के आत्म-गौरव की स्पष्ट

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग

सूचना देता है। यद्यपि जैन परम्परा मे चिर दीक्षिता भिक्षुणी द्वारा नव दीक्षित भिक्षु को वन्दना करने की विधि है, किंतु भिक्षुणी के साथ ऐसी कोई शर्त नही, एक शिक्षा के रूप मे, व्यवहार के रूप मे बताई गई है। फिर भी यह प्रश्न आज समाधान चाहता है।

हाँ, तो मै बताना चाहती थी कि भगवान महावीर के युग मे नारी जाति का आध्यात्मिक एव सामाजिक गौरव चरम शिखर को छू रहा था। किंतु भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् यह गौरव पुन विलुप्त होने लग गया। जैन शासन पर जिस प्रकार भस्मग्रह की काली छाया पडी और उसका गौरव एव समृद्धि क्षीण-क्षीणतर होने लगी उसी प्रकार नारी जाति के जीवन पर भी एक प्रकार की भस्मराशि की काली छाया मँडराने लगी। धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो मे उसके क्षितिज पर चढे हुए गौरव एव सम्मान पर पुनः चोटें पडने लगी और बहुत ही शीघ्र उसका गौरव लुप्त प्राय हो गया। यद्यपि नारी के उत्कर्ष मे पुरुष जाति का जातीय अहकार सदा अवरोधक बना है, पर नारी के आध्यात्मिक अवमूल्यन का एकमेव वही कारण बना हो, ऐसा मै नही मानती। नारी जाति मे महावीरोत्तर काल मे सीता, द्रौपदी चदना, मृगावती, सुभद्रा, सुलसा, जयती जैसी प्रतिभाओं एवं तपोमूर्तियो का अभाव भी उसके गौरव को क्षीण करने में सहायक बना है।

भगवान महावीर के पश्चात्वर्ती श्रमण संघ का क्षत-विक्षत-सा इतिहास कुछ प्राप्त हुआ है और कुछ खोजा जा रहा है। ढाई हजार वर्ष के सुदीर्घ काल में सैकड़ो विद्वानो एव प्रखर ज्ञान प्रतिभा के धनी प्रभावक आचार्यों ने जैन शासन की गौरव-गरिमा को चमकाया है, किंतु आश्चर्य की बात है कि इस ढाई हजार वर्ष के काल मे एक भी ऐसी दिव्य प्रभावशालिनी नारी प्रतिभा का समुल्लेख नही मिलता, जिसने अपनी आत्म-ऊर्जा, बौद्धिक चातुर्य,

नीतिकौशल एवं प्रखरप्रतिभा से जैनशासन की कोई महनीय सेवा की हो। मैं यह नहीं मान सकती कि ऐसी दिव्य प्रतिभा ने जन्म ही नहीं लिया हो, किंतु हो सकता है या तो उसे अपने कर्तृत्व का तेज दिखाने का अवसर न दिया गया हो, या फिर इतिहास की कलम जिन पुरुष हाथों में रही है, उन्होंने उसको कोई महत्व न दिया हो। वर्ना जिस एक ही अर्धशतक युग में सकड़ों दिव्य नारी शक्तियों का प्रादुर्भाव दिखाई देता है उसके उत्तरवर्ती हजारों वर्षों में किसी तेजस्वी नारीशक्ति का धार्मिक जगत से सर्वथा लोप हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना है। अस्तु, इतिहास प्रेमियों के लिए यह अनुसंधान का विषय है और मैं आशा करती हूँ कि इस महत्वपूर्ण विषय पर अब अन्वेषकों की दृष्टि गहराई से जमेगी।

हां तो, ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में अब हम सीधी ही एक छलांग लगाने को विवश हैं। और मध्यकाल को अनुसंधान के लिए छोड़कर अब वर्तमान शताब्दी में स्थानकवासी समाज की कुछ तेजोमयी श्रमणियों के जीवन वृत्तों पर होती हुई अपने मूल कथ्य पर आना चाहती हूँ। ●

२
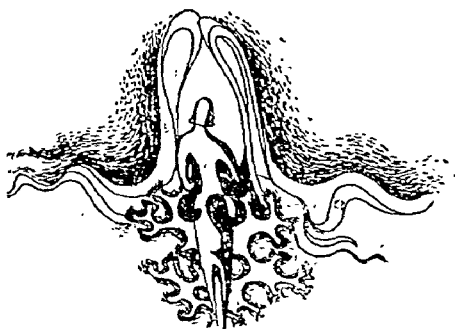
अध्यात्म तेजकी मूर्ति
प्रवर्तिनी महासती पार्वतीदेवी जी

आज से लगभग एकसौ सोलह वर्ष पूर्व वि० स० १६११ की यह घटना है। आगरा के निकट चौहानो का एक गाव है भोडपुरी। उस गाव मे एक प्रसिद्ध जमीदार रहते थे श्री बलदेवसिह। धनवती देवी उनकी धर्मपत्नी थी। दोनो के जीवन मे धार्मिक सस्कारो की धारा बह रही थी। परिश्रम, प्रामाणिकता एव सादगी की मधुर हिलारो से जीवन की बगिया विकसित होकर महक रही थी। वि० स० १६११ मे बलदेवसिह के घर एक कन्या का जन्म हुआ। समूचे घर एव परिवार मे खुशिया छा गई। गाव मे बधाइय: बँटने लगी।

मध्यकाल के भारतीय समाज मे और उसमे भी राजपूत एव जमीदार वर्ग मे, घर मे कन्या का जन्म, शोक एव चिता का विषय था। पुत्र जन्म से घर मे महनाईया बजती, थाल पाटे जाते और कन्या के जन्म से मुहरमी सूरत बनाए छाज पीटे जाते। कही-कही तो जन्म लेते ही कन्या भूमि मे गाडदी जाती। या किमी नि सतान

को दे दी जाती। मानव के मन को इस क्रूरता एवं दुर्भावना का बीज वस्तुतः कुछ अंधविश्वासों एवं सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं में छिपा है। मध्यकाल में पुरुष शौर्य एवं विजय का प्रतीक बन गया था और स्त्री भोग एवं सेवा की वस्तु मात्र समझी जाती थी। स्त्री के सौन्दर्य को लेकर बड़े-बड़े संघर्ष होते, उनके कारण माता-पिता को चिन्ताओं के भार से दबा रहना पड़ता। स्त्री के लिए कुछ इस प्रकार के सामाजिक कठोर बंधन, एवं रूढ़ियां बन गई थी कि उसका जीवन माता-पिता, पति एवं पुत्रों के लिए सदैव भार-सा बना रहता। उसे रूढ़ियों से जकड़ दिया गया, अज्ञान, अशिक्षा एवं अंधविश्वासों की कारा में उसे ठूंस दिया गया। यही कारण था कि स्त्री के प्रति जन्म से ही पुरुष के मन में भय, घृणा एवं तिरस्कार की भावनाएं जड़ जमाती गईं। घर में कन्या के जन्म लेते ही माता पिता शोक में डूब जाते। भविष्य की चिन्ताओं के गहन अंधकार में उनकी खुशियां विलीन हो जाती। और इस कारण जन्म से ही नारी कुंठा, प्रताड़ना, तिरस्कार एवं घृणा के वातावरण में पलने लगती। उसके समस्त विकास स्रोत अवरुद्ध हो जाते और वह पुरुष की इच्छापूर्ति का साधन मात्र बनकर रहने में ही जीवन की संतुष्टि मानने लगती।

वास्तव में स्त्री के प्रति यह धारणा घोर अज्ञान, एवं पुरुष की मानसिक क्षुद्रता के कारण पैदा हुई है। पुरुष-पुरुषार्थ का प्रतीक है, तो स्त्री लक्ष्मी का। पुत्र का जन्म जिस प्रकार घर में आनन्द एवं हर्ष का स्रोत बहाता है, उसी प्रकार कन्या का जन्म भी घर की समृद्धि, लक्ष्मी एवं वृद्धि का कारण होता है। इतिहास साक्षि है कि जो पुरुष पुत्रों के जन्म पर खुशियों में उछला है, वह उन्हीं पुत्रों द्वारा बंदी बनाकर कारागृह में पशु की तरह ठूंस दिया गया है, और एक दुश्मन की भांति निर्ममता पूर्वक अपने ही पुत्रों द्वारा मौत के घाट उतारा गया है। कंस और कूणिक से लेकर औरंगजेब तक की

हजारो घटनाए इसका सबल प्रमाण है। किंतु किसी भी कन्या ने अपने पिता या माता के साथ, अपने भाई या स्वजनो के साथ ऐसा क्रूर व्यवहार किया हो, इतिहास के किसी पृष्ठ पर भी इसकी समर्थक एक पक्ति नही मिलेगी।

विचारो के परिष्कार एव शिक्षा के प्रसार से आज ये धारणाएँ बदल रही है। कन्या के प्रति भी पुत्रवत् स्नेह माता पिता के हृदय मे जगने लगा है। पुत्र-पुत्री को समान स्तर व समान आदर दिया जा रहा है—यह प्रगति के शुभ चिन्ह हैं।

हा तो, मै कह रही थी श्रीबलदेवसिंह जी के घर में आज से सौ साल पहले भी ये उच्च सस्कार एव सद्विचार जग चुके थे। उन्हे कन्या के जन्म से उतनी ही खुशी हुई जितनी पुत्र के जन्म से। बल्कि उससे भी कुछ अधिक! कन्या को उन्होंने लक्ष्मी एव सरस्वती के रूप मे देखा। अपितु स्नेह एव वात्सल्य से उनका हृदय पुलक उठा। कन्या के शारीरिक शुभ लक्षण एव उच्च सस्कार उसकी मन-भावनी छवि पर जैसे बोल रहे थे। माता-पिता ने ज्योतिषी को बुलाकर कन्या की राशि आदि दिखाई। ज्योतिषी ने कहा—"जमीदार साहब! कन्या की राशि क्या देखनी है, यह साक्षात् सरस्वती का रूप है। आपके कुल को ही नही, जहा भी, जिस क्षेत्र मे, जिस समाज मे यह रहेगी उसका मुख यश से उज्जवल करेगी, उसके गौरव को बढायेगी और एक महान देवी शक्ति के रूप मे ससार मे चमकेगी।"

माता-पिता का सहज श्रद्धालु हृदय पुत्री के उज्ज्वल भविष्य का वर्णन सुनकर पुलक उठा। और इस पुलक एव हर्ष के वेग मे सभी कन्या को 'पार्वती' नाम से पुकारने लगे।

अध्ययन की ओर

पार्वती की भोली-भाली, सूरत, शात किंतु तेजस्वी आखे, मीठी किंतु ओजस्वी बोली और सरल हृदय तथा तीक्ष्ण बुद्धि देखकर

बलदेवसिंह जी के मित्रों एवं परिचित जनों ने कहा—"यह कन्या बहुत ही होनहार है इसे किसी योग्य गुरु के पास अच्छी शिक्षा एवं उच्च संस्कार प्राप्त हो ऐसा प्रवन्ध करना चाहिए।"

कुछ दिनों बाद संयोग ऐसा बना कि बलदेवसिंह जी किसी मुकद्दमे के लिए आगरा आये। मुकद्दमे का कोई फैसला नहीं हो रहा था, और कुछ बातें उनके प्रतिकूल जा रही थीं इसलिए वे काफी चिन्तित थे। कचहरी का नाम ही कच-हरी (केश उड़ाने वाली) है, जिस मनुष्य के सिर पर कचहरी की छाया पड़ जाती है, चिन्ता व परेशानी के कारण बिचारे के केश भी पक कर झड़ ही जाते हैं। बलदेवसिंह जी को अधिक चिन्तित देखकर उनके किसी मित्र ने कहा—"यहां पर एक बड़े तपस्वी संत हो गए हैं। उनकी तपस्या एवं साधना में चमत्कारी प्रभाव था। लोग उनके दर्शन कर, मंगल पाठ सुनकर बड़ी शांति एवं सुख का अनुभव करते थे।"

बलदेवसिंह जी ने जिज्ञासा पूर्वक पूछा—"ऐसे कौन संत हैं, मुझे भी बताइए न?"

मित्र ने कहा—"जैन मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ऐसे तपस्वी संत थे। उनका तो स्वर्गवास हो गया है, किंतु उनके शिष्य श्री कंवर सेन जी महाराज हैं। वे भी बड़े तपोनिष्ठ वचनसिद्ध संत हैं। उनके मुख की वाणी सुनने पर ही मन को शांति लाभ होता है।"

गीता में भक्त के तीन रूप बताये हैं—"**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी**" कुछ मनुष्य संकट एवं चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए संतों की भक्ति करते हैं, कुछ ज्ञान लाभ के लिए एवं कुछ धन लाभ के लिए! कहना न होगा बलदेवसिंह जी भले ही प्रथम कारण से प्रेरित होकर जैन मुनियों के द्वार पर पहुंचे, किंतु उनकी भावना ने आगे जाकर जो मोड़ लिया, और जिस रूप में उसके शुभ फल आये उसे देखकर संत तुलसीदास जी का यह पद्य स्मरण हो आता है—"**उलटे-सुलटे ऊगहि खेत पड़े जो बीज?**"

बलदेवसिंह जी श्री कंवरसेन जी महाराज के चरणो में पहुँचे। उनके सान्त्वना भरे वचनो से एव मगल पाठ से वस्तुतः ही बलदेवसिंह जी को अपूर्व शाति अनुभव हुई। उनके मन मे जैन सतो के प्रति श्रद्धा जगी। श्रद्धा चमत्कार दिखाती है—'**विश्वासः फल दायकः**' विश्वास फल लाता है। बलदेवसिंहजी अपने पुराने मुकद्दमे में विजयी बन गये। अब तो जब भी वे आगरा आते—जैन सतो के दर्शन किए बिना वापिस घर नही लौटते।

एक बार बलदेवसिंह जी के मन मे संकल्प जगा—"ऐसे ज्ञानी और तपस्वी सतो से यदि मेरी कन्या पार्वती को शिक्षण मिले तो अवश्य ही उसकी तीक्ष्णबुद्धि और पवित्र हृदय मे नव जीवन जागृत हो उठे। उन्होंने कंवरसेन जी महाराज के समक्ष अपने विचार रखे। उनकी स्वीकृति मिली। तो बलदेवसिंह जी ने अपनी धर्म-पत्नी से भी अपने कार्य की स्वीकृति ली। दोनो पति पत्नी परम प्रसन्न हो उठे—"सचमुच यह कन्या बहुत भाग्यशालिनी है, जिसे ऐसे सतो के चरणो मे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल रहा है।"

पार्वतीजी अब आगरा मे श्री कंवरसेनजी महाराज की देखरेख में अध्ययन करने लगी। महासती हीरादेवी जी के पास वह रहती और मुनिजनो के चरणो मे बैठकर दिन मे अध्ययन करती।

सत्संगति का प्रभाव और वैराग्य

भर्तृहरि ने कहा है—

> **जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं**
> **मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।**
> **चेतःप्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति**
> **सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?**

सत्संगति की पवित्र धारा से मन की जड़ता धुल जाती है, वाणी

में सत्य की बेल प्रस्फुटित होती है। वह मान और उन्नति की ओर बढ़ाती है। पापों का प्रक्षालन करती है। चित्त को प्रसन्नता से भर देती है, दिगदिगन्त में कीर्ति फैलाती है—इस प्रकार सत्संगति मनुष्य को क्या-क्या महान फल नहीं देती ?

पथ में पड़े रजकण जन-जन की ठोकरें खाते हैं, किंतु जब पवन की संगति करते हैं तो वे ही आकाश में चढ़कर मनुष्यों के सिर पर छा जाते हैं।

आकाश से गिरने वाली पानी की एक बूंद गंदगी के ढेर पर गिरकर बदबू फैलाती है, तो एक बूंद सीपी के मुंह में गिरकर मोती बन जाती है। यह संगति का असर है !

पार्वती जी जब संतों की संगति में आई और उन पर सत्संगति का असर होने लगा तो उनका जीवन गुलाब की तरह गुणों की सौरभ से महक उठा। पार्वती जी की ग्रहणशक्ति बड़ी अद्भुत थी। किसी भी बात को एक बार सुनकर वे मस्तिष्क में जमा लेती। बार-बार पूछना नहीं पड़ता। जितना याद करने का पाठ दिया जाता, वह सब शीघ्र याद करके सुना देती। कुछ ही दिनों में अमरकोष, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, अनेक थोकड़े व संस्कृत-प्राकृत का अच्छा बोध प्राप्त कर लिया। संत-सतियों के पास वैराग्य, समता एवं तितिक्षा का वातावरण बना रहता है। उस वातावरण में एक प्रकार की आत्म-शांति तथा मनस्तुष्टि की लहर उछलती रहती हैं। मंदिर में जाने वाले को जिस प्रकार मंदिर के वायुमंडल में एक प्रकार भक्ति एवं सद्भाव की प्रेरणाएं लहराती दीखती हैं उसीप्रकार संत समागम में आने वाले को भी वैराग्य आदि की भावनाएं वायुमंडल में तरंगित होती हुई उसके मन-मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। साधु सतियों के निरंतर संपर्क ने पार्वती जी के मन को भी वैराग्य की तरंगों से तरंगित कर

दिया। उनके मन में ससार त्याग कर प्रव्रजित होने की उत्कठा जगने लगी।

पार्वती जी के वैराग्य की बात जब माता-पिता को ज्ञात हुई तो उन्हे आश्चर्य के साथ खेद भी हुआ। कन्या पर उनका अपार स्नेह था और उसके भावी जीवन की अनेक सुनहली आशाए उनके मन मे सजोई हुई थी। पार्वती जी के वैराग्य की परिपक्वता की अनेक परीक्षाए ली गई। पर हर एक परीक्षा मे जब वे सफल सिद्ध हुई तो आखिर माता-पिता को भी उनके दृढ वैराग्य के सामने झुकना पडा। १३ वर्ष की उम्र मे वि० स० १९२४ को चैत्र सुदी ९ के दिन श्री हीरादेवी जी महाराज के सान्निध्य मे काधला के निकट अल्लम गाव मे श्री पार्वती जी की दीक्षा सपन्न हुई। उनके साथ अन्य तीन कुमारिकाओ ने भी दीक्षा ग्रहण की!

श्री पार्वती जी महाराज के हृदय मे ज्ञान की उत्कट जिज्ञासा थी। उनकी मेधा स्फुरणशील और शीघ्र-ग्राहिणी होने के कारण ११-१२ वर्ष की अवस्था मे ही तो उन्होने अमरकोष जैसा सस्कृत कोष, तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे प्राकृत आगम भी कठस्थ कर लिये थे। दीक्षा लेने के बाद उन्होने अपनी आदरणीया गुरुणी से निवेदन किया कि—"मेरी अध्ययन करने की प्रबल इच्छा है, मै चाहती हूँ कि अपने तथा दूसरो के शास्त्रो आदि का अध्ययन कर जैन धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तो से जनता को परिचित कराऊँ।" श्रमणीवर्ग मे तो इस प्रकार के अध्ययन की कोई परिपाटी ही नही थी, श्रमण वर्ग मे भी कुछ गिने-चुने मुनि ही थे जिन्होने सस्कृत-प्राकृत का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया हो। फिर अन्य दर्शनो के अध्ययन की तो बात ही क्या, अपने ही दर्शन को पूरा समझ पाना और उसका गभीर अध्ययन कर लेना उस युग मे बडी गौरवास्पद ही नही, आश्चर्यकारक बात थी। श्री पार्वती जी महाराज की ज्ञान की उत्कट अभिलाषा देखकर उनकी गुरुणी जी

मन ही मन प्रसन्न हुई होगी, पर इस प्रकार के अध्ययन की व्यवस्था कहां हो यह उनके लिए भी चिन्तनीय बात थी। आखिर सोच विचार कर श्री हीरादेवी जी महाराज श्री पार्वती जी महाराज को साथ लेकर पुन: आगरा आई और श्री कंवरसेन जी महाराज के निकट संवत् १९२५ से १९२८ तक वे शास्त्रों का गंभीर अध्ययन करने में जुट गई।

आगरा में अध्ययन करते हुए एक बार किसी भाई ने उन्हें अंग्रेजी पढ़ने की भी प्रेरणा दी। श्री पार्वती ज़ी महाराज के मन में अंग्रेजी पढ़ने की इच्छा जागृत हुई। और अंग्रेजी का अभ्यास भी शुरू कर दिया। लोगों को आश्चर्य हुआ—एक जैन साध्वी अंग्रेजी पढ़े ! पर उनकी तेजस्वी प्रतिभा तथा तीव्र ज्ञानेच्छा के समक्ष किसी का कुछ विरोध नहीं चला। आज के संदर्भ में भी वस्तुत: यह बहुत ही आश्चर्य की बात है, कि आज से सौ साल पहले का जमाना जो आज की भाषा में बहुत ही पिछड़ा हुआ कहा जा सकता है। जब स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में सोचना भी प्रारम्भ नहीं किया होगा। लड़कियों को अक्षर ज्ञान देना भर उनकी संपूर्ण शिक्षा मानी जाती थी, तब एक १७-१८ वर्ष की जैन साध्वी उर्दू, संस्कृत, प्राकृत का अध्ययन कर अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा सीखने को तत्पर हुई। कुछ दिन उन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास भी किया, किंतु एक दिन उनकी गुरुणीजी ने कहा—"पार्वती ! तुम जितना श्रम अंग्रेजी के लिए कर रही हो, उतना अपने ही आगम आदि पढ़ने में करो तो अधिक लाभ होगा।"

श्री पार्वती जी महाराज में बौद्धिक तेजस्विता जितनी प्रखर थी, विनम्रता एवं गुरुभक्ति भी उससे अधिक प्रखर थी। इसी कारण तो उनके ज्ञान में तेजस्विता एवं वाणी में प्रभावशीलता का मणिकांचन संयोग बन सका। श्री पार्वती जी महाराज ने अंग्रेजी अध्ययन की तीव्र इच्छा होते हुए भी गुरुणी जी का संकेत

पाकर अध्ययन बद कर दिया, तथा आगम-अनुशीलन मे सपूर्ण समय देने लगी ।

सिंघाड़ा परिवर्तन

ज्ञान मनुष्य में स्वतन्त्र चिन्तन जगाता है और स्वतत्र चिन्तन नवनिर्माण की प्रेरणा देता है। अध्ययन की परिपक्वता के बाद श्री पार्वती जी महाराज के हृदय मे स्वतत्र विहार कर जन-जन में जैन धर्म के प्रचार की तीव्र उमग जगी। उनके विहार एव प्रचार कार्य मे सप्रदाय की कुछ रूढ सीमाए, कुछ वैचारिक जडताए व अन्य कुछ परम्परागत बातें थी जो बाधा बनकर खडी हो रही थी। सप्रदाय की सीमाओ को तोड डालने मे बहुत बड़े साहस व समझ-दारी की अपेक्षा होती है। श्री पार्वती जी महाराज मे ये गुण जन्म-जात थे। उन्होने चिन्तन के बाद निर्णय किया। उनके निर्णय से सभवत. सप्रदाय के अनुयायिओ को, रोष, खेद एव आश्चर्य भी हुआ होगा, किंतु किसी भी बात की परवाह किए बिना सकल्प की धनी महासती पार्वती जी ने सप्रदाय परिवर्तन की निश्चित घोषणा कर दी। पजाब मे पूज्य अमरसिंह जी महाराज की सप्रदाय का उन दिनो काफी प्रभाव था। तथा उसमे साध्वीजनो के लिए अन्य संप्रदायो की अपेक्षा आदर एव आजादी की विशेष भावना थी। आपने उस सप्रदाय की महासती खूबाजी आदि को अपने विचार सूचित किये। उन्होने कहा—"आती हुई लक्ष्मी और सरस्वती को कौन ठुकरायेगा, स्वागत है, परम प्रसन्नता है।" आखिर दृढ निश्चय करके महासती जी ने वि० स० १९२६ के मृगसर वदि १३ को पूर्व सप्रदाय को छोडकर पूज्य अमरसिंह जी महाराज की संप्रदाय से अपना सम्बन्ध स्थापित किया, महासती खूबाजी तथा महासती मेलो-जी की आज्ञानुवर्तिनी बनी।

प्रचारकार्य

महासती पार्वती जी के जीवन का प्रवाह अब तक अध्ययन,

अनुशीलन एवं संस्कार-ग्रहण की दिशा में बह रहा था। किंतु अब उस प्रवाह को नई दिशा मिली। स्थानकवासी मुनियों में कुछ मुनिजन अच्छे विद्वान थे, उनकी प्रवचन शैली भी सुन्दर थी पर उनका विहार क्षेत्र बहुत सीमित था। इसकारण वे जैन धर्म के प्रचार की दिशा में बहुत अधिक या बहुत कुछ नया कार्य नहीं कर सके। श्री पार्वती जी महाराज में विद्वत्ता भी थी, वाग्मिता भी थी, व्यवहार कौशल भी था, निर्भीकता भी थी और इन सब को प्रकाश देने वाला अमित उत्साह भी था। देश-प्रदेश में घूमने की उमंग हिलोरें ले-लेकर उनके चरणों में गति भर रही थी।

वि० सं० १९३० में वे अपनी गुरुणी जी के साथ देहली से हरियाणा, पंजाब, अमृतसर, स्यालकोट आदि स्थानों पर प्रचार करती हुई जम्मू पहुंची। १९३० का चातुर्मास भी उन्होंने जम्मू में किया। इस चातुर्मास में उनकी गुरुणी जी महासती मेलोजी ने ३३ दिन का उपवास किया व स्वयं श्री पार्वती महाराज ने भी ८ दिन, ४ दिन आदि के कई उपवास किये। उनका ज्ञान जितना ऊंचा था क्रिया भी उतनी ही प्रखर व निर्मल थी, इनका प्रभाव जनता पर पड़ना ही था। धीरे-धीरे दूर-दूर से लोग दर्शनों के लिए आने लगे और अपने-अपने क्षेत्र में पधारने की प्रार्थना करने लगे।

१९३१ में महासती जी का चतुर्मास टांडा (जिला होशियारपुर) में हुआ। वहां मूर्तिपूजक संत श्री आत्माराम जी महाराज के साथ भक्ष्याभक्ष्य विषय पर लिखित शास्त्रार्थ भी हुआ। आत्माराम जी महाराज की तर्कों का जिस दृढ़ता एवं शास्त्रीय प्रमाणों के साथ उत्तर दिया गया उसे देखकर स्वयं श्री आत्मारामजी महाराज दंग रह गये। चूंकि पहले वे स्वयं स्थानकवासी परम्परा के मुनि थे और उनका विश्वास था कि स्थानकवासी परम्परा में साध्वी तो क्या, कोई मुनि भी उनके जैसा विद्वान् व कुशल वक्ता नहीं है। किंतु जब श्री पार्वती जी महाराज के पैने तर्क एवं शास्त्रीय प्रमाणों से भरे प्रत्युत्तर आये तो वे स्तंभित से देखने लग गये—"यह कौन गुदडी

मे गौरव प्रगट हो रहा है।" इस शास्त्रार्थ से जो लोग आत्माराम जी महाराज की ओर खिच रहे थे वे सहसा महासती जी की चरण धूलि शिर पर लेने लगे और श्रावको मे धर्मोत्साह एव धर्म श्रद्धा की अभिवृद्धि हुई।

पजाब व हरियाणा मे उन दिनो स्वामी दयानन्द सरस्वती का काफी दबदबा था। शिक्षित समाज पर विशेषकर उनके सुधारवादी विचारो का प्रभाव जम रहा था। कुछ शिक्षित जन भी सपर्क व अपने धार्मिक ज्ञान के अभाव मे उस ओर झुक रहे थे। महासती जी के विचारो मे भी एक सुधारवादी लहर थी, जो उनकी परम्परागत विरासत भी थी। मूर्तिपूजा का विरोध, श्राद्ध कर्म का त्याग, नदियो, पर्वतो व तीर्थो की यात्रा का पुण्य दृष्टि से निषेध, स्त्रियो की शिक्षा के लिए विशेष बल आदि ऐसी समान बाते थी जिन पर आर्यसमाज की सुधारवादी विचारधारा का भी आग्रह था और महासती जी भी इन विचारो पर बल दे रही थी। कुछ-कुछ बातो को लेकर स्वामी दयानन्द जी ने जैन धर्म पर कटुव्यग्य व तुच्छ प्रहार भी किए है, जो वास्तव में जैन धर्म के मर्म को नही समझने के कारण थे। महासती जी ने पजाब मे इन दोनो कार्यो को महत्व दिया। वे आर्यसमाजी भाइयो को जहा अपनी सुधारवादी तटस्थ दृष्टि से प्रभावित कर निकट ला रही थी, वहा उनके मन में जैन धर्म के प्रति कुछ बद्ध मूल गलत धारणाओ का बड़े सटीक, सप्रमाण एव साहसिक ढग से निराकरण भी करती थी। स्थान-स्थान पर आर्यसमाज के साथ उनके शास्त्रार्थ भी हुए और कही-कही आर्य समाज वालो ने उन्हे तटस्थ मानकर अपनी पार्टियो के विवाद मे उन्हे मध्यस्थ बनाकर अपनी श्रद्धा का परिचय भी दिया।

धीरे-धीरे पजाब के छोटे-छोटे खेड़े, कस्बे गाव और शहर महासती पार्वती जी की ओजस्वी वाणी से जागने लगे। भावडो पर ही नही, किंतु अग्रवाल, खत्री, रोडे, सरदार आदि हर एक जाति व वर्ग पर महासती जी के तपोमय जीवन एव ज्ञानमयी वाणी का

अद्भुत प्रभाव छाने लगा। ऐसा लगने लगा—जैसे सोयी हुई श्रद्धा करवटें लेकर जग रही हैं। जनता का सुप्त धर्म-गौरव पुनः अंगड़ाईयां भर रहा है।

महासती जी ने पंजाब व हरियाणा के छोटे-बड़े लगभग सभी गांवों को स्पर्श किया। रावलपिंडी, जालंधर लाहौर, स्यालकोट, अमृतसर, नाभा, खरड़, जम्मू आदि बड़े-बड़े नगरों में चातुर्मास कर धर्मोद्योत किया।

धर्मचर्चाएं

मैं लिख चुकी हूँ कि महासती पार्वती जी की तत्वप्रतिपादन शैली बड़ी ही प्रभावशालिनी थी। उनका ज्ञान काफी विस्तृत एवं रहस्य को पकड़ने वाला था। धर्मप्रचार के समय गांव-गांव में जिज्ञासु लोग उनके पास आते और अपनी शंकाओं का समाधान करते। उन सबका विवरण देखने की इच्छा हो तो मैं महासती पार्वती जी का जीवन चरित्र पढ़ने के लिए पाठकों से अनुरोध करूंगी। संक्षेप में महासती जी के साथ अन्य विद्वानों व संप्रदाय वालों की जो महत्वपूर्ण धर्म चर्चाएं हुईं उनकी संक्षिप्त सूची मात्र यहां दे रही हूँ।

वि० सं० १९३८ में महासती पार्वती जी ने पुनः जम्मू में चातुर्मास किया। वहां पर महासती जी की विद्वत्ता की ख्याति सुनकर जम्मू-कश्मीर नरेश के मंदिर के पुजारी पंडित जी अनेक प्रकार की भेंट लेकर महासती जी के दर्शनार्थ आये। महासती जी ने उन्हें जैन मुनियों के नियम व विधि विधान समझाये और कहा—"हम यह भौतिक भेंट नहीं लेते। हमें तो आध्यात्मिक भेंट चाहिए।"

पंडित जी आश्चर्य के साथ महासती जी की तेजोदीप्त मुखमुद्रा को देखने लगे। महासती जी ने बताया—हमारी भेंट है—"मन से सत्य पर निष्ठा, वचन से सत्य का प्रयोग और काया से सत्य साधकों की सेवा।"

पडित जी ने कुछ जिज्ञासाए भी रखी। पूछा—"जैन धर्म मे मूर्ति पूजा मे मोक्ष है या नही।"

साध्वीजी—"जैन सिद्धान्त मूर्ति पूजा से नही, आत्मज्ञान से मोक्ष मानता है।"

पडितजी—"यह तो ठीक है! वास्तव मे मूर्ति तो अज्ञान दशा में भक्ति का आलवन है।"

साध्वीजी—"किंतु ज्ञान होने पर तो अज्ञान अवस्था की क्रिया छूट जानी चाहिए। बचपन मे गुड़ियो का खेल खेला जाता है, किंतु जवानी मे तो कोई गुडियो का खेल नही रचाता। इसीप्रकार आत्मज्ञान होने पर फिर मूर्ति पूजा का सहारा लेने की क्या आवश्यकता है।" इस प्रकार के अनेक प्रश्नोत्तरो से पडित जी को बड़ा समाधान मिला और वे भक्तिपूर्वक वन्दन करके पुन. आने का वादा कर चले गये।

वि० स० १९४४ मे महासती जी नाभा पधारी। वहा पर आपके प्रवचनो मे बडी भीड जमा होती और अनेक संप्रदायो के लोग आपसे तत्व चर्चा करने आते। आपकी कीर्ति सुनकर नाभा रियासत के महाराजा हीरासिह जी ने दो प्रश्न लिखवाकर आपका सेवा मे भेजे। प्रश्न ये थे—

१ स्त्री को दीक्षा लेना उचित नही है ?
२ स्त्री और शूद्र को वेद पढने का अधिकार नही है।

महासती जी ने वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ही महाराजा की इन दोनो शकाओ का यौक्तिक समाधान किया और बताया—महाभारत आदि ग्रन्थो मे स्त्रियो को सन्यास लेने की बात आती है। पतजलि के महाभाष्य (२, पृष्ठ १००) पर भी शकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख मिलता है। तथा वेदो के अध्ययन की बात तो दूर रही, वेदो की कुछ ऋचाए तो स्त्रियो की ही लिखी हुई है।

गार्गी, मदालसा मैत्रेयी जैसी नारियां वेदों के रहस्य की जानकार भी थीं और उन्होंने पुरुषों से वेदों पर चर्चाएं भी की हैं।

महासती जी का तर्कयुक्त तथा गंभीर ज्ञान पूर्ण समाधान पाकर नाभा नरेश बहुत प्रसन्न हुए और जैन साध्वियों के प्रति उनके मन में बहुत ऊंची धारणाएं बनीं।

इसीप्रकार महासती जी ने अनेक स्थानों पर आर्यसमाजियों से, संवेगी आचार्य आत्माराम जी महाराज से, जयपुर में तेरापंथी श्रावकों से तथा अनेक विद्वानों से स्थान-स्थान पर चर्चाएं की, और अपनी सुतीक्ष्ण तर्कशैली से सबको योग्य समाधान देकर जैन धर्म की विजय ध्वजा फहराई।

प्रवर्तिनीपद

महासती श्री पार्वती जी की साहसिक यात्राएं, ओजस्वी प्रवचन-शैली, तर्कप्रवणप्रज्ञा, चरित्रनिष्ठा, अनुशासन कुशलता तथा व्यवहार कुशलता आदि गुणों की सर्वत्र भूरि-भूरि कीर्ति फैल रही थी। आपकी योग्यता एवं दक्षता का जैन समाज ही नहीं, अन्य समाजों में भी बड़ा आदर था। वि० सं० १९५९ में चैत्रवदि ११ आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज ने जैन आगमों के महान मर्मज्ञ, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में परम प्रवीण पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज को युवाचार्य पद तथा महासती पार्वती जी को प्रवर्तिनी पद प्रदान कर इनकी योग्यताओं का सम्मान किया। महासती जी ने प्रवर्त्तनी पद पर ४४ वर्ष तक अति ही सुचारु रूप से तप, संयम जैनधर्म का नाद बजाते हुए ज्ञानसमाधि की शिक्षा प्रदान करते हुए स्वपद का पालन किया।

दीक्षाएं

महासती जी के सान्निध्य में समय समय पर अनेक जिज्ञासु भव्य बहनें आयीं, धर्म सुनकर प्रभावित हुई, हृदय में वैराग्य का अंकुरण हुआ और तत्वज्ञान प्राप्त कर महासती जी के चरणों में व अन्य

सतियो के निकट जाकर दीक्षित हुई । वैमे महासती जी की चार शिष्याए हुई—श्री जीवी जी, श्री कर्मदेवी जी, श्री भगवानदेवी जी[1] एव श्री राजीमती जी । अनेक जिज्ञासु युवकों ने महासती जी से प्रेरणा प्राप्त की और तत्त्वज्ञान सीखकर विभिन्न सतो के निकट दीक्षा धारण की !

वि० स० १९४९ मे महासती जी का चातुर्मास अमृतसर मे हुआ। वहा जम्मू के प्रसिद्ध व्यापारी लाला जयदयालमल्लजी ओसवाल की धर्मपत्नी तथा स्यालकोट के धर्मनिष्ठ श्रावक लाला खुशहालशाहजी की कन्या श्री राजीमती जी की दीक्षा हुई। इनका जीवन परिचय अगली पक्तियो मे लिखा जा रहा है।

प्रवर्तिनी महासती श्री पार्वती जी ने वि० स० १९५७ का चातुर्मास जयपुर मे किया। वहा से राजस्थान व मालवा की ओर पधारने के लिए बहुत आग्रह भरी विनतियाँ हुई। पर जलवायु को अनुकूलता न रहने के कारण महासती जी पुन. हरियाणा व पजाब की ओर लौट आयी। महासती जी अलवर पधारी। वहा पर हमारी चरितनायिका श्री पन्नादेवी जी जो वैराग्य व ससार त्याग की भावना हृदय मे सजोए चातकवत् गुरुणी जी की प्रतीक्षा कर रही थी। अत्यत आग्रह एव प्रार्थना के पश्चात् वे पहले माता पिता से दीक्षा की अनुमति प्राप्त कर सकी और पश्चात् प्रवर्तिनी श्री जी की। और रोहतक में खूब धूमधाम से महासतीजी के चरणो मे उनकी भागवती दीक्षा का शानदार महोत्सव मनाया गया। इनका सपूर्ण जीवन वृत्त का भी अगले पृष्ठो पर अकन किया जा रहा है।

---

१. श्री भगवान देवीजी की शिष्याओ मे महासती श्री द्रौपती जी आदि अनेक योग्य साध्विया आज भी विद्यमान है। महासती राजीमतीजी का वर्णन व उनके शिष्यपरिवार का परिचय अगले पृष्ठो पर अकित किया गया है। अन्य दो शिष्याओ का परिवार आज विद्यमान नही है।

—लेखिका

महासती पार्वती जी ने अपने सुदीर्घ जीवन काल में सहस्रों मील की पदयात्राएं कर, हजारों भव्य प्राणियों को उपदेश देकर और सैकड़ों जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान एवं दीक्षा व्रत प्रदान कर जैन-धर्म की महिमा को भारत के कोने-कोने में महका दिया। उनकी शांत, सौम्य एवं तेजोमयी मुखमुद्रा जिसने देखी, उसका हृदय श्रद्धा एवं भक्ति से झुक गया। और बरबस मुंह से ये स्वर निकल पड़े—

तुझे देखा तो अब कुछ देखने को जी नहीं चाहता।
किये हैं बन्द आँखें तेरी सूरत देखने वाले।

उनमें जो अतिमानवीय दिव्य रूप व्यक्त हुआ था, वह अद्वितीय था। उनकी प्रतिछांई उन्हीं की शिष्या महासती राजीमती जी में देखी गई और उसका प्रतिबिम्ब आज भी महासती पन्नादेवी जी में देखा जा सकता है।

जीवन के संध्याकाल में महासती पार्वती जी वार्धक्य एवं शारीरिक दुर्बलता के कारण जालंधर में स्थानापति होगये और वहीं पर संवत् १९९६ के माघवदि ९ शुक्रवार के दिन वह दिव्य ज्योति क्षीण पड़ती-पड़ती भौतिक देह से विलीन हो गई।

संसार को जो प्रकाश देने आये थे वे प्रकाश बिखेर कर स्वयं एक दिन उस अमित प्रकाश में मिल गई। उस परम पवित्र तपो-मूर्ति को शतशत वन्दना!

३ | तपोमूर्ति महासती श्री राजीमतीजी
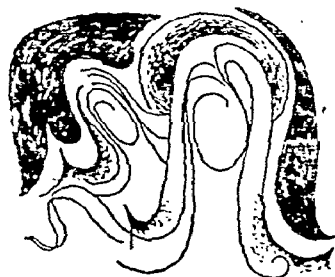
महाकवि रवीन्द्रनाथ का एक रूपक है :—

जलती हुई लकड़ी को देखकर हरी लकडी आसू बहाकर बोली-"इसमे कितना तेज भरा है, अ धकार विचार शर्माकर एक तरफ खिसक गया और चारो ओर ज्योति ही ज्योति निखर रही है। परमात्मा ' ऐसा तेज मुझे कब मिलेगा ?"

जलता हुआ अंगारा उत्तर की भाषा मे बोला—'बहन ! चेष्टा-विहीन इस व्यर्थ वासना मे पीडित होने मे क्या लाभ है ? हमे जो कुछ निरंतर तप कर प्राप्त हुआ है वह क्या तुम्हारे लिए यो ही टपक पडेगा ?'

उपनिषद् में ऋषियो ने मुक्त मन से गाया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत

ब्रह्मचर्य एव तप के द्वारा देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है ।

हर एक आत्मा के अन्दर मे दिव्य ज्योति छिपी हुई है। उसे प्रकट करने लिए तप एव ब्रह्मचर्य की अखण्ड साधना करनी होती है। साधना से ही ज्योति व्यक्त होती है और जीवन एक अपूर्वतेज से

दमक उठता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा में अंगारे ने यही उत्तर दिया है और औपनिषदिक शब्दावली भी इसी रहस्य का उद्घाटन करती है।

तपोमूर्ति महासती राजीमती जी का जीवन तप:साधना द्वारा ज्योतित ध्यान एवं स्वाध्याय द्वारा पुनीत एक परम पवित्र ज्योति के रूप में चमका था। लगभग अस्सी वर्ष के सुदीर्घ जीवन में उन्होंने अनेक तपस्याएं की, स्वाध्याय, ध्यान, जपसाधना में लीन रही, शर्दी-गर्मी-वर्षा के परिषहों को परम तितिक्षा भाव के साथ सहन किया; समता, शान्ति एवं वैराग्य की मधुर भावनाओं से स्वयं परम आल्हादित रहकर जन-जन के मन को आल्हाद का मंत्रपाठ दिया। उनकी आंखों में अपूर्व स्नेहमयी करुणा छलकती रहती थी, उनकी वाणी में अद्भुत शांति और मधुरता की धारा बहती थी, उनके जीवन के प्रत्येक क्रिया कलाप से वैराग्य और समता का सुधारस टपकता था। सचमुच उनका जीवन नारी की परम दिव्यता का प्रकटीकरण था, साध्वी जीवन की उच्च अलौकिकता से मंडित था।

जन्म और विवाह

महासती राजीमती का जन्म स्यालकोट के प्रसिद्ध जैन खानदान लाला खुशहालशाह जी के घर पर हुआ। उस खानदान की प्रतिष्ठा और उच्च धार्मिक संस्कारों की छाप पंजाब भर में प्रसिद्ध थी। परिवार के स्नेह एवं सम्पन्नता से भरे पूरे वातावरण में राजीमती जी का पालन पोषण हुआ। सुकुमारता और सुन्दरता के साथ-साथ बालिका राजीमती जी में संस्कारों की भव्यता और उच्चता भी दर्शनीय थी। वस्तुतः बालक का जीवन माता पिता के संस्कारों की प्रतिछवि होती है। माता पिता यदि उच्चसंस्कार एवं उच्च भावना से युक्त जीवन जीते हैं तो संतान निस्संदेह ही अच्छे संस्कारों से युक्त होगी। इसीलिए तो जैन जगत के कवि मनीषी उपाध्याय-

अमर मुनिजी ने बालक को भविष्यत् की महान निधि बताते हुए बालक की भाषा मे कहा है—

पूज्य भारत मातृ - भू की
चाहती संतान हूं मैं।
राष्ट्र, मण्डल, जाति, कुल की
जागती जी - जान हूं मै।

आज का लघु शिशु पयोमुख
नासमझ नादान हूं मै।
हा, भविष्यत् का महत्तम
वृद्ध वर धीमान हूं मै।

वीर-पुंगव पूर्वजो का
भक्त श्रद्धावान हूं मैं।
और आगामी प्रजा का
पूज्य - पद भगवान हूं मैं।

अन्त में माता - पिता के
खेल का सामान हूं मै।
जो विचारें सो बनालें
देव हूं, शैतान हूं मै।

वस्तुतः माता-पिता बालक को देव भी बना सकते है और शैतान भी। बच्चा तो मिट्टी का एक लोदा है, माता-पिता कुंभकार है। बच्चे को यदि भगवद् गुणो के साचे मे ढाला जाय तो वह भगवान बन सकता है और यदि दुर्गुणो के साँचे मे ढाल दिया जाय तो वही शैतान का रूप धारण कर लेगा।

हा तो, श्री राजीमती जी के माता-पिता वास्तव मे ही सच्चे कलाकार थे। उन्होने अपनी कन्या को प्रारम्भ से ही दैवी गुणो की शिक्षा दी। सच बोलना, नम्र व्यवहार करना, मीठी वाणी बोलना और स्वच्छता के साथ रहना ये सस्कार माता-पिता के जीवन से

सीधे उनके हृदय में उतर गये। साधु-सतियों के प्रति परिवार में अटूट भक्ति के भाव थे। उनके संस्कार राजीमती जी के मन पर भी पड़े और वे भी साधु-सतियों की भक्ति में सबसे आगे रहने लगी।

राजीमती जी का मन बड़ा सरल और निर्मल था। वे हर किसी से स्नेह करती। परिवार के नौकरों व अन्य पास-पड़ौस वालों से भी उनका व्यवहार बड़ा मधुर रहता। इसी कारण तो वे सब के मन को मोह लेती, छोटा-बड़ा हर कोई उनसे प्यार करता। लोग उनकी मीठी मीठी बातों के सुनने को लालायित रहते।

सामाजिक परम्परा के अनुसार माता-पिता ने राजीमती जी की शिक्षा की भी व्यवस्था की। किन्तु उस समय में स्त्री शिक्षा का विशेष प्रचार न होने से राजीमती जी की शिक्षा के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी। फिर भी उनकी बुद्धि तीक्ष्ण होने से साधु-सतियों के पास उन्हें जैन धर्म एवं तत्वज्ञान की अच्छी शिक्षा प्राप्त होती रही।

बचपन की देहली पार कर राजीमतीजी यौवन के द्वार पर पहुंची। शैशव की सुषमा अब रंगीन जवानी की चादर ओढ़कर अद्भुत आभा से खिल उठी। निर्मल सौन्दर्य में यौवन की सहज मादकता लहराने लगी। किंतु उभरते हुए यौवन की इस मादकवेला में भी राजीमती जी का हृदय संयम, समता एवं वैराग्य को शीतल, निर्मल सुषमा लिए हुए था। बचपन की नटखटता पर विवेक की, चंचलता पर गंभीरता की और निर्भय आजादी पर सात्विक लज्जा एवं संकोच की रुपहली चादर बिछ गई।

राजीमती जी का यौवन, विवेक, विचार आदि विकसित हुए देखकर माता-पिता ने उनके सम्बन्ध की चिन्ता की। जम्मू निवासी लाला देशराज जी ओसवाल जो कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुयायी थे। उनका घराना जम्मू में काफी पुराना और खानदानी कहलाता था। जगह-जगह उनका व्यापार था और समाज में

काफी अच्छी प्रतिष्ठा भी थी। उनके भाई श्री जयदयालमल्लजी काफी अच्छे सस्कारी, सुशिक्षित, सुन्दर, व्यापार मे कुशल, नीति एव धर्म के जानकार थे। खुशहालशाहजी जयदयालमल्लजी का परिचय पाकर बहुत खुश हुए और अपनी गुणवती कन्या राजीमती के सम्बन्ध की चर्चा उनसे की। वास्तव मे माता-पिता का यही कर्तव्य है कि वे कन्या के लिए योग्यवर की परीक्षा कर उसके कुशल हाथो मे कन्या के जीवन की पतवार सौप दे। नीतिकार का कथन है—

> कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च
> विद्या च वित्तं स्वजने प्रतिष्ठाम्
> वरे गुणा सप्त अमी परीक्ष्या
> ततः परं भाग्यवशाहि कन्या।

कुल, शील, स्वास्थ्य, आयु विद्या, धन और सुजनो मे इज्जत— ये सात गुण है जो पिता को वर मे देखने चाहिए। इन गुणों से युक्त वर के साथ कन्या का जीवन अवश्य ही सुखपूर्वक बीतता है।

लाला खुशहालशाहजी ने भी जयदयालमल्लजी मे ये गुण देखे और खूब धूमधाम के साथ परिग्रहण सस्कार सपन्न किया।

विवेक-शील-सपन्न राजीमती जी का गृहस्थ जीवन सुख एव आनन्द की मधुर लहरो से सदा तरगायमान होने लगा। उनका जीवन विनम्रता, मधुरता, सहृदयता और सहानुभूति की भावना से ओत-प्रोत महाकवि जयशकर प्रसाद की उस किरण के सदृश प्रतीत होने लगा, जिसके लिए कवि ने मुक्त मन से पूछा है—

> धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश
> मधुर, मुरली-सी फिर भी मौन।
> किसी अज्ञात विश्व की विकल-
> वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

श्री राजीमती जी के जीवन मे एक यह भी कसौटी थी कि उनके माता-पिताओ के धार्मिक सस्कार स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्धित

थे. इसलिए राजीमती जी को भी वे जन्मजात संस्कार विरासत में मिले। स्थानकवासी धर्म पर उनकी अविचल आस्था थी और वचपन से ही वे उन संस्कारों में पली थी। पतिगृह जाने के वाद वहाँ की धार्मिक परम्परा मूर्तिपूजक थी। धार्मिक विश्वासों में यह अन्तर होने से प्रायः सहज ही पति-पत्नी के जीवन में कटुता आने लगती है। गृहस्थ जीवन के सुखमय उपवन में धार्मिक विचारों को लेकर कभी-कभी क्लेश के तीखे कांटे विखर जाते हैं और सारी सुख-शांति हवा हो जाती है। श्री राजीमतीजी के विवेक एवं धार्मिक सहिष्णुता की यह कसौटी थी और इस कसौटी पर वे सोने की भांति सही सिद्ध हुई। चेलणा और सुभद्रा के धार्मिक सहिष्णुता के आदर्श उनके जीवन में उतरे थे। धार्मिक मतभेदों को लेकर, साधना की विधियों को लेकर उनके पतिगृह में कभी भी क्लेश एवं मनमुटाव की स्थिति नहीं आई, इसे हम उनका उच्च विवेक एवं गंभीर धैर्य कह सकती हैं।

वैराग्य और दीक्षा

श्री राजीमती जी के धार्मिक संस्कार वहुत गहरे थे। विवाह से पूर्व भी उनके मन में सांसारिक भोगों के प्रति एक प्रकार की विरक्ति-सी थी। यही कारण था कि भोग-विलास की साधन-सामग्री प्राप्त होते हुए भी वे कभी भोगों में डूबी नहीं। उनका जीवन शहद की मक्खी जैसा नहीं था, जो शहद के मिठास के लालच में उसी में लिपटकर प्राण गंवाये। उनका जीवन था मिसरी पर वैठी हुई मक्खी जैसा. जो जव तक मन चाहा मिठास लिया और जव जी हुआ छोड़कर चल दिया। महाकवि गालिव के शव्दों में वे—

> दुनियां में हूँ, दुनियां का तलवगार नहीं हूँ
> वाजार से गुजरा हूँ, खरीदार नहीं हूँ।

इस दुनियां में रहकर भी दुनियां की तलवगार नहीं वनी, भोगों के वीच रहकर भी भोगों के दल-दल में कभी नहीं फंसी। जल में

अभिभावकों की स्वीकृति के बिना दीक्षा देना एक सामाजिक अपराध तथा सिद्धान्तो की अवहेलना है। इसलिए तुम अपने पिता एव पति-देव की स्वीकृति प्राप्त करो, तभी तुम्हारी दीक्षा हो सकती है।"

श्री राजीमतीजी ने अपने पिता लाला खुशहालशाहजी के समक्ष वैराग्य और दीक्षा की बात चलाई। लाला जी ने सब तरह से सुखी विवाहित तरुण पुत्री के मुह से यकायक साध्वी बनने की बात सुनी तो आश्चर्यचकित होकर पुत्री के मुह की ओर देखने लगे। उन्होने पूछा—"बेटी! ऐसी क्या बात हो गई? क्या ससुराल में किसी से मनमुटाव हो गया, या कुछ तकलीफ हुई तुझे? किसी बात की कमी हो तो मुझे बता, मैं दूर करू गा। अभी बीस वर्ष की अवस्था, सब तरह के सुख साधन तेरे चरणो मे लोट रहे है, उन सब को ठुकराकर साध्वी बनने की बात तेरे दिमाग मे क्यों आई?"

राजीमती जी ने कहा—'पिताजी! आपका कहना ठीक है, मुझे ससार मे किसी तरह की कोई कमी नहीं है। परन्तु क्या कोई कष्टों व तकलीफो से घबराकर, कमियों से परेशान होकर ही साधु बनता है? आप तो शास्त्रों के जानकार है, भगवान महावीर स्वामी ने कहा है—

जेय कते पिए भोये लद्धे विपिट्ठीकुव्वई
साहीणे चयइ भोए से हु चाई त्ति वुच्चई।

—जो प्राप्त हुए प्रिय एव मधुर भोगों को अपनी इच्छापूर्वक पीठ दिखा देता है, वही वास्तव मे त्यागी है। जब पास मे कोड़ी भी नही हो, तब अपरिग्रही बनने का नाटक करना, और खाने को एक दाना भी नहीं हो, तब तपस्या करने का ढोंग रचना क्या त्याग है? त्याग तो वही है जो सब कुछ होते हुए भी उससे विरक्त हो जाये। तन भोगो के लिए समर्थ हो, किंतु मन विरक्त हो—वही वास्तव मे त्याग है, वैराग्य है। मेरे मन मे इसी प्रकार का वैराग्य जगा है, अत अब आप इसे रोकने का नहीं, किन्तु आगे विकास का अवसर देने का प्रयत्न कीजिए।"

लाला जी—'बेटी ! यह बात तो ठीक है, सच्चा वैराग्य ऐसा ही होता है, किंतु वैराग्य की, संयम और दीक्षा की कुछ अवस्था भी देखनी चाहिए। अभी तो तुम्हारी अवस्था कुछ नहीं है। भोग की उम्र में योग की बात संसार को बड़ी विचित्र लगती है।"

राजीमती जी—"पिताजी ! क्या आप बता सकते हैं, वैराग्य की कौनसी अवस्था है ?" लालाजी के पास इस बात का कोई उत्तर नहीं था। वे चुप रहे। राजीमती जी ने आगे कहा—"जब मौत किसी भी अवस्था में आ सकती है, उसका कोई समय नहीं। दूध मुंहे बच्चे काल के गाल में चले जाते हैं, जवान बेटे चिर निद्रा में सो जाते हैं और बूढ़े माँ-बाप देखते आंसू बहाते बैठते हैं, उस मृत्यु का जब कोई भरोसा नहीं, तो फिर वैराग्य लेने की अवस्था की बात कैसी ? वैराग्य बच्चे को भी आ सकता है।भरयौवन में संन्यास लेने वाले धन्ना, शालिभद्र, राजीमती जी जैसे हजारों उदाहरण हमारे सामने हैं, आर

अंगं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुंचति आशापिण्डम् ।

अंग गल गये, सिर पक गया, दांत गिर गये, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई, कमर झुककर दुहरी हो गई, लट्ठी के सहारे डगमगाते हुए बूढ़ा चलता है, मौत सिरहाने बैठी है-फिरभी विषय भोगों की तृष्णा नहीं छूटती—तो कहिए पिताजी, वैराग्य का सम्बन्ध अवस्था से हुआ या मन से ? मन जब फकीरी में रम गया तो, उसमें जो सुख मिला वह अमीरी में कहां से मिलेगा ? कबीरदास ने गाया है—

मन लागो मेरो यार फकीरी में ।
जो सुख पायो राम भजन में सो सुख नाहिं अमीरी में ।

राजीमती जी की बातो मे हृदय का वैराग्य बोल रहा था। सच्ची निष्ठा, अटल विश्वास और परम विरक्ति—जैसे उनके अग-अग से टपक रही थी। लालाजी का हृदय सतुष्ट हो गया और उन्होने कहा – 'बेटी! ठीक है, तुम्हारे मन मे सच्चा वैराग्य है तो कोई बात नही, किंतु एक बार तुम ससुराल जाओ! वहा अपने पतिदेव से विचार करो, उनकी आज्ञा लो। ससार मे स्त्री के लिए–"पति हि परमेश्वरः" कहा गया है। इसलिए पति तथा अन्य गुरुजनो की स्वीकृति लेकर ही इस महान् पथ पर कदम बढाना चाहिए।"

पति से तत्त्व चर्चा

पिताजी के सुझाव को श्री राजीमती ने आदर के साथ स्वीकार किया और वे जम्मू अपने ससुराल आई। दो चार दिन के बाद एक दिन उन्होने अपने पतिदेव से मन का विचार प्रगट करने की आज्ञा मागी। पति ने सोचा इसे किसी नये आभूषण या कोई सुन्दर वस्त्र आदि की आवश्यकता होगी, अत उन्होने कहा—"कहो! क्या चाहती हो?

राजीमती जी—'मैंने स्यालकोट मे अपनी गुरुणी जी का उपदेश सुना है। उनका उपदेश मुझे बहुत सुन्दर लगा।"

पति—"खुशी की बात है, गुरुओ का उपदेश अच्छा लगे यह तो सुन्दर बात है। उनका उपदेश जीवन मे उतर जाये तो कल्याण न हो जाये?"

राजीमती जी—"पतिदेव! मैंने उनके उपदेशो को जीवन मे उतारने का ही निश्चय किया है। ससार के नश्वर ऐश्वर्य-भोग का त्याग कर दीक्षा लेने का मेरा मन है। आप मुझे आज्ञा दीजिए।"

पति—(आश्चर्य पूर्वक देखते हुए) तुम यह क्या कह रही हो? तुम्हारी इतनी छोटी उम्र है, शरीर इतना सुकुमार है, इस शरीर से साध्वी जीवन के कठोरतम कष्टो को कैसे सहन कर सकोगी?

जानती हो, जैन साध्वी का व्रत कितना कठोर है ? नंगे पांवों पैदल चलना, भूमि पर सोना, दो चार पतले वस्त्रों से भयंकर सर्दी का सामना करना। भिक्षा माँग कर खाना और अपनी गुरुणी की आज्ञा सिर पर चढ़ाकर उनकी मर्जी से चलना, वहुत कठिन है ?"

राजीमती—"हां, यह सव तो मैंने सोच लिया है, मन को जव अपने कावू में कर लिया तो फिर कुछ भी कठिन नहीं है। फिर ये तो क्या कष्ट है ? संसार में मनुष्य को इन से भी ज्यादा कष्ट उठाने पड़ते हैं। आर नरक एवं पशुयोनि में तो अनन्त-अनन्त कष्ट, पीड़ाएं भोगनी पड़ती हैं। संयम के थोड़े से कष्ट तो इन सब कष्टों से छुटकारा पाने के लिए ही है।"

पति—"लेकिन तुम्हें अभी इन कष्टों को झेलने की क्या जरूरत है ? धन, संपत्ति, आभूषण आदि संसार के सभी सुख तुम्हें मिले हैं, पहले इनका आनन्द लो। अभी तो २०-२१ वर्ष की उम्र है। संसार के सुख भोगकर उम्र पक जाने के बाद वैराग्य हो तो साध्वी बन जाना, कौन मना करता है ?"

राजीमती—पतिदेव ! धन, संपत्ति, आभूषण आदि के उपभोग में सुख कैसा ? ये तो सब नाशमान् पदार्थ हैं। घास के पत्तों पर पड़ी ओस की बूंदे सूर्य की किरणों से जैसे मोती की तरह चमकती दिखाई देती है, किंतु उनकी चमक कितनी देर की है ? दो क्षण में तो वह गिरकर धूल में मिल जायेगी ! वैसे ही संसार के ये भोग-विलास हैं। यौवन का वेग नदी के प्रवाह की तरह चंचल है। बर्फ की तरह क्षणभर में गलकर वह जाने वाला है। इनमें सुख की इच्छा रखना तो उलटी मूर्खता है। ये भोग सुख के कारण नहीं, दु:ख के कारण हैं। इनका त्याग करने से ही मुक्ति के अनन्त सुख मिल सकते हैं।"

पति—"यह सब ठीक है, परन्तु इतनी छोटी उम्र में वैराग्य लेना ठीक नही है। जरा उम्र पक जाने के बाद ही वैराग्य की बात करनी चाहिए।"

राजीमती—"क्या छोटी उम्र मे वैराग्य नही होता, और दीक्षा नही ली जाती ? महासती राजुल तो यौवन के प्रथम चरण में ही वैराग्य धारण कर भगवान नेमिनाथ के चरण-चिन्हो पर चल पड़ी थी। और भी सैंकडो ऐसे उदाहरण है। वैराग्य का अवस्था से क्या सम्बन्ध ? और फिर यह किसको पता है कि बचपन के बाद जवानी आयेगी या नही ? जवानी मे बुढ़ापे की इन्तजार करने वाले क्या बुढ़ापा आने से पहले नही मर जाते ? मौत का कोई भरोसा है ? किसी की गारटी है ? पतिदेव ! आपने सुना है,—"एक बार महाराज युधिष्ठिर के पास एक ब्राह्मण दान मांगने आया। महाराज युधिष्ठिर किसी कार्य मे व्यस्त थे—उन्होने ब्राह्मण से कहा—विप्रदेव ! आप कल आइए ! कल आपको जरूर मन इच्छित वस्तु दान मे दी जायेगी।"

ब्राह्मण निराश होकर लौटने लगा। जब भीम ने महाराज का यह उत्तर सुना तो उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे जोर-जोर से शख बजाने लगे, नगाड़े पीटकर नाचने लगे। धर्मपुत्र ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"भीम ! आज इतनी खुशी की क्या बात हो गई ? बडी मस्ती मे नाच रहे हो ?" भीम ने कहा—"आज हमारे महाराज ने काल पर विजय प्राप्त करली है। जिस काल को ससार का कोई भी महापुरुष आज तक जीत नही सका, उसे आपने जीत लिया, मै इसी खुशी मे नाच रहा हूँ।"

युधिष्ठिर भीम की बात समझ नही सके। उन्होने पूछा—"काल पर कैसी विजय ? वह तो अजेय है, उसे कौन जीत सकता है।"

भीम—"महाराज ! आपका वचन कभी असत्य नहीं होता, आपने जब दीन ब्राह्मण को कल दान देने का वचन दे दिया है तो इसका मतलब है कल-कल तक तो आपने कालपर अवश्य ही विजय प्राप्त करली ! वर्ना जिस 'काल' (मृत्यु) का एक क्षण भर का भरोसा नहीं, उसके लिए आप कल तक का भरोसा कैसे करते ?"

महाराज युधिष्ठिर को अपनी भूल का पता चला। तुरंत ब्राह्मण को बुलाकर उन्होंने दान दिया। और निश्चय किया कि कोई भी शुभ कार्य कल पर नहीं छोड़ना चाहिए, कल आयेगा या नहीं इसका भी तो कोई पता नहीं है ?

तो, पतिदेव ! युधिष्ठिर जैसे सम्राट् भी एक दिन काल का भरोसा नहीं कर सके तो हमारे जैसे मनुष्यों की क्या बिसात है, जो जवानी में बुढ़ापा आने का इन्तजार करें कि बुढ़ापे में धर्म करेंगे। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा करके मुझे संयम धारण करने की आज्ञा दीजिए।"

राजीमती जी की बातों से जयदयालमल्ल जी का हृदय गद्गद हो गया। उनकी आँखें डबडबा आईं। वे बोले- "जब तुम दीक्षा ले लोगी तो यह धन वैभव सब किस के काम आयेगा ? हम क्यों कमायेंगे ?"

राजीमती जी हँसकर बोलीं—"तो फिर आप भी साधु बन जाइये !"

पति—"तुम्हारे मोह के कारण साधु बन गये, लेकिन फिर निभायेंगे कैसे ? हमारे मन में तो वैराग्य ही नहीं है ?"

पत्नी—"आप बिना वैराग्य के जैसे साधुव्रत नहीं निभा सकते, वैसे ही मैं वैराग्य होने पर संसार में कैसे रह सकूंगी ? मुझे तो संसार में एक क्षण भी नहीं रुचता ! आप चाहें तो दूसरा विवाह कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो आप दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए।"

इस प्रकार एक वर्ष तक पति-पत्नी के बीच प्रश्नोत्तर चलते रहे। पति ने कई तरह से पत्नी के वैराग्य की परीक्षा ली, उसकी गहराई से जाँच की और जब देखा कि पत्नी का वैराग्य किसी भय, प्रलोभन या फुसलाहट से प्रेरित नही है, किंतु हृदय की गहराई से जन्मा है तो उन्होंने कहा—"यदि तुम्हारी इतनी प्रवल इच्छा है तो चलो मैं तुम्हे दीक्षा लेने की आज्ञा देता हूँ और जिस घर से विवाह करके लाया हूँ उसी घर मे पुनः सौप आता हूँ।" लाला जयदयालमलजी राजीमती जी को अपने साथ स्यालकोट लेकर आये। और उनके पिता को सोपते हुए कहा—"यह दीक्षा लेने के लिए दृढ प्रतिज्ञ हो रही है, मैने बहुत समझाया है किंतु अपने सकल्पों से टस से मस ही नही हो रही है। मेरी तर्फ से तो आज्ञा है, आप जानें और आपकी पुत्री जाने।" इतना कहकर वे वापस जम्मू चले गये।

राजीमती जी के पिता, माता और भाईयो ने भी उन्हे बहुत समझाया, पर जब वे किसी के सामने नही झुकी, तो उन्हे उनके नाना, अमृतसर के प्रसिद्ध धनाढ्य श्रावक लाला सुखानन्दजी के पास भेज दिया। सुखानन्दजी धर्म के जानकार भी थे, बिरादरी में मुखिया थे और दूर-दूर तक उनकी दृढ़ता एव उदारता की प्रसिद्धि थी। सुखानन्दजी ने राजीमती जी के वैराग्य की परीक्षा की, किंतु जब वे किसी भी प्रलोभन एव भय से विचलित नही हुई तो महासती पार्वती जी से सयम प्रदान करने की प्रार्थना की। प्रवर्तिनी महासती जी उस समय स्यालकोट में विराजमान थी। लाला सुखानन्द जी की प्रार्थना पर महासती जी ने दीक्षा प्रदान करने की स्वीकृति दी। और वि० स० १९४८ वैसाख सुदि १३ सोमवार का शुभ मुहुर्त निश्चित किया गया। अमृतसर की जनता की प्रार्थना स्वीकार कर महासती जी ने वहा पधारने की घोषणा की।

श्री राजीमती जी के नाना लाला सुखानन्द जी की इच्छा थी

कि दीक्षा-उत्सव का संपूर्ण खर्चा वे ही वहन करें, किंतु अमृतसर की धर्मप्रेमी विरादरी भी इस पुण्य प्रसंग का लाभ लेना चाहती थी, इसीलिए आखिर यह निश्चय किया गया कि बाहर से आने वाले अतिथियों का स्वागत सत्कार अमृतसर की जैन विरादरी करें तथा दीक्षा उत्सव का अन्य खर्च लाला सुखानन्द जी करें। इस शुभ अवसर पर पंजाब के नगरों व गांवों से हजारों लोग आये। दीक्षा उत्सव की चहल-पहल से अमृतसर नगर में रौनक छा गई। वैसाख सुदि १३ सोमवार के दिन धूमधाम से श्री राजीमती जी का दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ।

एक सम्पन्न परिवार की वीस वर्ष की सुन्दर सुकुमार कन्या, पति को छोड़कर, सांसारिक भोग विलास की सामग्रियों से मुंह मोड़कर वैरागिन वने और जैन मुनि की दीक्षा का कठोर व्रत स्वीकार करे—यह प्रसंग दर्शकों के लिए वड़ा ही प्रेरणाप्रद एवं वैराग्य-जनक था। अनेक दर्शक भावविभोर होकर इस दृश्य को देख रहे थे और वैराग्य की लहरों से आन्दोलित हो-होकर गद्‌गद् हो रहे थे। इस दीक्षा प्रसंग की प्रवल प्रेरणाएं जनता के हृदयों को इस प्रकार तरंगित कर गईं कि दीक्षा के बाद भी नगर की विभिन्न धर्म, समाज एवं जाति की सैकड़ों महिलाएं टोलियां वना-बनाकर महासती जी के दर्शनों को आतीं और श्री राजीमती जी के दर्शन कर, वैराग्य की वातें सुनकर त्याग-विराग की भावनाएं लेकर प्रसन्न होकर लौटतीं।

पद्मावती का आदर्श

जैन आगम अन्तगड सूत्र के पांचवें वर्ग में महाराज श्री कृष्ण की पटरानी सती पद्मावती का वर्णन आता है। महारानी पद्मावती ने भगवान अरिष्टनेमी का उपदेश सुना तो उसके हृदय में वैराग्य की हिलोरें उठने लगी, संसार के सुख, वैभव, भोग-विलास से उसका मन विरक्त होगया। उसने वासुदेव श्री कृष्ण की आज्ञा प्राप्त की।

वासुदेव ने जब मन मे सच्चे वैराग्य की झलक देखी तो उन्होने रानी का दीक्षा उत्सव मनाने का आयोजन किया। द्वारिका नगरी सजाई गई, नगर मे उद्घोषणा की गई कि वासुदेव श्री कृष्ण की अत्यन्तप्रिय पटरानी पद्मावती ससार से विरक्त होकर दीक्षा ले रही है, जो वैराग्यशील, ससार मे विरक्त स्त्री पुरुष दीक्षा लेना चाहें वे इस अवसर का लाभ उठाकर दीक्षा ले। इसके पश्चात् वासुदेव ने पद्मावती देवी को स्वर्ण रत्नो के पाट पर बिठाया। अपने हाथ से एक सौ आठ स्वर्ण कलशो से दीक्षा अभिषेक किया। बहुमूल्य वस्त्र आभूषणो से विभूषित कर सहस्र पुरुषवाहिनी शिबिका मे बैठाकर भगवान अरिष्टनेमी के चरणो मे पहुचे। वन्दना नमस्कार कर भगवान से प्रार्थना की—"प्रभो! मेरी अग्र-महिषी पद्मावती देवी मुझे अत्यन्त प्रिय और दर्शनीय है। यह बहुत सुकुमार एव कोमलागी है। इसके मन मे वैराग्य जगा है, यह ससार त्यागकर दीक्षा लेना चाहती है, आप कृपा कर इसे दीक्षा दीजिए और अपनी शिष्या बनाइए।" पश्चात् पद्मावती देवी स्वय आगे बढकर भगवान के चरणो मे उपस्थित होती है, और संसार के दुःखो से उबारकर दीक्षा देने की प्रार्थना करती है। भगवान अरिष्ट-नेमी ने हजारो लोको की परिषद् के बीच पद्मावती देवी को सयम की कठोर साधना मे प्रव्रजित किय।

वासुदेव की विशाल समृद्धि, तीन खण्ड का अखण्ड साम्राज्य और मनइच्छित असीम भोगसामग्री जिस महारानी को प्राप्त थी, वह उन्हे असार समझकर ठुकराती है, फूलो-सी सुकुमार देह को सयम के तीक्ष्ण असिधारा पथ पर बढाती है—यह कितना वैराग्यप्रद, प्रेरक और हृदय को गद्गद् करने वाला दृश्य था। उनके वैराग्य की रोमाचक कहानी महासती राजीमती जी के दीक्षा प्रसग पर सहसा दर्शको की स्मृतियो पर छा जाती है, उनके हृदयो की सुकुमार भावनाओ को आलोडित कर जाती है जो सब प्रकार की सम्पन्नता, भोगसामग्री से युक्त गृहस्थ जीवन और सुकुमार

दैहिक सौन्दर्य की परवाह नहीं करके संयम साधना के कठोरतम मार्ग को स्वीकार कर बड़ी दृढ़ता के साथ भोग समय में योग ग्रहण करती है, और जीवन को कठोर तपश्चर्या, ध्यान, साधना, जप, मौन एवं सेवा में निछावर कर देती है।

स्वाध्याय और तपः साधना

सती राजीमती जी का अन्तःकरण वैराग्य एवं तपस्या की मधुर सुवास से महकने लग गया। उनकी रुचि स्वाध्याय, ध्यान, जप, मौन आदि की ओर विशेष रहती। दिन में जहां साध्वियों के पास दर्शन करने वाली बहनों का तांता लगा रहता, धर्म सुनने की इच्छुक या वार्तालाप करने की इच्छुक बहनें जमी रहतीं, तब भी राजीमती जी उनसे दूर जाकर दो-दो चार-चार घंटा स्वाध्याय करतीं, परम योगी की तरह समाधि लगाकर ध्यान करने बैठ जातीं। स्वाध्याय-ध्यान में उन्हें बड़ा आनन्द आता, एक अद्‌भुत शांति प्राप्त होती। जिस शांति और समाधि की प्राप्ति के लिए सुख वैभव का त्याग किया, कठोर संयम का धारण किया वह इसी स्वाध्याय-ध्यान के मार्ग से प्राप्त हो सकती है—यह सती श्री राजीमती जी का दृढ़ विश्वास था। भगवान महावीर के इस संदेश पर कि—

सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणो।

जो साधक-स्वाध्याय, और शुभ ध्यान में लीन रहता है, हृदय को परम निर्मल एवं सरल रखता है, दांव-कपट से दूर रहकर पापों से बचता रहता है, और शरीर को तपःसाधना में जोड़ देता है—उसके आन्तरिक मल, पूर्वकृत पापों की कालिमा वैसे ही नष्ट हो

वासुदेव ने जब मन मे सच्चे वैराग्य की झलक देखी तो उन्होने रानी का दीक्षा उत्सव मनाने का आयोजन किया। द्वारिका नगरी सजाई गई, नगर मे उद्घोषणा की गई कि वासुदेव श्री कृष्ण की अत्यन्तप्रिय पटरानी पद्मावती ससार से विरक्त होकर दीक्षा ले रही है, जो वैराग्यशील, ससार से विरक्त स्त्री पुरुप दीक्षा लेना चाहें वे इस अवसर का लाभ उठाकर दीक्षा लें। इसके पश्चात् वासुदेव ने पद्मावती देवी को स्वर्ण रत्नो के पाट पर बिठाया। अपने हाथ से एक सौ आठ स्वर्ण कलशो से दीक्षा अभिषेक किया। बहुमूल्य वस्त्र आभूपणो से विभूपित कर सहस्र पुरुपवाहिनी शिविका मे बैठाकर भगवान अरिष्टनेमी के चरणो मे पहु चे। वन्दना नमस्कार कर भगवान से प्रार्थना की—"प्रभो! मेरी अग्र-महिपी पद्मावती देवी मुझे अत्यन्त प्रिय और दर्शनीय है। यह बहुत सुकुमार एव कोमलागी है। इसके मन मे वैराग्य जगा है, यह ससार त्यागकर दीक्षा लेना चाहती है, आप कृपा कर इसे दीक्षा दीजिए और अपनी शिष्या बनाइए।" पश्चात् पद्मावती देवी स्वय आगे बढकर भगवान के चरणो मे उपस्थित होती है, और संसार के दु खो से उबारकर दीक्षा देने की प्रार्थना करती है। भगवान अरिष्ट-नेमी ने हजारो लोको की परिपद् के बीच पद्मावती देवी को सयम की कठोर साधना में प्रव्रजित किय ।

वासुदेव की विशाल समृद्धि, तीन खण्ड का अखण्ड साम्राज्य और मनइच्छित असीम भोगसामग्री जिस महारानी को प्राप्त थी, वह उन्हे असार समझकर ठुकराती है, फूलो-सी सुकुमार देह को सयम के तीक्ष्ण असिधारा पथ पर बढाती है—यह कितना वैराग्यप्रद, प्रेरक और हृदय को गद्गद् करने वाला दृश्य था। उनके वैराग्य की रोमाचक कहानी महासती राजीमती जी के दीक्षा प्रसग पर सहसा दर्शको की स्मृतियो पर छा जाती है, उनके हृदयो की सुकुमार भावनाओ को आलोडित कर जाती है जो सब प्रकार की सम्पन्नता, भोगसामग्री से युक्त गृहस्थ जीवन और सुकुमार

दैहिक सौन्दर्य की परवाह नहीं करके संयम साधना के कठोरतम मार्ग को स्वीकार कर बड़ी दृढ़ता के साथ भोग समय में योग ग्रहण करती है, और जीवन को कठोर तपश्चर्या, ध्यान, साधना, जप, मौन एवं सेवा में निछावर कर देती है।

स्वाध्याय और तपः साधना

सती राजीमती जी का अन्तःकरण वैराग्य एवं तपस्या की मधुर सुवास से महकने लग गया। उनकी रुचि स्वाध्याय, ध्यान, जप, मौन आदि की ओर विशेष रहती। दिन में जहां साध्वियों के पास दर्शन करने वाली वहनों का तांता लगा रहता, धर्म सुनने की इच्छुक या वार्तालाप करने की इच्छुक बहनें जमी रहतीं, तव भी राजीमती जी उनसे दूर जाकर दो-दो चार-चार घंटा स्वाध्याय करती, परम योगी की तरह समाधि लगाकर ध्यान करने बैठ जाती। स्वाध्याय-ध्यान में उन्हें बड़ा आनन्द आता, एक अद्भुत शांति प्राप्त होती। जिस शांति और समाधि की प्राप्ति के लिए सुख वैभव का ध्याग किया, कठोर संयम को धारण किया वह इसी स्वाध्याय-ध्यान के मार्ग से प्राप्त हो सकती है—यह सती श्री राजीमती जी का दृढ़ विश्वास था। भगवान महावीर के इस संदेश पर कि—

> सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो
> अपावभावस्स तवे रयस्स।
> विसुज्झइ जंसि मलं पुरेकडं
> समीरियं रुप्पमलं व जोइणो।

जो साधक-स्वाध्याय, और शुभ ध्यान में लीन रहता है, हृदय को परम निर्मल एवं सरल रखता है, दांव-कपट से दूर रहकर पापों से बचता रहता है, और शरीर को तपःसाधना में जोड़ देता है—उसके आन्तरिक मल, पूर्वकृत पापों की कालिमा वैसे ही नष्ट हो

जाती है—जैसे सोने को अग्नि मे डालने से उसका मैल नष्ट हो जाता है, और अमल-विमल ज्योति निखर उठती है।

भगवान महावीर का यह उपदेश सती श्री राजीमती जी के जीवन के कण-कण मे समा गया।

चन्द्रश्रेणी तप—महासती जी ने अपने जीवन मे एकबार चन्द्रश्रेणी तप किया। चन्द्रश्रेणी तप का अर्थ है—जिस प्रकार कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कला प्रतिदिन एक-एक घटती जाती है, अमावस्या को सपूर्ण सोलह कलाए विकसित हो जाती है। इसी प्रकार चन्द्रश्रेणी तप करनेवाला साधक कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को अपने सामान्य सोलह ग्रास के भोजन मे से एक ग्रास घटाता है। यो घटाते-घटाते अमावस्या को सपूर्ण आहार घटाकर उपवास करता है, और पुन. प्रतिपदा को एक ग्रास लेता है, द्वितीया को दो—इस प्रकार क्रमश: एक-एक ग्रास बढाता हुआ पूर्णिमा तक पन्द्रह-सोलह ग्रास तक पहु च जाता है। एक महीने का यह तप—जिसमे उणोदरी तप की विशेष साधना की जाती है, चन्द्रमा की कलाओ के साथ घटता-बढ़ता रहने से चन्द्रश्रेणी तप कहलाता है। महासती जी ने दो बार इस तप की आराधना की।

जब इनका चन्द्रश्रेणी तप चल रहा था तो अन्तिम दिनो मे तेला कर लिया, दूसरे दिन चौला करने का विचार था, किन्तु रात्रि मे ही अधरग रोग का प्रकोप हो गया। बस फिर क्या था, सथारे की वृत्ति जाग्रत हुई। किंतु सघ नही चाहता था कि अभी से ही ऐसी विभूति हमारे से दूर हो।

तभी साध्वी स्वर्णकान्ता जी ने विनम्रता से प्रार्थना की कि—"महासती जी! आप दूसरो के कष्टहरण कर सकते है पर स्वय के लिए ऐसा क्यो? आप पूर्ण शक्तिशालिनी है, प्रचण्ड सामर्थ्य है आप श्री मे। कृपया अपना रोग शमन कर शक्ति का परिचय हमे भी दीजिए।

प्रवर्त्तनी श्री राजीमती जी मौन रहे। कई वार आग्रह करने पर न जाने उनके मन में क्या आया वह मुस्कराते हुए उठे—ध्यानस्थ वृत्ति में तल्लीन होकर न जाने किस पाठ का स्वाध्याय किया गया, एक दो घंटे के पश्चात् रोग का कुछ उपशमन दिखाई दिया। शनैः शनैः रोग दूर होता चला गया।

उनका त्याग तप विशिष्ट महत्त्वकारी था। वह त्याग तप को सच्ची विभूति थी। उनकी साधना में इतना बल व ज्योति प्रकट हो गई थी कि कोई कितना भी रोगग्रस्त मनुष्य क्यों न हो, पर जब उनके दर्शन कर लेता व मंगलपाठ स्तोत्रादि को सुनता तो बस शनैः शनैः रोग मुक्त होता ही चला जाता।

अठाइयां और आयंबिल—आठ दिन तक के कठोर संलग्न उपवास को जैन परिभाषा में अठाई कहा जाता है। सामान्य लोगों के लिए एकदिन का उपवास भी बड़ा कठिन होता है, जिसमें आठदिन तक लगातार निराहार रहकर आत्मचिंतन, स्वाध्याय ध्यान करते रहना बड़ा ही कठिन व उग्रतप है। महासती श्री राजीमती जी ने पांच बार आठ-आठ दिन की तपश्चर्या की। उपवास, वेला-तेला आदि तपस्याओं की तो कोई गणना भी नहीं थी। जब भी मन हुआ, एक दिन-दो दिन का उपवास कर लिया। लंबे उपवासों में शरीर की शक्ति क्षीण अधिक हो जाती है, और उस अशक्तता के कारण तपःसाधक प्रायः सोते-सोते समय गुजारता है। महासती जी की यह विशेषता थी कि वे लंबी तपस्याओं में भी जप करती रहती, ध्यान और स्वाध्याय करती रहती। इस प्रकार तपःज्योति को ध्यान, स्वाध्याय के स्नेह से और अधिक प्रखर बनाती रहती।

महासती जी ने अपने जीवन में आयंबिल व्रत की विशेष साधना की। एक बार एक आसन से एक अन्न का भोजन करना, उसमें भी घी-तेल आदि विगय से रहित केवल रुक्ष भोजन ग्रहण करना आयंबिल कहलाता है। कुछ लोगों का मत है—आयंबिल उपवास

से भी कठिन होता है। महासती श्री राजीमती जी को जब देखो तब आयबिल करती रहती। जीवन मे उन्होने अगणित आयबिल व्रत किए, जिनकी कोई गणना नही थी। वस्तुत. उनका लक्ष्य था— जप-तप स्वाध्याय-ध्यान की साधना करके जितना हो सके इस भौतिक देह से अभौतिक धर्म की आराधना करली जाय। देह तो नश्वर है, असार है, मृत्यु की कारी छाया इस पर गिरती है और इस देह को ग्रसकर ले जाती है। किंतु जो इस देह से धर्म की, तप की, ब्रह्मचर्य और संयम की आराधना करता है, वह एक दिन उस मृत्यु को भी जीत सकता है। वेदो मे कहा है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"

देवता अमर क्यों है ? क्योंकि ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा उन्होने मृत्यु को जीत लिया है। महासती श्री राजीमती जी भी एक दिव्य नारी थी, एक कालजयिनी शक्ति थी। जिनके जीवन में ब्रह्मचर्य, संयम, तपस्या और ध्यान की निर्मल-दिव्य आभा व्यक्त हुई। तपस्या के साथ शांति, क्षमा, मानसिक प्रसन्नता आदि उनके अद्भुत गुण थे।

परम तितिक्षा—महासती जी के जीवन मे तितिक्षा व्रत की उत्कटता भी एक आदर्श थी। साधक के लिए बताया गया है—वह सर्दी, गर्मी, धूप वर्षा आदि प्राकृतिक परिषहो का दृढता के साथ मुकाबला करे। यह नही कि सर्दी पडी तो गृहस्थ की तरह रजाइयों मे दुबक कर बैठ गया गर्मी पडी तो पखो की हवा, स्नान आदि से राहत पाने की चेष्टा करने लगा—और हाय-हाय-करके मन को अशात बनाता रहे। "देखो कैसी सर्दी पड रही है—पाव लकडी हो रहे है, मर रहे है, आग जलाओ, अमुक करो-अमुक करो"—इस प्रकार से घबरा कर रात-दिन बेचैन बना रहे, यह साधक के लिए उपयुक्त नही है। वह कैसा साधक जो सर्दी-गर्मी आदि प्राकृतिक परीपहो के सामने मन का धैर्य खो बैठे, तितिक्षा को छोड़कर

भिक्षुक के बाने को लजाने लगे ? कहावत है- तितिक्षु ही भिक्षु हो सकता है। महासती राजीमती जी के जीवन में तितिक्षा वृत्ति की बड़ी उत्कट साधना देखी जाती है। भयंकर से भयंकर गर्मी के कष्ट में भी कभी उनके चेहरे पर एक शिकन नहीं आई और होठों पर ऊफ् तक नहीं सुना। सर्दी में तो वे कठोर तितिक्षावृत्ति की साकार मूर्ति बन जाती थी। पौष-माघ की कड़कड़ाती सर्दी में भी कभी उन्होंने गर्म वस्त्र का प्रयोग नहीं किया। केवल एक सूती चादर में उस भयंकर सर्दी का मुकावला करती। सर्दी का ठिठुरन से जब शरीर कांपने लगता तो वे सिकुड़कर बैठ जाती और रातभर जप-ध्यान किये जाती। जब सर्दी की ठंडी रातों में संसार गर्म कपड़ों और बंद कोठरियों में दुबका रहता, तब वह तितिक्षा की साधिका देह पर एक पतली सूती चादर लपेटे अध्यात्म-जागरण करती हुई गीता की उस उक्ति को चरितार्थ करती प्रतीत होती—

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।

संसारी प्राणियों के लिए जो रात है, सोने की वेला है, संयमी साधक के लिए वही जागरण-वेला है, वह उन रातों में भी अपने अन्तर के देवता को जगाता है और उसको आराधना करता है।

दीक्षाएं

महासती राजीमती जी का जीवन निस्पृह साधिका का जीवन था, जिसमें स्वाध्याय, ध्यान, जप-तप की अखण्ड लौ जल रही थी। न उसमें किसी प्रकार की यश कीर्ति, प्रतिष्ठा एवं पूजा की आकांक्षा थी और न शिष्य, परिवार आदि की कामना। गुरु के मन में शिष्य परिवार बढ़ाने की एक वैसी ही लालसा रहती है, जैसी सांसारिक मनुष्य के हृदय में पुत्र-परिवार बढ़ाने की। यह आकांक्षा संयम के अनुकूल नहीं है। महासती राजीमती जी के मन को इस प्रकार की इच्छाएं कभी स्पर्श तक नहीं कर पाईं। उनके पास कोई बहन

शिष्या बनने को आई भी, तब भी उन्होने उस प्रसंग को टालकर अपनी ध्यान साधना मे ही लीन बनी रही। कोई विशेष योग्य भव्य आत्मा के प्रति उनके मन मे जब यह भावना जगी कि इस आत्मा का विकास करने पर जिन शासन की प्रभावना मे अभिवृद्धि हो सकती है, तभी उन्होने उसे अध्ययन आदि से योग्य बनाकर दीक्षा दी।

महासती जी की योग्य शिष्याओ के ये छह नाम है—श्री हीरा देवी जी म०, श्री पन्नादेवी जी म०, श्री चन्दाजी म०, श्री मानक देवी जी म०, श्री रतनदेवी जी म०, श्री ईश्वरादेवी जी म०। आज इन शिष्याओ का परिवार साध्वी समाज मे काफी अध्ययनशील, विकास के पथ पर अग्रणी एव जिन शासन की प्रभावना करने मे निपुण है।

महासतीपन्नादेवी जी श्री राजीमती महाराज की द्वितीय योग्यशिष्या है। जिनकी दीक्षा वि० स० १९५८ मे महासती श्री पार्वती जी महाराज के सानिध्य मे महासती श्री राजीमती जी की नेश्राय मे रोहतक नगर मे आषाढ सुदि १० को बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुई। इनका विस्तृत जीवन वृत्त अगले पृष्ठो पर दिया जा रहा है!

स्वर्गारोहण

प्रवर्तिनी महासती श्री पार्वती जी महाराज अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण अन्तिम दिनो मे जालधर मे स्थिरवास रही। तब महासती राजीमती जी ने अपूर्व निष्ठा एव लगन के साथ आपकी सेवा की। सेवा धर्म बहुत सूक्ष्म और गहन है। कवियो ने कहा है—

"सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः"

—सेवा धर्म बहुत ही गहन है? बड़े-बडे मनस्वी योगी भी इसे

समझ नहीं पाते। गुरु की इच्छा और संकेतों को समझना-बहुत बड़ी कुशलता है। शास्त्र में कहा है—

"इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई"

जो शिष्य गुरु के इंगित-आकार—शरीर एवं मुख की चेष्टा से मनोगत भावों को समझ लेता है, वही वास्तव में विनीत है। कहना नहीं होगा, महासती श्री राजीमती जी इस सेवा धर्म में बड़ी निपुण थी। इन्होंने अपनी आराधनीया गुरुणी जी की तन-मन से सेवा की और अन्तिम समय तक उनके इंगिताकार की आराधना की।

वि० सं० १९९९ में माघवदि नवमी शुक्रवार को जब श्री प्रवर्तिनी जी महाराज का स्वर्गवास हुआ तो उसके पश्चात् उनके महान पद पर उनकी योग्यतम शिष्या आप ही लोगों की नजर में आई। अतएव गुरुणी जी के प्रवर्तिनी पद को आपने सुशोभित किया। आप भी शरीर से अस्वस्थ हो चुकी थी, अतः गुरुणी जी के बाद में जालन्धर में ही स्थिरवास रहीं।

वृद्धावस्था में आपकी समाधि, शांति, ध्यान स्वाध्याय-जप की लगन वस्तुतः अद्भुत थी। शरीर अस्वस्थ एवं रुग्ण रहते हुए भी बीमारी को तितिक्षापूर्वक सहन करना, कष्टों में भी मुख कमल विकस्वर रखना और ध्यान आदि में किसी प्रकार का विघ्न न आने देना आपके अपूर्व मनोबल एवं तपोबल का परिचायक है।

वि० सं० २०१० कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी का वह दिन भी आखिर आ ही गया, जिस दिन वैराग्य की प्रतिमूर्ति महासती राजीमती जी ने ध्यान-स्वाध्याय आदि से अन्तःकरण के मल का प्रक्षालन कर, आलोचना, आत्मनिन्दा आदि के द्वारा ज्ञात अज्ञात में हुई भूलों का परिमार्जन कर चारित्र को परम विशुद्ध एवं उज्ज्वल रूप प्रदान करती हुई समाधिपूर्वक इस नश्वर देह का त्याग किया। जालन्धर शहर की वह पुण्यधरा भी कैसी भाग्यशालिनी थी जहां पर दो-दो महान विभूतियों ने अपने अन्तिम जीवन की मूल्यवान

घड़िया बिताई और नश्वर देह को त्याग कर समाधि मरण प्राप्त किया।

धन्य है वह दिव्य आत्मा जिसने अपने जीवन पुष्प की मधुर महक मे ससार के कण-कण को सौरभमय बना डाला।

धन्य जीवन है वही, जो
दीप बन कर जल रहा।
शुष्क भू की प्यास हरने
स्रोत बन कर चल रहा।

●

जग में जीवन श्रेष्ठ वही
जो फूलों-सा मुस्काता है।
अपनी गुण-सौरभ से जग के
कण-कण को महकाता है।

४ क्षात्रबल एवं ब्राह्मतेज की समन्विति महासती पन्नादेवी जी

यजुर्वेद में एक मंत्र है—

> यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
> तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
>
> —यजुर्वेद २०।२५

"जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय समान मन वाले होकर अवियुक्त-एकीभाव होकर साथ चलते हैं, साथ कर्म करते हैं, वहां देवगण आध्यात्मिक तेज के साथ निवास करते हैं, मैं उस पवित्र एवं प्रज्ञान रूप दिव्यलोक को प्राप्त करूं।"

भारतीय संस्कृति में क्षात्रबल तेज, कर्म एवं पुरुषार्थ का प्रतीक रहा है, तथा ब्राह्मबल—ज्ञान, तितिक्षा एवं परम आध्यात्मिक ओज का। दोनों बल जहां विभक्त होते हैं, वहां सांस्कृतिक गौरव खण्ड-खण्ड हो जाता है, जीवन का सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। और जहां इन दोनों में परस्पर समन्वय स्थापित होता है, क्षात्रबल-ब्राह्मतेज

घड़िया बिताई और नश्वर देह को त्याग कर समाधि मरण प्राप्त किया।

धन्य है वह दिव्य आत्मा जिसने अपने जीवन पुष्प की मधुर महक से संसार के कण-कण को सौरभमय बना डाला।

धन्य जीवन है वही, जो
दीप बन कर जल रहा।
शुष्क भू की प्यास हरने
स्रोत बन कर चल रहा।

❁

जग में जीवन श्रेष्ठ वही
जो फूलों-सा मुस्काता है।
अपनी गुण-सौरभ से जग के
कण-कण को महकाता है।

क्षात्रबल एवं ब्राह्मतेज की समन्विति
महासती पन्नादेवी जी

यजुर्वेद में एक मंत्र है—

> यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
> तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
>
> —यजुर्वेद २०।२५

"जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय समान मन वाले होकर अवियुक्त-एकीभाव होकर साथ चलते हैं, साथ कर्म करते हैं, वहां देवगण आध्यात्मिक तेज के साथ निवास करते है, मैं उस पवित्र एवं प्रज्ञान रूप दिव्यलोक को प्राप्त करूं।"

भारतीय संस्कृति में क्षात्रबल तेज, कर्म एवं पुरुषार्थ का प्रतीक रहा है, तथा ब्राह्मबल—ज्ञान, तितिक्षा एवं परम आध्यात्मिक ओज का। दोनों बल जहां विभक्त होते हैं, वहां सांस्कृतिक गौरव खण्ड-खण्ड हो जाता है, जीवन का सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। और जहां इन दोनों में परस्पर समन्वय स्थापित होता है, क्षात्रबल-ब्राह्मतेज

घड़िया बिताई और नश्वर देह को त्याग कर समाधि मरण प्राप्त किया।

धन्य है वह दिव्य आत्मा जिसने अपने जीवन पुष्प की मधुर महक से ससार के कण-कण को सौरभमय बना डाला।

धन्य जीवन है वही, जो
दीप बन कर जल रहा।
शुष्क भू की प्यास हरने
स्रोत बन कर चल रहा।

●

जग मे जीवन श्रेष्ठ वही
जो फूलों-सा मुस्काता है।
अपनी गुण-सौरभ से जग के
कण-कण को महकाता है।

मे आलोकित होता है, और ब्राह्मबल–क्षात्रतेज से दीप्त हो उठता है, वहा जीवन की दिव्यता प्रकट होती है। सस्कृति, धर्म एव राष्ट्र की गौरव-श्री वृद्धि पाती है।

क्षात्रबल एव ब्राह्मबल का प्रतीक है ज्ञान एव कर्म। जेन परिभाषा मे श्रुत एव चारित्र। बौद्ध-भाषा मे विद्या एवं शील !

जिस प्रकार मानव तन में दो हाथ, दो पैर होते है, पक्षी के दो पख–'पर' होते है, गाडो के दो चक्र होते है—उसी प्रकार सस्कृति, धर्म एव राष्ट्र की श्री को गतिमान करने वाले दो तत्त्व है—बुद्धि एव पुरुषार्थ ! ज्ञान एव कर्म ! जब दोनों का मिलन होता है, ज्ञान के साथ क्रिया और क्रिया के साथ ज्ञान—तब स्वर्ण सयोग बनता है, जीवन मे एक तेज प्रकट होता है, दिव्यता के दर्शन होते है और जीवन की स्व-पर-उपकारिता सिद्ध होती है। महर्षिवशिष्ठ ने इस ज्ञान-कर्म सयोग को एक रूपक द्वारा महत्व देते हुए कहा है—

> **उभाभ्यामेव पक्षाभ्या यथा खे पक्षिणां गतिः**
> **तथैव ज्ञान कर्मभ्या जायते परमं पदम्।**

—योगवाशिष्ठ वैराग्य० १।७

जैसे पक्षी अपने दोनो परो को मिलाकर अनन्त-आकाश मे मनचाही उडान भर सकता है, वैसे ही साधक जीवन में ज्ञान और कर्म के सहारे परमपद रूप अपने अन्तिम अभिप्रेत को प्राप्त कर लेता है।

तो, जिस जीवन मे ज्ञान की गभीरता और कर्म का तेज प्रकट होता है, वह जीवन ब्राह्मबल एव क्षात्रतेज का एक जीता जागता ज्योति पुज होता है। महासती पन्नादेवी जी का जीवन वास्तव मे एक आदर्श जीवन है—जिसमे क्षात्रतेज एव ब्राह्मबल का आश्चर्यकारी मिश्रण हुआ है। बाह्य दृष्टि से भी तथा आन्तरिक दृष्टि से भी। उनका जन्म एक क्षत्रिय परिवार में हुआ, क्षत्रिय मा की गोद मे पली-पुसी, पिता के क्षात्रतेज के सस्कार उनके रक्त मे घुले।

इस कारण स्वभावतः ही उनके जीवन में, कम में स्फूर्ति, तेजस्विता और सुदृढ़ता का समावेश हुआ। फिर जैन श्रमणियों का ज्ञानमय सहवास उनके कर्म-स्फूर्त मन में, विचार चेतना की एक लहर पैदा कर गया। जीवन-विवेक का जागरण हुआ, निर्वेद-वैराग्य और अध्यात्म की तरंगे उठने लगीं, आत्म-ज्ञान की लौ जलने लगी—इस प्रकार क्षात्र तेज में ब्राह्मबल का सम्मिलन हुआ-और इस सम्मिलन से एक अपूर्व आभा, विमल तेजस्विता एवं दिव्यता से उनका जीवन जगमगाने लग गया। आज अस्सी वर्ष की स्थविर वय में भी उनके हृदय में ज्ञान की गम्भीरता के साथ साधना की अपूर्व स्फूर्ति भरी हुई है। सेवा, सहिष्णुता और परोपकारिता की दिव्य भावनाओं से आज भी उनका अन्तर जीवन एवं बाह्य-वर्तन-अनुप्राणित-सा हो रहा है। अतः हम कह सकती हैं कि महासती पन्नादेवी जी क्षात्रबल एवं ब्राह्मतेज की एक समन्वित मूर्ति है। ज्ञान एवं कर्म की एक जीती जागती प्रतिमा है।

अन्तरंग व्यक्तित्व

महासती पन्नादेवी जी स्थानकवासी जैन समाज की उस महान् साध्वी परम्परा की एक गौरवमयी कड़ी है, जिन्होंने केवल श्रमणी वर्ग को नहीं, किंतु समस्त नारी जाति के गौरव को ऊंचा उठाया है, तथा भारतीय नारी के जीवन को नया संदेश, और नई दिशा दी है। घर की चारदीवारी में बन्द, अशिक्षा एवं अज्ञान से ग्रस्त, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के भार से दबी, भारतीय नारी को उन्होंने गांव-गांव पदयात्रा करके उद्बोधन दिया है, उसमें साहस का संचार किया है, ज्ञान एवं शिक्षा का आलोक दिया है। उसे धर्म, समाज एवं राष्ट्र की सेवा के लिए घर से बाहर खींच कर उन्नति के राज पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया है।

पंजाब, एवं हरियाणा की नारी फैशन में भले ही आगे रही हों,

कुछ लोगो के मत मे वही नई-नई फैशनो की जननी भी रही है, किंतु फिर भी शिक्षा की दिशा मे वह बहुत पिछडी हुई है। भक्ति एव श्रद्धा से उसका हृदय लबालब भरा हुआ है, किंतु तत्त्वज्ञान समाज सेवा एव विचारचेतना के क्षेत्र मे वह शून्य-प्राय है। महासती जी का विहार क्षेत्र प्राय· पजाब, हरियाणा व देहली रहा है, और इस क्षेत्र की जैन महिलाओं मे आज जो नई जागृति, युगानुकूल धामिक विचार चेतना, श्रद्धा व भक्ति के साथ-साथ तत्त्व ज्ञान, तथा शिक्षा प्रसार, फैशन मे विवेक एव नारी सुलभ सहज लज्जा, आदि गुणो की जो लहर पैदा हुई है, उसमे महासती जी के प्रयत्नों का सबसे प्रमुख भाग रहा है। कन्याओ की शिक्षा-दीक्षा के लिए महासती जी ने स्थान-स्थान पर विचार लहरे पैदा की है। पुराने विचारो के माता-पिताओ को पुरानी भाषा मे नई बात समझाकर उनकी भावी सतति के भविष्य को, धर्म, समाज एव राष्ट्र के कल्याण के लिए नया मार्ग देने का प्रयत्न किया है। सामाजिक रूढ़ियो की समाप्ति के लिए समय-समय पर सघर्ष भी करने पड़े है। पर उनकी वाणी मे वह माधुर्य है कि रूढिप्रिय व्यक्तियो के मानस भी सहजतया बदलते गये है, और क्राति के लिए विशेष सघर्ष की स्थितिया स्वत टलती गई। अपनी शिष्य मडली को प्राचीन तत्त्वज्ञान आदि की शिक्षा के साथ नये युग के नये विचार, दर्शन, मनोविज्ञान आदि की शिक्षा देने मे भी आप सदा अग्रणी रही है। यही कारण है कि आपकी शिष्याओ मे कइयो ने आधुनिक युग की पाठ्य-प्रणाली के अनुसार अच्छी शिक्षा व योग्यता प्राप्त की है।

उनके चारित्र एव तपस्या के प्रति समाज में सर्वत्र एक उत्कट श्रद्धा का भाव मिलता है। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, बच्चे और बूढे सभी के मन मे आपके प्रति आदर है, एक सात्विक आकर्षण है, सहज श्रद्धा है और आपके वचन एव वाणी पर विश्वास है।

गुरुमंत्र

एकबार मैंने महासती जी से पूछा—"आपने समाज के सभी वर्गों का, यहां तक कि छोटे-बड़े सन्त सतियों का भी प्रेम, स्नेह, आदर एवं श्रद्धा प्राप्त की है उसका गुरु मंत्र क्या है ? आपके विरोधी प्रथम तो कोई है नहीं, और यदि है भी तो वे भी आपके व्यक्तित्व का आदर करते हैं, सामने आते हैं तो श्रद्धा से सिर झुका लेते हैं, इसका रहस्य क्या है ? क्या आप हमें (अपनी शिष्याओं को) ऐसा कोई स्वर्ण सूत्र नहीं देंगी कि हम आपके समान न सही, किंतु आपकी शिष्या होने के गौरव के अनुरूप कुछ अपने जीवन को भी वैसा बना सकें !"

महासती जी ने मेरी ओर बड़ी गम्भीरता से देखा, और ऐसे पूछा जैसे मैं कोई नई आई हूँ—"तेरा नाम क्या है ?"

मैं भी आश्चर्यपूर्वक उनकी ओर देखने लगी और धीमे से बोला "सरला !"

'सरला ! मेरा तो यही गुरु-मंत्र है। तू नाम से सरला है, मैं काम से, अर्थात् मन से भी 'सरला' रही हूँ। 'सरल' होना, मन, वचन, और कर्म से भी—यह सब से बड़ा गुरु मंत्र है। जो सरला होती है, जिसके मन में गांठें नहीं होतीं, जिसका हृदय छल-छद्म से रहित होता है, जिसकी वाणी भी वैसी ही मीठी होती है, जैसा उस का मन ! वह 'सरला' सब को प्रिय और सबकी आदर पात्र होती है।

सरलता पर विशेष बल देते हुए उन्होंने एक छोटी सी कहानी सुनाई। एक बार श्रीकृष्ण यमुना के किनारे बैठे हुए वंशरी की मधुर टेर छेड़ रहे थे। उनकी वंशी की मीठी तान दूर-दूर तक के उपवनों को गुंजित कर रही थी। जिसके कानों में भी वह मधुर स्वर लहरी पड़ी, वह वहीं सांस रोके सुनने में लीन हो गया। उस

समय गोपिया भी शिर पर गगरी लिए यमुना का जल भरने आई। वंशरी की मीठी तान सुनी तो वे दौडी-दौड़ी वहा पहुँच गई, जहां श्रीकृष्ण बैठे वशरी बजा रहे थे। श्रीकृष्ण अपनी धुन मे मस्त हैं, वशरी होठो मे लगी है और वे आखे मू दे मधुर-स्वर लहरी छेड़ रहे है। गोपियो के मन मे ईर्ष्या की लपट उठी, वे मु ह बनाए श्रीकृष्ण के सामने आयी और कृत्रिम रोप दिखाती हुई बोली—"श्याम! अब तुम हम से नाराज हो गये हो, हम से तुम्हें कोई प्यार नही रहा, और यह जो काली कलौठी, पोली वशरी है, तुम इसी से प्यार करने लगे हो।"

श्रीकृष्ण मुस्कराकर बोले—'भोली गोपियो! तुम व्यर्थ ही रोप करती हो, मैं तो हमेशा रूप से नही, गुण से ही प्यार करता रहा हूँ।"

गोपिया बोली—ओहो! इस काली कलौठी वशरी मे तो गुण है, और हम मे कुछ भी गुण नही। बताइये जरा हमे भी इस मे क्या-क्या गुण हैं?"

श्रीकृष्ण ने कहा—सुनो! इसमे एक नही, बल्कि तीन गुण है! जिसमे एक गुण होता है, वह भी ससार मे प्यारा लगता है, तो इसमे तीन-तीन गुण है।

पहला गुण यह है—यह वशरी रात दिन मेरे पास रहती है, फिर भी बिना बोलाये कभी नही बोलती, जब मैं होठो से लगाकर इसमे स्वर डालता हूँ तभी यह बोलती है। चू कि यह बिना बोलाये नही बोलती, इसलिए मुझे प्यारी लगती है।

गुण नम्बर दो यह है—वशरी को जब भी बुलाओ, तभी यह मीठा बोलेगी। कभी भी कडवी बात मु ह से नही निकालेगी।

अब ध्यान से सुनिये! गुण नम्बर तीन—यह वशरी ऊपर से नीचे तक बिल्कुल सीधी व सरल है। कही भी इसमे गांठ नही है। जिस मे ये तीन गुण हो, बिना बोलाये बोले नही, बोले तो मीठी

बोले, और मन को सीधा सरल रखे, बोलो वह मुझे प्यारी क्यों नहीं होगी ?" श्रीकृष्ण की बात पर गोपियां चुप हो गईं ।

"तो वत्स ! सरला ! तुम समझ गई न ? हमारा मन भी जब वंशरी जैसा सरल होगा, राग-द्वेष की गांठें नहीं होगी, मुंह से कोई कटु वचन नहीं बोलगी, मीठी वाणी निकालेंगी तो हम से भी सब लोग प्यार करेंगे, सब जगह आदर सम्मान और श्रद्धा मिलेगी। यही मेरे जीवन का गुरु मंत्र है।"

महासती जी के जीवन का यह गुरुमंत्र वास्तव में ही चमत्कारी है। जहां सरलता होती है, वहां श्रद्धा और प्रेम अपने आप आ जाते हैं। उनका हृदय बहुत सरल है, बालक-सा निश्छल और निर्मल है। वे मन में कभी गांठ नहीं देती। जो बात कहतीं हैं साफ और स्वच्छ मन से कहती हैं, जो करती हैं, वह भी उतनी ही ईमानदारी और निष्ठा के साथ। ऐसा लगता है उनके बाहर-भीतर का द्वैध समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के शब्दों में—**जहा अंतो तहा बाहिं**, जैसा भीतर, वैसा ही बाहर। द्राक्ष का-सा जीवन है उनका—जो भीतर भी मधुर और बाहर भी मधुर। इसे ही संसार में 'अंगूरी-जीवन' कहते हैं, और इस अंगूरी जीवन के दर्शन हमें महासती पन्नादेवी जी के भीतर होते हैं।

तीन स्वर्णसूत्र

महासती जी की सेवा में दीर्घ काल तक रहने का मुझे अवसर मिला है। उनके स्वभाव एवं व्यवहार का बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण भी करती रही हूँ और यह देखती रही हूँ कि इस महा-स्थविरा साध्वी ने अपने जीवन के दीर्घकालीन अनुभवों के परि-पाक से जीवन को कितना मधुर, कितना आदर्श और कितना आनन्दमय बना रखा है। क्रोध की लालिमा कभी उनकी आंखों में

मैने नही देखी। यह नही कि क्रोध के प्रसग उनके सामने नही आते हो। क्रोध और क्षोभ के प्रसग तो आते ही है, किंतु उनका सिद्धान्त है—"क्रोध को पी जाओ!" वे कहती है—जहर को वमन करने वाला वडा नही होता, किन्तु जहर को हसते-हंसते पी जाने वाला वड़ा होता है। कभी कभी वे एक कहावत कहा करती है—

चेले ने गुरुजी से पूछा—
गुरुजी! हम को धर्म वताना!
गुरुजी ने उत्तर दिया—
कम खाना, गम खाना, नम जाना!"

गुरुजी का यह उत्तर, जिसमे जीवन को धर्ममय बनाने के तीन स्वर्ण सूत्र है, महासती जी के जीवन का आदर्श है।

कम खाना—अर्थात् अल्पाहार—यह जैन श्रमण का व्यावहारिक आदर्श है। वह तपस्वी होता है, तप ही उसका धर्म है, रसना पर विजय प्राप्त करना उसका लक्ष्य है, इसलिए वह भोजन मे सयम रखता है। शास्त्रों मे स्थान-स्थान पर उसके लिए—'अप्पपिण्डासि पाणासि' 'अल्प खाना अल्प पीना'—और 'अप्पाहारस्स' आदि विशेषण इसी बात के सूचक है। जो भूख से कम खाता है, रसना पर नियन्त्रण रखता है, वह कभी वीमार नही पडता, प्रमाद, आलस्य और विकार उसके शरीर मे नही बढते—इसलिए गुरु ने धर्म का पहला सूत्र बताया है—कम खाना!

महासती जी का जीवन तपस्विनी का जीवन है। वे समय-समय पर अनेक प्रकार की तपश्चर्याए करती रही है। रसना पर विजय प्राप्त करना—यह उनका प्रारम्भ से ही आदर्श रहा है। वे कभी स्वाद के पीछे शरीर को वर्वाद नही करती, इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण है, अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु मे भी वे प्राय: स्वस्थ व प्रसन्न दिखाई देती है। जैन धर्म मे 'उनोदरी तप' वताया गया है। उपवास

आदि तप तो कभी-कभी किये जाते हैं, किंतु 'उनोदरी तप'—अर्थात भूख से कम खाना, और स्वाद पर संयम करना, यह निरन्तर का तप है। कहीं-कहीं तो अन्य तपस्याओं से भी उनोदरी तप को कठिन कहा है। मैं देखती हूँ—महासती जी के जीवन में-उनोदरी का निरन्तर-तप चालू है। उनके भोजन में अत्यधिक संयम व सावधानी रहती है। वाग्भट्ट के—'हितभुक् मितभुक्'—हितकारी खाना और कम खाना—स्वास्थ्य के इन दोनों सिद्धान्तों का उनके जीवन में पूरा प्रभाव है। वे कभी-कभी कहती हैं—"इस जीभ को वश में रखो! यह खाकर भी बर्बाद करती है, और बोल कर भी।" खाने और बोलने—दोनों पर संयम रखना सच्चा जिह्वा संयम है। और यह जिह्वा-संयम श्री महासती जी की अपनी विशेषता है।

दूसरा सूत्र है—गम खाना। क्षमा—यह संत का धर्म है। कहावत है—"क्रोध करना शैतान का काम है और क्षमा करना संत का काम है।" जीवन में जब कभी क्रोध के प्रसंग आये, मन में ताप-संताप बढ़ने लगे, रक्त में गर्मी चढ़ने लगे—उस समय मन एवं मस्तिष्क को शांत रखना, वाणी को काबू में रखना और उस क्रोध के घोर जहर को पी जाना—यह संत का कार्य है। महासती जी के जीवन में क्षमा की रस धारा सतत प्रवाहित रही है। सहिष्णुता और तितिक्षा उनके हृदय के कण-कण में व्याप्त हो रही है। क्षमाशील मनुष्य दीर्घ जीवी होता है—इस कहावत को महासती जी का सुदीर्घ स्वस्थ जीवन चरितार्थ करता है। क्रोध और क्षोभ के विकट से विकट प्रश्न पर भी उन्हें कभी क्रोध एवं आवेश आते नहीं देखा। वास्तव में यही तो धीरता की कसौटी है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

विकार के प्रसंग उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकारों

का स्पर्श न हो सके, वे ही वास्तव मे धीर-वीर है। महासती जी की यह विशेपता है कि जिन बातो को सुनकर साधारण गृहस्थ तो क्या, किंतु मुनिजन भी क्रोध से सतप्त हो उठते हैं, महासती जी उन्हे बडे धैर्य के साथ हसते-हसते सुनती है, और विनोद पूर्वक क्रोध करने वाले के क्रोध को भी शात कर देती है।

तीसरा सूत्र है—नमजाना। विनय, नम्रता, मृदुता यह सब जीवन के अलकार है। महासती जी का कहना है, कि—"अकडने वाला पेड़ टूट जाता है और झुकने वाला पेड सदा बना रहता है। इस सम्बन्ध मे वे कभी-कभी एक पौराणिक आख्यान सुनाती है। एक बार समुद्र ने वेत्रवती नाम की एक नदी से कहा—"क्यों री! इतनी नदिया मुझ मे आकर मिलती है, सभी अपने साथ बडे-बडे वृक्षो को बहाकर लाती है और मेरे चरणो मे चढाती है, तुझे क्या हो गया है? तेरे किनारे हजारो-लाखो वेत के वृक्ष है, मगर तू एक भी वृक्ष अपने प्रवाह मे बहाकर नही लाती?"

वेत्रवती ने नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज! आपका कहना बिल्कुल ठीक है। अन्य नदियो की तुलना मे मेरी भेट पूजा बहुत ही अल्प रहती है, किंतु महाराज! मै क्या करू? मेरे दोनो किनारो पर लम्बे-लम्बे बेत के पेड़ झूम रहे है, मै जोर लगाकर जब तेजी के साथ बहती हूँ, और प्रयत्न करती हूँ कि वे उखड-उखड़ कर गिर पडे, पर बजाय गिरने के, वे तो झुक जाते है, उनकी जडे भी नीची चली जाती है और मेरा तेज प्रवाह भी उनका कुछ बिगाड़ नही सकता। प्रवाह का वेग निकल जाने के बाद फिर वे उठकर तन जाते है, इस कारण महाराज! मै आपके लिए कुछ भेट पूजा नही ला सकती।"

महासती जी ने इस रूपक का भाव स्पष्ट करते हुए बताया है—"जो वृक्ष नदी प्रवाह के सामने तन कर खडे रहते है, उन्हें वेग

धराशायी बनाकर बहाकर ले जाता है, किंतु जो झुकना जानते हैं, वे नम्रता के कारण अपनी रक्षा कर लेते हैं।"

वास्तव में नम्रता में वह अद्भुत शक्ति है जो बड़ी-बड़ी विपत्तियों से मनुष्य की रक्षा करती है।

प्रवचन पटुता

महासती जी की कथन शैली बड़ी मधुर और प्रभावशालिनी है। उनका अध्ययन काफी गहरा और व्यापक है। अध्ययन के साथ अनुभव की तीव्रता और कथन की हृदयग्राहिता से उनके प्रवचन बड़े ही प्रभावोत्पादक बन जाते हैं। एक बार वे नम्रता पर प्रवचन कर रही थीं। उनके सामने ही एक वृद्ध बहन बैठी थी। जिसकी आयु लगभग सत्तर-अस्सी वर्ष की होगी। अहंकार से नाश होता है, और नम्रता से रक्षा होती है इस बात पर बल देते हुए महासती जी ने उस बहन को सम्बोधन कर पूछा—'क्यों बहन ! तुम्हारे मुंह में दांत नहीं हैं?'

वृद्धा बहन ने उत्तर दिया—"महाराज ! अब तो एक भी दांत नहीं रहा, सब गिर पड़े।"

—"और जीभ तो है न ?"—महासती जी के प्रश्न पर श्रोतागण भी हंस पड़े। बहन चुप रही, उसे लगा हो शायद उसके साथ मजाक किया जा रहा हो ? महासती जी ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"बताती क्यों नहीं ? दांत गिर गये, मगर जीभ तो बरकरार है, यह सब जानते हैं, किंतु मेरे पूछने का अभिप्राय क्या है, तुम्हें पता है ? दांत क्यों गिर गये, और जीभ अभी भी कैसे बरकरार रही ?" सभी श्रोता मौन थे। रहस्योद्घाटन करते हुए महासती जी ने कहा—देखो, दांत जीभ से बाद में आये और पहले ही चले गये, जीभ जन्म के साथ ही शरीर में थी, और मृत्यु तक शरीर के साथ रहेगी—

इसका कारण समझे कि नही ? दात कडे थे, इसलिए गिर गये। जीभ मुलायम है, इसलिए वह अपने स्थान पर जमी रही। इस ससार मे जो कडाई रखता है, अहकार से अकडा रहता है, वह ज्यादा दिन नही टिक सकता, किंतु जो मुलायम होता है, जिसका हृदय नम्र और मृदु होता है उसे ससार से कोई मिटा नही सकता।"

जीवन की एक साधारण बात को महासती जी ने जिस आकर्षक और मधुर शैली से रखा उससे वह तथ्य श्रोताओ के हृदय को सीधा छू गया। यही तो प्रवचनकर्त्ता की विशेषता है।

आपकी प्रवचन शैली मे जीवन की व्यावहारिक बातो के साथ-साथ दर्शन की गम्भीर चर्चाए भी बडी सरस और सुन्दर भाषा में आती है। प्रवचनो की कुछ श्रृंखला 'प्रवचन पखुड़िया' शीर्षक से अगले खण्ड मे दी जा रही है।

फूलों का गुलदस्ता

फूल की पखुडि को चाहे जिधर से देखो, उसमे सुन्दरता झलक-सी रहती है, चाहे जिधर से उसकी सुगन्ध लो, एक भीनी-भीनी मधुर गंध महकती रहती है। मोदक (लड्डू) को चाहे जिधर से तोडकर चखो, उसके प्रत्येक कण से माधुर्य टपकता रहता है। महासती पन्नादेवी जी का जीवन भी फूलो का एक गुलदस्ता है, जिसमें क्षमा, नम्रता, उदारता, निस्पृहता आदि सद्गुणो के फूल महक रहे है। जीवन के किसी भी पार्श्व को देखिए उसमे सद्गुणो की मधुर सौरभ महकती मिलेगी, उसकी सुषमा निखरती हुई दीखेगी। मोदक की तरह उनके जीवन के कण-कण मे-सरलता, निश्छलता और मिलनसारिता का मिठास भरा हुआ है। उनके व्यक्तित्व का पूरा रेखाकन शब्दो मे नही बाधा जा सकता। किसी ने पूछा—"समुद्र कितना बड़ा है, कितना गहरा है ?" उत्तर मे बताया—"बहुत

वड़ा है, वहुत गहरा है?" प्रश्न कर्ता पूछता गया—वहुत कितना? और उत्तर दाता—'वहुत! वहुत!' उत्तर देता गया। पर जव प्रश्नकर्ता ने आंखों से सागर की असीमता के दर्शन किए उसकी अनन्त गहराई में उतरते गोताखोरों को देखा तो वह कह उठा—ओहो! यह तो असीम है। असीम शब्दों की सीमा में कैसे वंध सकता है? वस, यही वात महासती श्री पन्नादेवी जी के जीवन के सम्वन्ध में कही जा सकती है। उनके दिव्य गुणों का वर्णन, शब्दों से व्यक्त नहीं हो सकता। उनके मन की निर्मलता. पवित्रता, सरलता और मधुरता के शब्दों द्वारा वताना वैसा ही है जैसा सागर की असीमता को 'वहुत वहुत' कहकर वताया जाता है। वास्तव में मैंने तो उनके विरल व्यक्तित्व की एक छोटी-सी रेखा खींचकर आकाश की अनन्तता और सागर की असीमता को रेखा एवं शब्दों द्वारा वताने जैसा ही एक लघु प्रयत्न किया है।

नारी की परिभाषा

नारी क्या है ?

न+अरि=जिसका कोई दुश्मन नहीं।

प्रेम और वात्सल्य की रसधारा।

त्याग और बलिदान की कहानी।

स्नेह और श्रद्धा की मूर्ति।

सेवा और सहिष्णुता का अमर संगीत।

● ●

जीवन दर्शन

५ | जन्म और बाल्यकाल

पिछले पृष्ठों पर जिस मधुर, मोहक सरल व्यक्तित्व की विरल झांकी हमने देखी, पढ़ी उस व्यक्तित्व के प्रति सहज ही एक उत्सुकता का भाव जगता है कि इस मधुर, मोहक व्यक्तित्व की धनी महासती श्री पन्नादेवी जी का जीवन-वृत्त क्या है ?

जैसे बूंद-बूंद से सागर वनता है, छोटे-छोटे रजकणों के समूह से ही मेरु वनता है, क्षण-क्षण की लम्बी परम्परा ही महाकाल का रूप लेती है, और छोटी-छोटी ईंटों का संघात विशाल भवन का आकार धारण करता है, उसी प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से मानव जीवन का विराट इतिहास लिखा जाता है।

इतिहास की मूल-सामग्री, जिसे उपादान सामग्री कहा जाता है, घटनाएं ही होती हैं। घटनाओं के ;वाह्य परिवेष कभी-कभी अस्पष्टता और धुंधलके में भी ढंके रह जाते हैं, किंतु उनका अन्तर-प्रकाश जव उद्घाटित होता है तो उससे अनेक दिव्य प्रेरणाएं प्रकट होती हैं। त्याग, वलिदान, सेवा, साहस, विनम्रता, तितिक्षा

नगर मे आज से ७६ वर्ष पूर्व वि० स० १६४८ के शरद ऋतु में, कार्तिक मास की मीठी-मीठी रुपहली सर्दी मे एक दिव्य आत्मा का जन्म हुआ था ।

माता-पिता

सोजत मे एक क्षत्रिय परिवार अत्यन्त धार्मिक व सस्कारी परिवार था । ओसवाल जाति के निकट सम्पर्क के कारण, तथा जैन साधु सतियो के प्रेम, सद्भाव एव निकटतम आत्मीय भाव के कारण यह क्षत्रिय परिवार जन्मना जैन न होते हुए भी सस्कार एव विचार मे जैन रूप ही था । इस परिवार मे श्री किशनचन्द जी बडे योग्य, साहसी तथा धार्मिक व्यक्ति थे । इनकी धर्मपत्नी थी श्रीमती नानकीदेवी । पति पत्नी को चूंकि शिष्टता, उदारता आदि खानदानी विरासत मिली थी, और धार्मिक उच्च सस्कारो का परिपोषण मिला था, इस कारण दोनो का ही हृदय बडा स्वच्छ, मधुर, उदार एव मिलनसार था । जैन आगमो (स्थानाग सूत्र ४) में पति पत्नी के जीवन पर एक रूपक दिया गया है, बताया है—चार प्रकार के सहवास होते है—

१ जो पति उदार, एव शिष्ट होता है, किंतु पत्नी कलहकारिणी होती है—वह देव-राक्षसी का सहवास है ।

२ जो पत्नी बड़ी उदार, विनीत तथा शिष्ट होती है, किंतु पति क्रूर, क्षुद्रस्वभाव का एव झगडालु होता है, वह देवी-राक्षस सहवास है ।

३ जहा पति-पत्नी दोनो का ही स्वभाव, क्रूर, कलहप्रिय तथा झगड़ालु होता है, वह राक्षस-राक्षसी सहवास कहलाता है ।

४ जहा पति उदार, मधुर स्वभाव का, तथा पत्नी आज्ञाकारिणी

मधुरभाषिणी एवं सुशीला होती हैं, वह—देव-देवी सहवास कहा जाता है।

श्री किशनचन्द जी का स्वभाव, व्यवहार नम्रता आदि देखकर लोग उन्हें 'देव-पुरुष' कहते थे। क्षत्रियत्व का उत्साह एवं गौरव जरूर उनके हृदय में था, किन्तु उनका व्यवहार बड़ा ही विनम्र एवं मधुर था। श्रीमती नानकीदेवी तो वास्तव में ही देवी थी। शील, स्वभाव-विनय, मधुर भाषण, कार्य-दक्षता आदि गुणों को देखकर पास-पड़ौस वाले उन्हें इस परिवार की लक्ष्मी समझते थे। इस प्रकार इन दम्पति का जीवन शास्त्रीय भाषा में देव-देवी का सह-जीवन था।

जिस कन्या के माता-पिता देवी संस्कारों से सम्पन्न हों, उस कन्या के जीवन में दिव्य गुणों का आविर्भाव सहज ही सम्भव है। माता पिता ने देखा कि कन्या जितनी सुकुमार सहज सौन्दर्य से युक्त एवं दिव्य आभा लिए हुए है उतना ही शांत एवं धीर गम्भीर उसका मन है। माता-पिता आदि परिवारजनों ने उसका नाम रखा था—पन्ना कुंवर। उनकी एक बड़ी बहन थी—तुलसाबाई और एक छोटे भाई थे—कान्हचन्द जी।

धार्मिक संस्कार

वालक का जीवन मिट्टी का लौंदा होता है, उसको जिस आकार एवं जिस सांचे में ढालना चाहें ढ़ाला जा सकता है। माता-पिता के सुन्दर संस्कारों की प्रतिच्छाया पन्नाकुंवर के मन पर पड़ी और उसके संस्कार भी उसी रूप में जगने लगे। क्षत्रिय कन्या होने के नाते क्षत्रियोचित वीरता, निर्भयता तथा उदारता तो उसे विरासत में ही मिली थी। साथ ही सदा हंसमुख रहना, सबके साथ विनय एवं मधुरता पूर्ण व्यवहार करना, आदि संस्कार भी उसके जीवन में

आदि के उपदेश उतना चमत्कार नही दिखा पाते, जितना चमत्कारी प्रभाव घटनाए दिखाती है। घटनाओ मे तीव्र प्रेरणा रहती है, इसीलिए घटना और प्रसगो का सकलन कर इतिहास लिखा जाता है। इतिहास मे भी 'जीवन चरित्र' बहुत अधिक प्रभावकारी एवं प्रेरक सिद्ध होता है। गाधीजी कहते थे—"तुम और कुछ भी नही पढो तो, चल सकता है, किंतु एक गीता पढलो, और ससार के किन्ही दो महापुरुषो का जीवन चरित्र पढलो, बस काफी है।" वास्तव मे जीवन-चरित्रो से जो प्रेरणा मिलती है, जो अनुभव की बाते मिलती है, वे जीवन मे बहुत ही उपकारी तथा मूल्यवान सिद्ध होती है। इसीलिए जीवन चरित्र लिखे जाते है, और इसीलिए पढे भी जाते है।

प्रस्तुत मे हम जैन जगत् की एक तपोधन सरलात्मा साध्वी का जीवन-वृत्त अकित कर रहे है, जिन्होने जीवन के ७६ शुभ्र शरद त्याग, तपस्या, सेवा, परोपकार, सहिष्णुता एव सरलता की आराधना मे बिताये हैं। जिनके जीवन मे अनुभवो का मधुर परिपाक है, ज्ञान की विमल ज्योति है, और उज्ज्वल कृतित्व का सबल है। उन महासती पन्नादेवी जी का सार-सक्षिप्त जीवन-परिचय इस प्रकार है।

आविर्भाव

आइए, कुछ अतीत मे चलें, बहुत अधिक गहरे अतीत मे नही, सिर्फ आज से ८० वर्ष पूर्व भारत के राजस्थानी अतीत में।

राजस्थान, जो देश की स्वतन्त्रता और गौरव-रक्षा के लिए सैकडो वर्षो तक निरन्तर बलिदान करता रहा है। जहा के वीर योद्धाओ ने अपने कवोष्ण-रक्त से मातृभूमि को सीचा है, अपने

प्राणों से भी अधिक मातृभूमि को प्यार किया है। और उसकी रक्षा के लिए जीवन को निछावर कर दिया है। पुरुष ही नहीं, राजस्थान की वीररमणी ने भी अपना एक गौरवशाली इतिहास खड़ा किया है, त्याग वलिदान एवं उत्सर्ग की ज्योति जलाई है, और अपने प्यारे पुत्रों और प्राणधन पतियों के साथ स्वयं भी अपने देश की रक्षा, गौरव की लाज रखने के लिए आगे बढ़ी हैं, प्राणों की आहुतियां दी है। राजस्थान की वीर नारी के व्यक्तित्व में एक अद्‌भुतता है, वह सौन्दर्य, लावण्य एवं मोहकता में संसार की परम सुन्दरी मानी जाती रही है, तो त्याग, उत्सर्ग और बलिदान के लिए वीरांगना भी सिद्ध हुई है। उसका शरीर जितना सुन्दर एवं सुकुमार रहा है, उसका मन उतना ही कठोर, संकल्पव्रती और उत्सर्गपरायण रहा है। नारी सुलभ-सुकुमारता और पुरुष सुलभ-वीरत्व इन दोनों का अद्‌भुत सम्मिलन हुआ है राजस्थान की वीर नारी में। श्री पन्नादेवी जी उसी राजस्थान की वीर नारी है, राजस्थान की उसी क्षत्रिय वंश परम्परा का रक्त उनकी नसों में दौड़ रहा है।

भारत का नक्शा उठाकर देखिए, उसके पश्चिमी अंचल पर एक विशाल प्रदेश है राजस्थान। अस्ताचल को जाता-जाता सूर्य प्रति-दिन इस प्रदेश की भूमि को अन्तिम नमस्कार करके पुनरुदय का वरदान माँगता हुआ प्रतीत होता है। अब राजस्थान का नक्शा उठाकर देखिए - उसके पश्चिमी छोर को स्पर्श कर पूर्वोत्तर को वढ़ता हुआ एक विशाल भूखण्ड है—मारवाड़! मारवाड़ के नक्शे में जव उसका हृदय टटोलेंगे तो ठीक हृदय के स्थान पर स्पष्ट अक्षरों में लिखा एक शहर मिलेगा 'सोजत'। 'सोजत' मारवाड़ का, एवं राजस्थान का भी हृदय है। वास्तव में यह नगर और यहां की जनता, वीरता के क्षेत्र में जितनी साहसी और अग्रणी सिद्ध हुई है, उतनी ही धार्मिक संस्कारों के लिए भी प्रसिद्ध रही है। इसी सोजत

नगर में आज से ७६ वर्ष पूर्व वि० स० १६४८ के शरद ऋतु में, कार्तिक मास की मीठी-मीठी रुपहली सर्दी मे एक दिव्य आत्मा का जन्म हुआ था।

माता-पिता

सोजत मे एक क्षत्रिय परिवार अत्यन्त धार्मिक व सस्कारी परिवार था। ओसवाल जाति के निकट सम्पर्क के कारण, तथा जैन साधु मतियों के प्रेम, सद्भाव एव निकटतम आत्मीय भाव के कारण यह क्षत्रिय परिवार जन्मना जैन न होते हुए भी सस्कार एवं विचार मे जैन रूप ही था। इस परिवार मे श्री किशनचन्द जी वडे योग्य, साहसी तथा धार्मिक व्यक्ति थे। इनकी धर्मपत्नी थी श्रीमती नानकीदेवी। पति पत्नी को चूंकि शिष्टता, उदारता आदि खानदानी विरासत मिली थी, और धार्मिक उच्च सस्कारो का परिपोषण मिला था, इस कारण दोनो का ही हृदय वडा स्वच्छ, मधुर, उदार एव मिलनसार था। जैन आगमो (स्थानाग सूत्र ४) मे पति पत्नी के जीवन पर एक रूपक दिया गया है, बताया है—चार प्रकार के सहवास होते है—

१ जो पति उदार, एव शिष्ट होता है, किंतु पत्नी कलहकारिणी होती है—वह देव-राक्षसी का सहवास है।

२ जो पत्नी वडी उदार, विनीत तथा शिष्ट होती है, किंतु पति क्रूर, क्षुद्रस्वभाव का एव झगडालु होता है, वह देवी-राक्षस सहवास है।

३ जहा पति-पत्नी दोनो का ही स्वभाव, क्रूर, कलहप्रिय तथा झगडालु होता है, वह राक्षस-राक्षसी सहवास कहलाता है।

४ जहा पति उदार, मधुर स्वभाव का, तथा पत्नी आज्ञाकारिणी

मधुरभाषिणी एवं सुशीला होती हैं, वह—देव-देवी सहवास कहा जाता है।

श्री किशनचन्द जी का स्वभाव, व्यवहार नम्रता आदि देखकर लोग उन्हें 'देव-पुरुष' कहते थे। क्षत्रियत्व का उत्साह एवं गौरव जरूर उनके हृदय में था, किन्तु उनका व्यवहार वड़ा ही विनम्र एवं मधुर था। श्रीमती नानकीदेवी तो वास्तव में ही देवी थी। शील, स्वभाव-विनय, मधुर भाषण, कार्य-दक्षता आदि गुणों को देखकर पास-पड़ौस वाले उन्हें इस परिवार की लक्ष्मी समझते थे। इस प्रकार इन दम्पति का जीवन शास्त्रीय भाषा में देव-देवी का सह-जीवन था।

जिस कन्या के माता-पिता देवी संस्कारों से सम्पन्न हों, उस कन्या के जीवन में दिव्य गुणों का आविर्भाव सहज ही सम्भव है। माता पिता ने देखा कि कन्या जितनी सुकुमार सहज सौन्दर्य से युक्त एवं दिव्य आभा लिए हुए है उतना ही शांत एवं धीर गम्भीर उसका मन है। माता-पिता आदि परिवारजनों ने उसका नाम रखा था—पन्ना कुंवर। उनकी एक बड़ी बहन थी—तुलसाबाई और एक छोटे भाई थे—कान्हचन्द जी।

धार्मिक संस्कार

बालक का जीवन मिट्टी का लौंदा होता है, उसको जिस आकार एवं जिस सांचे में ढालना चाहें ढ़ाला जा सकता है। माता-पिता के सुन्दर संस्कारों की प्रतिच्छाया पन्नाकुंवर के मन पर पड़ी और उसके संस्कार भी उसी रूप में जगने लगे। क्षत्रिय कन्या होने के नाते क्षत्रियोचित वीरता, निर्भयता तथा उदारता तो उसे विरासत में ही मिली थी। साथ ही सदा हंसमुख रहना, सबके साथ विनय एवं मधुरता पूर्ण व्यवहार करना, आदि संस्कार भी उसके जीवन में

जगने लगे थे। माता-पिता का उदार वात्सल्य पाकर भी वह कभी उद्दडता की शिकार नही हुई। नन्हे से बचपन मे भी ऐसा लगता था कि उसके हृदय मे वृद्ध पुरुष जैसा विवेक एव गाभीर्य जगमगा रहा है, जो नि सदेह पूर्व जन्म के सद्संस्कारो का प्रतीक था। खेल-कूद की अपेक्षा उसे भक्ति पूजा और धर्म स्थान मे जाकर साधु साध्वियो का उपदेश सुनना अधिक रुचिकर लगता था। मिठाई से भी अधिक उन्हे उपदेश मीठा लगता था। एक बार किसी ने पन्ना कु वर से पूछा—"बेटी ! तुम जैन साध्वियो के पास दौडी-दौडी जाती हो तो क्या वे तुम्हे मिठाई देती है ?"

पन्नाकु वर बोली—"मिठाई से भी ज्यादा मीठी चीजे देती है !"

प्रश्नकर्ता ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"क्या देती है ?"

पन्नाकु वर ने बडे नटखट ढग से कहा—"वे मुझे बड़ी मीठी कहानिया सुनाती है, धर्म सिखाती है, शिक्षा की बाते सुनाती है, मिठाई तो गले से नीचे उतरी और मिट्टी होगई, पर उनकी उपदेश की बाते तो जब भी सुनो तभी मीठी लगती हैं।"

नौ वर्ष की आयु नही हुई होगी, तभी पन्नाकु वर इस प्रकार के उत्तर देने लगी थी। उसने नवकार महामन्त्र सीख लिया था, न केवल सीखा था, पर उस पर गहरी श्रद्धा भी जम चुकी थी। वह प्रतिदिन नवकार मन्त्र की माला फेरती। उसने साध्वियो से नवकार मन्त्र की महिमा की कई कहानिया सुनी थी। एक कहानी में उसने सुना था एक बालिका थी सोमा। बचपन मे मा बाप के प्यार से वह बहुत ही उधमी और झगडालु स्वभाव की बन गई थी। सयानी हुई, शादी हुई, ससुराल गई। पर स्वभाव जो बचपन मे बिगड गया था वह सुधरा नही। बात-बात पर खिसियाना, सास से झगडना, ननदो से तूतू-मैंमैं करना, नौकर-चाकरो को गाली देना—

इस प्रकार समूचा घर उससे परेशान हो गया। सोमा के मारे सभी के नाकों में दम आ गया। सोमा भी बहुत परेशान थी!

सोमा अपने मायके आई। मां ने बेटी से ससुराल के हाल चाल पूछे तो वह रो पड़ी। अम्मा! तूने तो मुझे नरक में धकेल दिया। बडी तकलीफ है वहां, सब मुझे कोसते हैं, घूरते हैं। मां अपनी बेटी के स्वभाव से परिचित थी। उसने सोचा–"यह बुराई ससुराल वालों में नहीं, किंतु इसी के स्वभाव में है।" मां ने बेटी को प्यार से पुचकार कर कहा–"बेटी! मैं तुझे एक मंत्र सिखाती हूँ, वह बड़ा चमत्कारी मंत्र है। जब भी तेरे सास-ससुर आदि तुझ पर गुस्सा करें, तो यह मंत्र पढ़ने लग जाना। सुबह उठते ही इसकी माला फेरना। कोई भी काम करने से पहले इस मंत्र को जप लेना-- तेरे सब संकट दूर टल जायेंगे।" बेटी ने मन्त्र सीख लिया। अब ससुराल आई तो सुबह उठते ही मंत्र जपने लगी—**णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं**– सास ने कहा—"यह क्या जादू टौना कर रही है?" बहू नहीं बोली। उसे चुप देखकर ससुर ने कहा—बहू तो बेचारी अच्छी है, तुम्हीं इससे झगड़ा करती हो।" सास और जल-भुन गई। उसने सोचा—यह बहू धीरे-धीरे सब पर अपना प्रभाव जमा लेगी, फिर मुझे कोई नहीं पूछेगा! इसे तो कैसा भी हो; खत्म कर डालना चाहिए। न रहे बांस न बजे बांसुरी।"

सास बड़ी दुष्ट थी। उसने गुपचुप एक सपेरे से सांप मंगवाकर एक पेटी में रख दिया। और फिर सुबह उठते ही बहू से कहा— "बहूरानी! लो! आज त्योंहार का दिन है! ये जेवर वगैरा इस पेटी में रखे हैं। ले जाओ अपने कमरे में, और पहन-ओढ़कर ये गहने भी पहन लो! बहू ने नवकार मंत्र गुना, और पेटी हाथ में ले ली! अपने कमरे में ले जाकर रख दी! वह नहा धोकर जब कपड़े पहन कर गहने पहनने के लिए आई तो, उसका तो नियम था, कोई भी

काम करने से पहले नवकार मंत्र का जाप करना। नवकार मंत्र पर उसकी बड़ी अटल श्रद्धा थी। पेटी को हाथ लगाने से पहले उसने नवकार मंत्र गुना और फिर जैसे ही पेटी खाली तो उसमें ताजा फूलों का गजरा महक रहा था। उसकी महक से समूचा घर सुरभित हो गया। सास बाहर खडी नाग के डसने की इतजार कर रही थी, उसे पेटी मे से फूलो का गजरा निकालते देखा तो वह विस्मित हो उठी। उसने सोचा, अवश्य ही यह इस मंत्र का चमत्कार है, जिसके प्रभाव से काला नाग भी फूलो का हार बन गया। वह अपने को धिक्कारने लगी, और बहू को प्रेम से लिपटकर रो पड़ी ! अब तो सास भी उसकी सेविका बन गई और सारा घर बहूरानी के इशारो पर चलने लग गया।

पन्नाकुंवर ने यह कहानी सुनी तो उसके मन पर नवकार मंत्र की श्रद्धा के गहरे सस्कार जम गये। साथ ही उसके बाल मानस पर यह भी एक प्रभाव जम गया कि नवकार मंत्र के प्रभाव से साप भी फूलो की माला बन जाती है। इस कारण पन्नाकुंवर का मन जो स्वभावत: निर्भय था और अधिक निर्भय बन गया। जब भी कोई भय की बात उसके सामने आती तो वह तत्काल नवकार मंत्र गुनने लग जाती और भय का मुकाबला करने डट जाती।

सांप से क्या डरना ?

एक बार पन्नाकुंवर अपनी सखि-सहेलियो के साथ खेलती हुई घर से थोड़ी दूर तक बड के पेड के नीचे चली गई। वहां सहेलियो के साथ आंख मिचौनी खेल रही थी। खेलते-खेलते भी वह मन मे नवकार मंत्र गुन-गुनाती रहती। पन्नाकुंवर, जहा खेलती हुई खडी थी, उसके पीछे कोई सर-सर की आवाज आई। तभी एक बालिका भयभीत-सी हुई चीख पड़ी—"साप! साप! दौडो-दौडो।" और पलक भर मे सभी बालिकाए चीखती-चिल्लाती दूर जा

भागी। पीछे मुड़कर देखा तो वे दंग रह गईं। पन्नाकुंवर अभी भी वहीं खड़ी है आंख मूंदे कुछ गुन-गुना रही है। उसके चेहरे पर न भय की कोई रेखा है, न उद्विग्नता। बड़ी शांति के साथ जैसे कोई बालयोगिनी अपने आराध्य की उपासना में लीन हो। लगा कोई छोटी मीरां खड़ी अपने गिरधर गोपाल की छवि हृदय में उतारे आँखें मूंदे पुलक रही है। सहेलियां दूर खड़ी दांतों तले अंगुली दबा रही थी और चिल्ला रही थी—"पन्ना ! पन्ना ! सांप आ रहा है, चली आ पगली ! दौड़ आ झट से !" सांप सरसराता जैसे ही पन्नाकुंवर के पास में आया तो वह जोर-जोर से नवकारमंत्र बोलने लग गई। उसकी स्मृतियों में उस सेठ की कन्या सोमा की कहानी छा गई। जिसने नवकारमंत्र गुनकर काले नाग की पेटी खोली तो वह फूलों का सुन्दर गजरा बन गया था। उसे लगा, यदि सांप उसके पास में आया तो वह भी महामंत्र नवकार गुनकर उसे छू लेगी, और वह सांप भी क्यों नहीं फूलों की माला बन जायेगा ? जरूर बनेगा। जरूर बनेगा।" उसका अन्तर विश्वास बोल उठा, और वह निर्भयता पूर्वक पांव जमाये खड़ी रही। कुछ ही क्षणों में सांप आगे चला गया। पन्ना ने आंखें खोल कर देखा तो सामने खड़ी डरी-फरी सहेलियाँ तालियाँ पीट रही थीं। वे पन्ना ! पन्ना ! पुकार कर उसके पास आकर लिपट गईं। तभी एक अज्ञात व्यक्ति, जो दूर खड़ा हुआ यह सब घटना-चक्र देख रहा था, पन्ना कुंवर के साहस और धैर्य से रोमांचित होकर पास में आया और पूछा—"बेटी ! क्या तुझे सर्प का डर नहीं लगा ?"

पन्ना नहीं समझ पाई, सर्प से डर कैसा ? वह तो फूलों की माला बन जाता है, फिर उससे डरना क्यों ? हम से तो कोई नहीं डरता ? फिर सर्प से हम क्यों डरें ? उसने कहा—'काकाजी ! सांप से तो मुझे कुछ भी डर नहीं लगा, मैं तो अपना मंत्र जपती रही और सांप

सीधा चला गया। इसमे डरने की क्या बात थी ?"

प्रश्नकर्ता चकित था। इस नौ वर्ष की सुकुमार बालिका मे इतनी निर्भीकता और इतना साहस कहा से आया ? उसने पूछा— "मुनियाँ बेटी ! तुम क्या मन्त्र पढ़ रही थी ? किसने सिखाया वह मन्त्र तुझे ?"

पन्नाकुंवर ने उसी निर्भीकता के साथ वह मन्त्र सुनाया - नमो अरिहंताण, नमो सिद्धाण......... मैं और मेरी माता जी जैन सतियो के पास जाती है, उन्ही ने मुझे यह मन्त्र सिखाया है। उन्ही ने मुझे बताया—इस मन्त्र के प्रभाव से कोई भी कष्ट नही आता, सॉप फूल की माला बन जाता है, भूत-प्रेत दूर भाग जाते है, यह मन्त्र बड़ा चमत्कारी है।"

प्रश्नकर्ता व्यक्ति पन्ना की बाते सुनकर मन-ही-मन चकित हो रहा था। लोग कहते है— धर्म मनुष्य को कायर और भीरु बनाता है, पर कहाँ ? धर्म तो मनुष्य को निर्भीक और साहसी बनाता है। इस छोटी-सी बालिका मे इतना साहस, धर्म के सस्कारो का ही परिणाम है। हाँ, धर्म पर अटल आस्था और दृढ विश्वास होना चाहिए। विश्वासहीन धर्म मनुष्य को कमजोर और भीरु बनाता है, तो विश्वास युक्त धर्म मनुष्य मे साहस और जीवन का सचार करता है। यह बात पन्नाकुंवर के जीवन की इस घटना ने सिद्ध करदी।

प्रश्नकर्ता व्यक्ति पन्नाकुवर के घर तक उसके साथ गया, और उसकी यह साहसिक कहानी उनके माता-पिता को सुनाई। सभी लोग पन्नाकुंवर का साहस और विलक्षण धर्म श्रद्धा देखकर विस्मित रह गये।

करुणा का प्रवाह

साहस का अर्थ कठोरता नही है। अपने कष्ट एव सकट में धैर्य

रखना साहस है, और दूसरे का कष्ट देखकर द्रवित हो जाना करुणा है। पन्ना के हृदय में क्षत्रियबाला होने के कारण साहस का निसर्गज संचार था, तो धार्मिक संस्कारों के जगने से करुणा का प्रवाह भी उमड़ने लग गया था। किसी को पीड़ित एवं दुःखी देख कर उसका हृदय द्रवित हो जाता, आँखें छलछला आतीं, उसके सामने कोई गरीब भिखारी आ जाता और हाथ में खाने-पीने की कोई वस्तु होती तो पन्ना बिना अगल-बगल देखे तुरत उसे दे डालती। उसके पास नहीं होती तो वह अपने मां से दिलवा देती, पर उसकी करुणा बिना दिए उसे चैन नहीं लेने देती।

एक बार पन्नाकुंवर अपनी एक सहेली के घर जा रही थी। रास्ते में एक गरीब, दीन-हीन भिखारिन को देखा। उसकी गोद में एक बच्चा था, जो सर्दी से ठिठुर कर नीला पड़ रहा था। भिखारिन के शरीर पर पूरे कपड़े भी नहीं थे, बिचारी भूखी-प्यासी राहगीरों के सामने आंचल फैलाकर पेट भरने को दो दाने मांग रही थी। उसकी करुणदशा देखकर पन्ना का हृदय दया से पसीज गया। वह सहेली से बोली—बहन ! तुम्हारे घर बाद में चलेंगी, पहले यह देखो, बिचारी कितनी तकलीफ पा रही है, और इसकी गोद का बच्चा सर्दी से नीला पड़ रहा है, इसे कुछ देना चाहिए। उस भिखारिन को लेकर दोनों सहेली अपने घर आई और पन्ना मां से बोली—"अम्मा ! इस गरीब का बच्चा सर्दी से ठिठुर रहा है, कोई कपड़ा देदो इसे, और कुछ दूध भी ! इसको भी बिचारी को कुछ खाने को दो !"

माता देख रही थी बड़े गौर से। एक यह बालिका है, जिसके हृदय में कितनी करुणा और दया भरी है, और एक हम, जिन्हें गरीबों की दुर्दशा देखकर भी कभी दया नहीं आती। मां को लगा, कन्या में कोई दैवी संस्कार जग रहे हैं। तभी पन्ना बोली—"अम्मा देखती क्या हो ? उस दिन सतियां जी ने बताया था न कि, भूखे को

भोजन देना, नगे को कपड़ा देना सबसे बडा पुण्य है, तुम भूल गई क्या अम्मा ! यह तो अपना धर्म है !" नौ वर्ष की बालिका के मुह से धर्म, और करुणा का यह सक्रिय उपदेश सुनकर किसको आश्चर्य नही होगा ? पर, वस्तुतः ये उच्च सस्कार है, जो हमारे पूर्व कालीन जन्म-जन्मान्तरो की विरासत है। पन्नाकु वर मे पूर्व-जन्मो के ये उच्च एव विलक्षण संस्कार जागृत हो रहे थे, और साधारण लोग उन्हे इसी जन्म मे देखने की चेष्टा करते इसलिए उन्हे पन्ना के प्रति बहुत-बहुत कुतूहल एव आश्चर्य होता। हा, तो पन्नाकु वर ने उस भिखारिन को अपने हाथ से अन्न, वस्त्र और दूध दिलाया, तब कही वह अपनी सहेली के साथ उसके घर खेलने को गई।

सत्संग पर प्रतिबंध

सोजत मे जब कभी जैन-साध्वियो का आगमन होता तो उनकी सेवा, दर्शन, तत्वश्रवण मे सबसे अधिक तत्पर, सबसे आगे और अत्यधिक भाव भक्ति पूर्वक उनके सान्निध्य मे नगर की कोई कन्या देखी जाती तो वह पन्नाकु वर थी। क्षत्रिय कन्या और जन्मना अजैन होते हुए भी उसमे जैन धर्म के संस्कार व जैन मुनियो के प्रति श्रद्धा इतनी प्रबल थी कि जन्मना जैन ओसवाल परिवार की कन्याए उससे पीछे रह जाती। दर्शको मे एक सात्विक ईर्ष्या जग पडती कि यह कन्या कितनी भाविक एव धर्मलीना है। इस छोटी-सी वय मे, जहा बच्चे को, खेल-कूद अच्छे लगते है, खाना-पीना ही उसका आनन्द होता है वहा, यह सामायिक करती है, घटो एकांत मे बैठ कर माला जपती है, बड़ी तल्लीनता से प्रवचन सुनती है और अत्यत उदार मन से भक्तिपूर्वक दान देती है। लोग उनके पिता से कहते—"किशनचन्द जी! तुम्हारो पन्ना तो मीरा की तरह भगवत प्रेमिका बनेगी। यह कोई विलक्षण कन्या है, अभी मे इसके हृदय मे इतने महान सस्कार जग रहे है।" लोगो की यह बात सुनकर किशनचन्द

जी और नानकीदेवी कभी-कभी गम्भीर हो जाते, और सोचने लगते—"ऐसा न हो जाये कभी ! यह भी मीरा की पगडंडी पकड़कर चल पड़े । और हमारी आशाएं, सपने बीच ही में टूट जायें ।"

हमारे मन की यह मोहदशा है कि हम धार्मिक पुरुषों का आदर अवश्य करते हैं, उन पर श्रद्धा के फूल भी चढ़ाते हैं, किंतु अपनी संतान को उनके कठोर वैराग्यमय मार्ग पर जाने से रोकना चाहते हैं । तुलसी और मीरा की पूजा करने वाले क्या अपने पुत्र को तुलसी के मार्ग पर और पुत्री या पुत्रवधू को मीरा की तरह भक्ति-विह्वल हुई देखकर आनन्दित होते हैं ? नहीं न ? चूंकि त्याग व भक्ति की कथा जितनी आकर्षक लगती हैं, उसका आचरण उतना ही नीरस व कष्टदायी प्रतीत होता है, और इसलिए हर माता-पिता अपनी संतान को महावीर और बुद्ध की शिक्षाएं सुनाकर भी अशोक और विक्रमादित्य की तरह सिंहासनासीन देखना चाहते हैं, न कि जंगलों में तपस्या से शरीर को कृश करते । मन का यह अन्तर्द्वन्द्व, जीवन का यही द्वैध मानव-आदर्शों की मूल समस्या है और यह प्रत्येक युग में प्रत्येक मानव मन को झकझोरती रही है । किशनचन्द जी और नानकीदेवी के अन्तर्मानस को भी यही समस्या आलोड़ित करने लगी । पन्नाकुंवर को भक्ति मार्ग की ओर मुड़ते देखकर वे चिन्तित हो उठे । एक ज्योतिषी से उन्होंने पन्ना की जन्म पत्री दिखाकर उसका भविष्य पूछा । तो उसने उनकी भावनाओं को और अधिक उदवेलित कर दिया । ज्योतिषी ने बताया—"कन्या के ग्रह बड़े उच्च और धर्मपरायण हैं, यह सुयोग्य व सुशिक्षित बनकर समाज का धार्मिक नेतृत्व करेगी । धर्म और वैराग्य के मार्ग से इसे कोई रोक नहीं सकेगा । लाख प्रयत्न करने पर भी इसे महान योगिनी बनने से आप नहीं रोक सकते ।"

ज्योतिषी की भविष्य वाणी से माता-पिता और भी चिन्तित हो उठे । अब साधु-साध्वियों के पास जाने पर भी पन्ना पर रोक लगने

लगी। उसे ससार के ऐश-आराम, खान-पान और खेलकूद की ओर मोडने के प्रयत्न होने लगे। मातृ-पितृ-भक्ता पन्ना उन्हे खुश करने के लिए अवश्य ही उनकी आज्ञा का पालन करती, पर उसके भीतर का सम्मान धर्म के प्रति कम नही हुआ। नदी का प्रवाह रोकने से कभी-कभी और अधिक वेग पकड़ने लगता है।

ओसवाल परिवार में गोद

नानकीदेवी की एक अत्यन्त प्रिय सखी थी श्रीमती गेंदबाई। गेंदबाई श्री हुल्लासमिह जी की धर्मपत्नी थी। उनका परिवार सोजत का सम्पन्न ओसवाल परिवार माना जाता था। नानकीदेवी ने एक बार अपनी सखी से पन्ना की चर्चा की—'बहन ! क्या करू कुछ समझ मे नही आता ! पन्ना का अभी से यह हाल है कि रात-दिन सामायिक, माला, जप त्याग आदि की सनक चढी रहती है। साधु-सत गाव में आगये कि घर में उसका पैर भी नही टिकता। मुझे तो डर है कि कही यह भी साध्वी न बन जाये।"

गेदबाई उत्तर देना चाहती थी कि तभी हुलाससिह जी घर मे आ गये। सखियो मे पन्ना के बारे में घुटती देखकर उन्होने बहुत दिन से अपने अन्तर मे संजोई हुई एक इच्छा को प्रकट करते हुए कहा—"तुम अपनी सखि से कहो कि पन्ना को, हमे गोद दे दें। यहा पर लडका अकेला है, वह रोज कहता है—मेरे कोई बहन नही ! पन्ना को हमे दे दो ! लडके की मनोकामना पूरी हो और हमारी भी भावना सफल हो जाये।"

नानकीबाई को जैसे काठ मार गया, वह स्तब्ध होकर हुलासिह जी की बात सुनती गई। उन्हें लगा—आई थी हरिभजन को ओटन लगी कपास'—सस्कृत सूक्ति के अनुसार—विनायकं प्रकुर्वाणा रचयामास वानरं— गणेश की मूर्ति बनाने-बनाते बन्दर की मूर्ति बना डाली। पन्ना को घर में अनुरक्त बनाने की सलाह लेने आई थी,

किंतु ये तो उसे गोद लेने की ही बात करने लगे हैं। नानकीबाई को मौन देखकर हुलासिंह जी बोले — "कोई बात नहीं ! हम तो उसे अपनी बेटी समझते हैं, और उसके गुणों को देखकर ही मेरा मन ललचा रहा है कि काश ! भगवान हमें भी ऐसी गुणवती संस्कारवती कन्या देता ! पर खैर, तुम्हारे घर है तो क्या और हमारे घर रही तो क्या ....।"

हुलासिंह जी की हार्दिक बात नानकीबाई के दिल को छू गई। वह गेंदबाई से बोली—"बहन ! इसके लिए पन्ना के पिताजी से तुम्हीं बात करो !" और वह बात का सिलसिला वहीं तोड़कर चली गई।

किशनचन्द जी और हुलासिंह जी में परस्पर काफी प्रेम था। दोनों के बीच पन्नाकुंवर को लेने की बात कई दिनों तक चलती रही, हुलासिंह जी और गेंदबाई के स्नेहपूर्ण अत्यधिक आग्रह के कारण आखिर किशनचन्दजी ने पन्नाकुंवर को गोद देकर क्षत्रिय एवं ओसवाल परिवार की एकता व प्रेम में एक नई कड़ी जोड़दी।

६ | दीक्षा : हमारी सांस्कृतिक विरासत
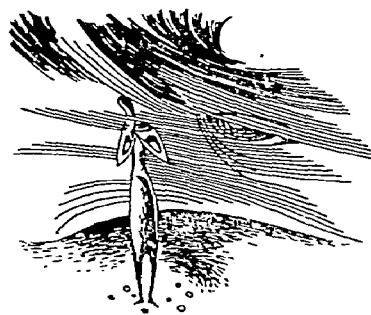
उर्दू के महाकवि इकबाल ने भारतीय सस्कृति की शाश्वतता का गौरवगान करते हुए कहा है—

> यूनानो-मिश्र-रूमा सब मिट गए जहां से,
> अब तक मगर है बाकी नामो-निशा हमारा।
> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
> सदियो रहा है दुश्मन दौरे-जमां हमारा ॥

ससार के पटल पर मिश्र ग्रीक जैसी पुरानी सभ्यताए, यूनान और रोम जैसे विशाल साम्राज्य चमके और मिट गए। सिकन्दर, अशोक और विक्रमादित्य जैसे सम्राट आये और चले गए, मगर ससार की इस उथल-पुथल मे हमारी संस्कृति, सभ्यता आज भी ध्रुव की तरह चमक रही है, तो जरूर कुछ विलक्षणता है उसमें! हमारा सांस्कृतिक गौरव आज भी अक्षुण्ण है, तो उसका धरातल भी बहुत ठोस होगा?

हमारी संस्कृति की वह आधार भूमि क्या है? हमारी परम्परा का वह क्या ठोस धरातल है, जो बडे-बडे परिवर्तनों मे भी अपना

चिर अस्तित्व स्थिर रखे हुए हैं ? इसका एक ही उत्तर है—हमारी संस्कृति का ऊर्ध्वमुखी चिन्तन !

भारत की संस्कृति—सन्तों की संस्कृति रही है। त्याग की संस्कृति रही है। इस संस्कृति में बड़े से बड़े चक्रवर्ती सम्राट का, और विशाल साम्राज्य का भी वह मूल्य नहीं रहा है, जो मूल्य एक संत का रहा है। संत सम्राटों का भी सम्राट, और बादशाहों का बादशाह रहा है।

जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में चित्तसंभूति का एक प्रकरण आता है। उसमें मुनिचित्त जो एक अकिंचन भिक्षाव्रती संत है, राजा ब्रह्मदत्त को, जो छह खण्ड का चक्रवर्ती सम्राट है, विशाल भोग सामग्रियां एवं अपार वैभव जिसके चरणों में लोट रहा है, उसे संबोधन करके कितनी निस्पृहता से कह रहे हैं—

पंचाल राया ! वयणं सुणाहि
मा कासि कम्माई महालयाई ![1]

हे पांचालपति ! मेरी बात सुनो, ये क्रूर कर्म छोड़ दो, वर्ना इनसे तुम्हारा जीवन दुःखमय बनेगा। तुम्हें नरक की यातनाएं भोगनी पड़ेंगी।

एक चक्रवर्ती सम्राट को संत के सिवाय इतनी कड़ी और स्पष्ट चेतावनी कौन दे सकता है।

सम्राट भी संत का उपदेश सुनकर अपनी मूढ़ता को समझ पाता है, और विनत भाव से अपनी मानसिक दुर्बलता को स्वीकार करके कितनी बड़ी बात कहता है—

नागो जहा पंकजलावसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो।[2]

१, २, उत्तराध्ययन अ० १३, गा० २६-३०।

—ऋषिवर ! आप जो कहते है वह बिल्कुल सही है, ये भोग अवश्य ही मुझे अन्त मे त्रास देने वाले है, किंतु मैं तो इनके दलदल में वैसे ही फस गया हूँ जैसे जगल के भयकर दलदल में गजराज फस जाता है। वह दूर किनारे को देखता हुआ भी वहा तक पहुँच नही सकता, वही दशा मेरी हो रही है, त्याग वैराग्य के सुरक्षित किनारों को देखकर भी उन तक पहुँच पाना मेरे लिए कठिन, बहुत कठिन है।

यह है वह 'कोई बात' जो कालचक्र के तूफानी दौर में भी हमारी हस्ती को बनाये हुए है। हमारा सांस्कृतिक गौरव अक्षुण्ण रखे हुए है। यहां एक त्यागी सत, एक भिक्षु—बड़े-बडे सम्राटों को खरी और खारी बाते सुना सकता है और उनकी दुर्बलताओं को ललकार सकता है। चू कि भोग से त्याग का गौरव अधिक है। वैभव से अकिंचन व्रत की महिमा अधिक है।

भारतीय इतिहास की एक घटना है। सम्राट सिकंदर भारत के उत्तराचल मे अपना विजयध्वज फहराकर जब यूनान की ओर लौट रहा था तो एक जगल से उसका काफला गुजरा। एक पहाड़ी पर सिकन्दर ने रात को विश्राम किया। सुबह देखा कि उसी पहाडी की चोटी पर एक वृक्ष के नीचे कोई साधु बैठा है। सिकन्दर भारत के साधु-सन्यासियो का सम्मान करता था। वह उस साधु के पास पहुचा। साधु ने सिकन्दर की ओर आंख उठाकर देखा भी नही। सिकन्दर को बडा क्रोध आया। उसने पास आकर पूछा—"तू कौन है ?" साधु ने आखे मूदे ही कहा—"मैं ससार का बादशाह हूँ।" सिकन्दर मन-ही-मन जल उठा। कहा—"तू बादशाह कैसा ? तेरे पास तो कुछ नही है। बादशाह तो मैं हूँ।"

साधु ने कहा—"तू कौन बादशाह है, मैं नही जानता ! यदि तू बादशाह होता तो मेरे पास क्यो आता ? मैं तो किसी के पास नही जाता।"

साधु की निस्पृहता से सिकन्दर बहुत प्रभावित हुआ। तो यह है संत का गौरव ! जो बादशाहों का बादशाह है। और छोटे से नागरिक से लेकर बादशाहों तक को स्पष्ट और सही बात कह सकता है।

साधुता का यह गौरव उसके त्याग के कारण है। त्याग की महिमा के समक्ष ही यहां सम्राटों के सिर झुके हैं। भारतीय संस्कृति में इसी त्याग का रूप है—दीक्षा ! सन्यास ! प्रव्रजन ! वैराग्य !

वैराग्य की परिभाषा

खान-पान, भोग विलास, यश कीर्ति, आदि सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति, अनासक्ति या निर्वेद का ही अर्थ है– वैराग्य।

सांसारिक विषयों का आकर्षण सहज होता है, वे मधुर, लुभावने और मोहक होते हैं, इस कारण मन शीघ्र ही उस ओर झुक जाता है। आराम हर कोई पसन्द करता है, पर, श्रम करना कोई विरला ही ! अच्छा भोजन हर किसी को आकृष्ट कर लेगा, किंतु उपवास बिना किसी विशेष मनोबल के नहीं हो सकता। यही कारण है–आसक्ति सहज है, विरक्ति कठिन ! हां, आसक्ति का मार्ग अन्त में कष्टदायी है, विरक्ति का मार्ग-आनन्ददायी !

विरक्ति कई कारणों से हो सकती है। जैनाचार्यों ने विरक्ति के कारणों की भिन्नता को लक्ष्य कर वैराग्य के तीन प्रकार बताये हैं—

दुःख-गर्भित वैराग्य जिस वैराग्य का निमित्त कारण दुःख, संकट या किसी प्रकार की पीड़ा, अभाव आदि हो, वह वैराग्य दुःख-गर्भित होता है। दुःख के कारण दूर होने पर हो सकता है वह वैराग्य भी चला जाये। इसलिए यह वैराग्य स्थायी नहीं होता।

मोह-गर्भित-वैराग्य—प्रिय के वियोग से मन में एक प्रकार की

—ऋषिवर ! आप जो कहते है वह बिल्कुल सही है, ये भोग अवश्य ही मुझे अन्त में त्रास देने वाले हैं, किंतु मैं तो इनके दलदल में वैसे ही फस गया हूँ जैसे जगल के भयकर दलदल में गजराज फस जाता है। वह दूर किनारे को देखता हुआ भी वहा तक पहुँच नही सकता, वही दशा मेरी हो रही है, त्याग वैराग्य के सुरक्षित किनारों को देखकर भी उन तक पहुँच पाना मेरे लिए कठिन, बहुत कठिन है।

यह है वह 'कोई बात' जो कालचक्र के तूफानी दौर मे भी हमारी हस्ती को बनाये हुए है। हमारा सांस्कृतिक गौरव अक्षुण्ण रखे हुए है। यहा एक त्यागी सत, एक भिक्षु—बड़े-बड़े सम्राटों को खरी और खारी बाते सुना सकता है और उनकी दुर्बलताओं को ललकार सकता है। चू कि भोग से त्याग का गौरव अधिक है। वैभव से अकिंचन व्रत की महिमा अधिक है।

भारतीय इतिहास की एक घटना है। सम्राट सिकदर भारत के उत्तराचल मे अपना विजयध्वज फहराकर जब यूनान की ओर लौट रहा था तो एक जंगल से उसका काफला गुजरा। एक पहाड़ी पर सिकन्दर ने रात को विश्राम किया। सुबह देखा कि उसी पहाडी की चोटी पर एक वृक्ष के नीचे कोई साधु बैठा है। सिकन्दर भारत के साधु-सन्यासियो का सम्मान करता था। वह उस साधु के पास पहुचा। साधु ने सिकन्दर की ओर आंख उठाकर देखा भी नही। सिकन्दर को बड़ा क्रोध आया। उसने पास आकर पूछा—"तू कौन है ?" साधु ने आखे मूदे ही कहा—"मैं ससार का बादशाह हूँ।" सिकन्दर मन-ही-मन जल उठा। कहा—"तू बादशाह कैसा ? तेरे पास तो कुछ नही है। बादशाह तो मैं हूँ।"

साधु ने कहा—"तू कौन बादशाह है, मैं नही जानता ! यदि तू बादशाह होता तो मेरे पास क्यो आता ? मैं तो किसी के पास नही जाता।"

साधु की निस्पृहता से सिकन्दर बहुत प्रभावित हुआ। तो यह है संत का गौरव ! जो बादशाहों का बादशाह है। और छोटे से नागरिक से लेकर बादशाहों तक को स्पष्ट और सही बात कह सकता है।

साधुता का यह गौरव उसके त्याग के कारण है। त्याग की महिमा के समक्ष ही यहां सम्राटों के सिर झुके हैं। भारतीय संस्कृति में इसी त्याग का रूप है—दीक्षा ! सन्यास ! प्रव्रजन ! वैराग्य !

वैराग्य की परिभाषा

खान-पान, भोग विलास, यश कीर्ति, आदि सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति, अनासक्ति या निर्वेद का ही अर्थ है– वैराग्य।

सांसारिक विषयों का आकर्षण सहज होता है, वे मधुर, लुभावने और मोहक होते हैं, इस कारण मन शीघ्र ही उस ओर झुक जाता है। आराम हर कोई पसन्द करता है, पर, श्रम करना कोई विरला ही ! अच्छा भोजन हर किसी को आकृष्ट कर लेगा, किंतु उपवास बिना किसी विशेष मनोबल के नहीं हो सकता। यही कारण है– आसक्ति सहज है, विरक्ति कठिन ! हां, आसक्ति का मार्ग अन्त में कष्टदायी है, विरक्ति का मार्ग-आनन्ददायी !

विरक्ति कई कारणों से हो सकती है। जैनाचार्यों ने विरक्ति के कारणों की भिन्नता को लक्ष्य कर वैराग्य के तीन प्रकार बताये हैं—

दुःख-गर्भित वैराग्य जिस वैराग्य का निमित्त कारण दुःख, संकट या किसी प्रकार की पीड़ा, अभाव आदि हो, वह वैराग्य दुःख-गर्भित होता है। दुःख के कारण दूर होने पर हो सकता है वह वैराग्य भी चला जाये। इसलिए यह वैराग्य स्थायी नहीं होता।

मोह-गर्भित-वैराग्य—प्रिय के वियोग से मन में एक प्रकार की

बेचैनी, संसार के प्रति नश्वरता का भाव जगता है। मन सूना-सूना सा हो उठता है और अपने प्रिय—माता-पिता, पति-पत्नी पुत्र आदि का वियोग मन को काटने लगता है—ऐसी दशा में मन किसी भी भोग विलास की ओर नही जाकर उदासीन और विरक्त-सा रहने लगता है—यह वैराग्य वस्तुतः मोहजन्य होता है इसलिए इसमें भी विशेष स्थायित्व नही होता। कुछ दिन बाद जब समय की मरहम पट्टी से वियोग के घाव भर जाते हैं तो यह वैराग्य भी हवा हो जाता है। या फिर आगे दूसरा रूप ले लेता है।

ज्ञान-गर्भित-वैराग्य—वैराग्य का यह रूप श्रेष्ठ एवं सबसे अधिक स्थायी है। मन मे वस्तु के प्रति सहज विरक्ति का भाव जग जाता है। संसार के पदार्थों को नश्वर एव उनका मोह-दुःख कारक समझ कर जो उन विषयो से दूर रहता है और आत्म-ध्यान, तपस्या-स्वाध्याय आदि मे ही लीन हो जाता है, उसका वैराग्य वस्तुतः ज्ञान गर्भित वैराग्य है। इस वैराग्य मे वस्तु-स्वभाव का ज्ञान रहता है, इस कारण इसका स्थायित्व एव श्रेष्ठत्व भी है। पूर्व सस्कार जन्य वैराग्य भी इसी वैराग्य की श्रेणी मे आता है। अवस्था के कारण इतना ज्ञान अभी तक न भी हुआ हो, किंतु पूर्व जन्म के सस्कारो के कारण सासारिक सुखो के प्रति सहज ही विरक्ति का भाव होता है, मन सयम एव साधना की ओर दौडता है। इन सस्कारो को उद्-बुद्ध करने मे, सत्सगति आदि का प्रभाव भी रहता है। यह सस्कार-जनित वैराग्य भी ज्ञान गर्भित वैराग्य की दिशा में चलता है।

श्री पन्नाकुंवर का वैराग्य

श्री पन्नाकुंवर जब से गेदबाई के घर मे पुत्री बनकर रहने लगी तो उसे साधु सतियों के सम्पर्क का भी अधिक अवसर मिलने लगा। इस घर मे पन्नाकुंवर को सुविधाएं अधिक थी, सम्पन्न परिवार होने के कारण और फिर इकलौती बेटी का स्नेह मिलने के कारण

उसे कभी किसी प्रकार का अभाव या कमी नहीं महसूस हुई। खाने-पीने-पहनने और खेल-कूद की सभी सामग्रियां उसे उपलब्ध थीं। पर जाने क्यों, उनमें पन्ना का मन ही नहीं लगता था। उसे सहेलियों के साथ खेलने के बजाय एकांत में बैठकर माला जपना, या सत्संग में जाना अधिक अच्छा लगता। श्री गेंदबाई की धार्मिक वृत्ति भी उसके इन संस्कारों को और प्रोत्साहित कर देती, इस कारण नौ वर्ष की लगभग होते-होते पन्नाकुंवर के जीवन में संसार के प्रति विलक्षण विरक्ति और उदासीनता झलकने लग गई।

सत्संगति की पावन-प्रेरणा

घास-फूस में दबी चिनगार पड़ी हो, उस पर कुछ-कुछ राख जम गई हो, तभी कोई तेज हवा का झोंका आ जाये, चिनगारी को जगादे, तो क्षण भर में वह चिनगारी एक महाज्वाला का रूप पकड़ लेती है। संस्कार और संगति की भी यही बात है। संस्कारों की चिनगारी वातावरण के घास-फूस में दबी पड़ी रहती है, जब कोई सत्संगति की पवन का एक झोंका आ जाये, तो वे संस्कार जाग उठते हैं, चिनगारी आग बन जाती है, ज्योति का रूप ले लेती है।

श्री पन्नाकुंवर के जीवन में संस्कारों की चिनगारी करवट ले रही थी, एक समय उसे सत्संगति की पावन-पवन ने जगा दिया और वह ज्योति बनने को मचल उठी। बात है वि सं० १९५७ की। महासती पार्वती जी, जिनके प्रभावशाली जीवन का परिचय पाठक पिछले पृष्ठों पर पढ़ ही चुके हैं। उनका चातुर्मास जयपुर में था। श्री गेंदबाई पन्नाकुंवर को साथ लेकर महासती जी के दर्शन करने जयपुर आई। महासती जी का मधुर एवं मनोहर उपदेश सुनकर पन्नाकुंवर के सुप्त संस्कार जाग उठे। संस्कारों की भूमि में वैराग्य के बीज जो अब तक दबे पड़े थे, अब वातावरण, संपर्क और उपदेश का निमित्त पाकर अंकुरित हो उठे। सहसा पन्नाकुंवर के मन में

एक विचार चमक उठा—मै भी साध्वी बनूगी। स्वय उसे भी आश्चर्य हुआ होगा कि एकाएक उसके मन मे यह भावना कैसे जाग पड़ी? पर ससार मे एकाएक कोई काम नही होता। जिस विचार को हम एकाएक समझते है, वह चिरकाल से सचित-पोपित मन का सस्कार होता है। हम उसकी अदृश्य सत्ता को नही देख पाते इसलिए जब सस्कार विचार या व्यवहार बनकर सामने आता है तो हम उसे 'यकायक' समझ बैठते है। किंतु मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि हमारा कोई भी विचार, कोई भी कार्य दीर्घकालीन गुप्त सस्कारों का जागरण मात्र है, उद्भव नही।

पन्ना के मन के सुप्त सात्विक सस्कार अब वैराग्य का रूप धारण कर सामने आये, और उसके मस्तिष्क में बिजली की तरह कोंध गये। साध्वियों के शुभ्र परिवेश, सात्विक शात वातावरण, व मधुर-प्रसन्न जीवन व्यवहार के प्रति पन्ना का मन खिचने लगा। वह चाहने लगी कि बस, यह श्वेत शुभ्र परिवेश धारण कर मैं भी साध्वी बन जाऊ। पर अब तक उसने मन की बात किसी के सामने प्रकट नही की।

कुछ दिन जयपुर रहने के बाद जब गेंदबाई ने सोजत चलने की बात कही तो पन्ना कुवर को बडा अटपटा लगा। उसका तो मन ही नही हो रहा था वहा से जाने का। उसने कहा—"माता जी! अपने को घर जाने की इतनी जल्दी क्या पड़ी है, अभी कुछ दिन गुरुणी जी की सेवा मे और रहेगी।'

गेंदबाई ने कहा—'बेटी! आखिर घर भी तो सभालना पड़ेगा। अभी तो चलो, फिर कभी दुबारा आयेगी।"

पन्ना को लगा जैसे उसके मुह मे आया कौर कोई छीन रहा है, और कहता है, अभी नही, फिर कभी खाना! हाथ मे आया स्वर्ण अवसर छोड़कर भविष्य के किसी स्वर्ण अवसर की प्रतीक्षा करना—

क्या मूर्खता नहीं है ? उसने कहा—"माता जी ! मन यहाँ से जाने का नहीं हो रहा है। सच बात तो यह है कि मैं भी इनके चरणों में साध्वी बनकर इन्हीं की तरह रहना चाहती हूँ।"

पन्ना का विचार सुनकर गेंदबाई अवाक् रह गई। यह नौ वर्ष की बालिका और साध्वी बनने की बात कर रही है ?"–"बेटी ! क्या मिठाई खाने के लिए साध्वी बनना चाहती हो ?—गेंदबाई ने हंसकर पूछा और प्रसंग को मजाक में ही टालना चाहा।

—"नहीं, माताजी ! मिठाई की तो आपके घर में क्या कमी है ? मुझे खाने पीने पहनने की कोई लालसा नहीं है। मेरा तो अन्तर मन ही पुकार रहा है—मैं इन सतियों की तरह ही जीवन गुजारूं, इन्हीं की सेवा में रहूँ और रात दिन माला-ध्यान जपती रहूँ।"

'बेटी ! जानती हो, यह मा ं कितना कठिन है ? साधु जीवन तलवार की धार पर चलने से भी ज्यादा है। यहां कांटों की नोंक पर चलना पड़ता है। पग-पग पर कितने कष्ट हैं ! जन्म भर-ब्रह्मचर्य ! अस्नान ! भिक्षा मांग कर खाना ! संयम से रहना, सर्दी-गर्मी के कष्ट सहना, और गांव-गांव पैदल चलना ! इन कष्टों से भी एक बहुत भयंकर कष्ट है – सिर के ये काले-काले चिकने मुलायम बाल-हाथों से नोंच-नोंच कर उखाड़ना ! बेटी ! इन कष्टों की बात करते ही मुझे तो पसीना छूटता है। तू नौ वर्ष की फूल-सी सुकुमार कन्या इन कष्टों को कैसे सहन करेगी ? क्या कोई मजाक है ?"

कष्टों की बात सुनकर पन्नाकुंवर के चेहरे पर एक अनोखा तेज दमक उठा। जैसे क्षत्रियाणी को किसी ने जौहर के लिए ललकारा हो, पन्नाकुंवर एकदम तेजस्वी होकर बोल उठी—'माताजी ! मैं कष्टों से डरती नहीं हूँ। आज ही तो महासती जी ने बताया था

कि बडी-बडी राजकुमारिया, रानिया भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा लेकर कठोर तपस्याए करने लगी थी। मैं भी तो क्षत्रिय कन्या हूँ, जौहर की ज्वाला मे सती होने वाली क्षत्रिय बाला, अपने शरीर का कुछ भी मूल्य नही समझती, वह तो अपने ध्येय और आदर्श के लिए निछावर हो जाती है। फिर कभी-कभी आप भी नही कहती हैं क्या.... ... साधुपन से भी ज्यादा कष्ट नारी को ससार मे देखने पड़ते है। साधुपन के कष्ट तो मन की प्रसन्नता से झेले जाते हैं, ससार के कष्ट तो जबर्दस्ती उठाने पडते हैं। माताजी! मै कष्टो से नही डरती, मुझे आप इन्ही (सतियो) के पास छोड दीजिए!

पन्नाकु वर की बातो का गेदबाई के पास कोई जवाब नही था। उन्होने पन्ना को पुचकारा, और प्यार से कहा—"बेटी! तुम कहती हो वह सब ठीक है, लेकिन अभी तो एक बार घर चलो। तुम्हारे पिताजी वगैरा सब वही है। फिर कुछ दिन बाद मैं तुम्हे इन सतियो जी की सेवा मे अवश्य छोड़ दू गी।

पन्ना कु वर के मन मे अपने विचारो के प्रति निष्ठा जरूर थी किंतु आग्रह नही। वैचारिक दृढता मे जब विवेक होता है, तो वह निष्ठा कहलाती है, और केवल अज्ञान पूर्ण हठ होता है तो वह आग्रह कहा जाता है। पन्ना की प्रज्ञा मे, विचारों मे प्रारभ से ही विवेक एवं विनम्रता की छाप थी। इस कारण उन्होने गेदबाई से अधिक आग्रह नही किया, और उनकी बात को मानकर उन्ही के साथ सोजत चली गई। सोजत पहुँचने पर पन्ना कु वर की दीक्षा की बात इधर-उधर फैल गई।

भविष्यवाणी

चार-पाच मास के पश्चात् श्री गेदबाई के साथ पन्नाकु वर पुन. जयपुर गई वहां पर श्रद्धेय श्री मय्याराम जी म० विराज रहे थे।

उनकी प्रवचन शैली बड़ी मधुर और प्रभावोत्पादक थी। इधर गेंदबाई भी महाराज के दर्शनार्थ जयपुर आईं। आप भी माताजी श्री गेंदबाई के साथ प्रवचन सुनने को गईं। प्रवचन सुनने में आप बड़ी एकाग्र एवं तल्लीन हो गई थी। ऐसा लग रहा, जैसे यह कोई बाल-योगिनी है और समाधि लगाए बैठी हो। श्री मयाराम जी महाराज ने बालिका को इस प्रकार स्थिर चित्त ध्यानस्थ-सी देख कर उसका नाम पूछा और निकट आने का संकेत किया। पन्नाकुंवर से दो चार बातें करने पर उन्हें यह बालिका बड़ी विलक्षण प्रतीत हुई। उन्होंने गेंदबाई से कहा—"इस बालिका के संस्कार और सुलक्षण बहुत ही श्रेष्ठ है। यह बड़ी होकर धर्म की गरिमा फैलाएगी, कुछ अलौकिक कार्य कर दिखायेगी।"

एक अनुभवी तत्त्वज्ञानी संत के मुखारविंद से इस भविष्यवाणी को सुनकर गेंदबाई का रोम-रोम पुलक उठा। पन्नाकुंवर के साध्वी बनने के आग्रह पर अब उनका मन भी चिन्तनशील हुआ और सोचने लगी—'इतनी उच्च संस्कारों वाली कन्या देर-सबेर साध्वी तो बनेगी यह संसार की मोह माया में नहीं फँस सकती।" अब गेंदबाई और हुलासिंह जी बीच-बीच में पन्नाकुंवर के वैराग्य की गहराई जांचने के लिए कई तरह की परीक्षाएं लेने लगे। खाने-पीने, खेल कूद एवं पहनने-ओढ़ने की तरह-तरह की सुंदर व आकर्षक सामग्री उसे देकर विवाह करने की बात कहते, पर पन्ना तो आखिर 'पन्ना' ही थी, वह इन छोटे-छोटे प्रहारों से चलित कैसे होती ?

इधर सं० १९५७ का चातुर्मास समाप्त कर प्रवर्तिनी महासती पार्वती जी जयपुर से प्रस्थान कर अलवर पधार गई थी। वहां रोहतक व हांसी के अनेक श्रद्धालु श्रावक हरियाना में पधारने की विनती करने आये। जयपुर का संघ भी महासती जी के दर्शन करने आया। श्री गेंदबाई, हुलासिंह जी एवं पन्नाकुंवर भी अलवर पहुंचे। पन्नाकुंवर ने महासती जी के दर्शन कर प्रार्थना की—

"महाराज ! मैंने आपके चरणो मे रहने का निश्चय कर लिया है, अब मेरा मन कही भी नही लग रहा है। और ये (माता-पिता) मुझे बार-बार प्रलोभन दिखाकर ससार मे रखने की चेष्टा करते है। अब मुझे दीक्षा दीजिए।"

महासती जी ने उसे सयम जीवन की कठोरता समझाई ! "यह तो जीवन भर का व्रत है, भयकर कष्टो और परीषहों से जूझना पड़ता है. श्री गेंदबाई ने भी कहा—'अभी तो यह बच्ची है, सयम को समझती भी क्या है ?'

पन्नाकु वर ने विनयपूर्वक कहा—माताजी ! वैराग्य का और अवस्था का क्या सम्बन्ध है ? क्या बडा होने से और समझदार बनने से वैराग्य हो जाता है ? आप तो काफी बडी है, और सब समझती है आपको वैराग्य क्यो नही हुआ ?

पन्नाकुवर के तीखे तर्क का माताजी के पास कोई जवाब नही था। सभी ने विविध उपायो से उसके वैराग्य की परीक्षा की। हुलाससिंह जी ने भी अनेक सांसारिक प्रलोभन दिखाए। पर, पन्ना पर उनका कोई प्रभाव नही पडा। आखिर हुलाससिंह जी और गेंदबाई ने महासती जी से प्रार्थना की—'महाराज ! यह तो अब आपकी शिष्या बनेगी, हमारी बातो से तो यह बिल्कुल ही बे-परवाह है। ससार मे किसी भी वस्तु पर इसे मोह नही हो रहा है। इसके वैराग्य की धारा को अब मोड पाना कठिन है। कृपा कर आप इसे अपनी शिष्या बनाइए।'

माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त कर पन्नाकुंवर का हृदय बासो उछल पडा। वह अपूर्व उल्लास से यो पुलक उठी जैसे कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति मिल गई हो।

जब पन्नाकुवर और माता-पिता के प्रश्नोत्तर चल रहे थे, उसी बीच अलवर के प्रमुख व धर्म-प्रेमी श्रावक श्री भीम जी भी वही उपस्थित थे। उन्होने बडी-बारीकी से इन सब वार्तालापो को सुना

और पन्नाकुंवर के वैराग्य की थाह लेनी चाही। पन्नाकुंवर के वैराग्य की सच्चाई जादू की तरह उनके मन पर छा गई। उन्होंने महासती जी से प्रार्थना की—इस प्रकार के नैसर्गिक गुण व विलक्षण संस्कार हजारों-लाखों में किसी एक में मिलते हैं, इनकी बातें सुनकर तो स्वयं मैं भी विस्मित हूँ, आप इसे ज्ञानाभ्यास करवाइए और दीक्षा दीजिए। मेरा विश्वास है यह आगे चलकर कोई महान सती बनेगी!"

दीक्षा

माता-पिता और प्रमुख श्रावकजनों की प्रार्थना पर महासती श्री पार्वती जी महाराज ने पन्नाकुंवर को ज्ञानाभ्यास कराना प्रारम्भ किया। अलवर से विहार हुआ, पन्नाकुंवर भी उनके साथ-साथ रही। पौष मास से लेकर ज्येष्ठ तक का छः महीने का समय गुजर गया। इस अवधि में श्री पन्नाकुंवर ने निरन्तर अभ्यास कर प्रतिक्रमण सूत्र, नवतत्त्व पदार्थ, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक धार्मिकग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिए। उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण और ग्रहणशील थी। बुद्धि के साथ विनय का स्वर्ण-संयोग था। फिर विद्या का विकास तीव्रगति से हो तो क्या आश्चर्य! आपका स्वर बहुत ही मधुर व ओजस्वी था। जब धार्मिक ग्रंथों का सस्वर स्वाध्याय और पाठ करती तो वह मधुर ध्वनियां श्रोताओं के हृदय को मुग्ध कर जातीं।

महासती श्री पार्वती जी महाराज का १९५८ का चातुर्मास रोहतक में निश्चित हुआ था, और चातुर्मास से पूर्व आषाढ सुदि १० को दीक्षा का मुहूर्त था। अब रोहतक श्री संघ ने दीक्षा महोत्सव की तैयारियां प्रारम्भ की। स्थान-स्थान पर दीक्षा महोत्सव में सम्मिलित होने के निमंत्रण दिए गये। नगर का प्रत्येक परिवार दीक्षार्थिनी बहन का स्वागत-सत्कार करने को आतुर हो उठा। नगर

का हर नागरिक इस सुकुमार बाला को सयम के आग्नेय पथ पर बढते देखकर श्रद्धा से गद्‌गद् हो उठता।

आषाढ सुदि १० का पावन दिन भी आ गया। उदयपुर-रतलाम-जयपुर-पाली-जोधपुर-अलवर आदि राजस्थान के सुदूर अचलो से और हरियाना के नगरो व गावो से आये हुए हजारो नर-नारियो के झुड रोहतक की शोभा बढा रहे थे। समाज के सैकडो प्रतिष्ठित अग्रगण्य भी उपस्थित थे। दीक्षा का भव्य जुलूस नगर के मुख्य-मुख्य बाजारो मे घूमता हुआ आखिर महासती जी के चरणो मे आकर विशाल सभा मे परिणित हो गया। हजारो नर-नारी उत्सुकतापूर्वक इस अद्‌भुत दृश्य को देख रहे थे। विवाह के सैकड़ो उत्सव उन्होने अपनी आखो से देखे, जिनमे राग-रग और भोग-विलास की सामग्रियो से तरह-तरह के आकर्षण पैदा किए जाते थे। पर आज का उत्सव तो बडा विलक्षण था। भोग पर त्याग की विजय का उत्सव हो रहा था। सासारिक वासना पर सयम की वैजयन्ती फहराई जा रही थी। उत्सव मे बडी सात्विकता व सादगी होते हुए भी बडी विलक्षणता थी, बडा आकर्षण और कौतुहल था। सबकी आखे श्वेतवसना सुकुमारिका पन्नाकुंवर पर टिक रही थी। उसके मुखमडल पर बडी अपूर्व दीप्ति, विलक्षण प्रसन्नता और अद्‌भुत साहस दमक रहा था। नन्ही-सी बालिका के हृदय मे इतना साहस, वैराग्य का यह अनन्त-अजस्र प्रवाह दर्शको को भाव विभोर कर रहा था और क्षणभर अपने भोगमय जीवन पर दृष्टि-पात करने की प्रेरणा दे रहा था, जो मृत्यु की निकटतम सीढियो पर पहुचता हुआ भी आशा-तृष्णा, कामना, भोग-पिपासा के दलदल मे फसा जा रहा है। जैसे ही महासती श्री पार्वती जी के चरणो में कुमारिका पन्ना, जो अभी दशवे वर्ष मे प्रविष्ट हुई है—श्वेत परिधान पहनकर दीक्षा के लिए उपस्थित हुई तो सहसा विशाल मडप त्याग वैराग्य की लहरो से तरगित हो उठा। रोहतक निवासी लाला

उद्यमीराम जी, जो कि महासती जी के धर्म पिता बने थे, उन्होंने विनय-विगलित स्वर में महासती जी से भव्यात्मा पन्नाकुंवर को दीक्षा व्रत पच्चखाने की प्रार्थना की। जय-जय नाद के दिव्य घोषों के बीच महासती जी ने भागवती दीक्षा का मंत्रोच्चार किया, आगम पाठ के साथ दीक्षा व्रत ग्रहण करवाया और अपूर्व उल्लास के साथ पन्नाकुंवर अब महासती पन्नादेवी के रूप में जनता के समक्ष उपस्थित हो गई।

७ | ज्ञान-साधना के पथ पर

श्री पन्नाकुवर के बाल्यकाल के शुभ लक्षणो व उच्च सस्कारों को देखकर माता-पिता व परिवारजनो ने उनके उज्ज्वल भविष्य की जो धारणाए बनाई, उनका रूप सभवत कुछ और था, वे उसे किसी उच्च खानदान मे, संसार के भोगविलास एवं समृद्धि मे ही उसका सुखद भविष्य देख रहे थे, पर उसके जीवन ने कुछ और मोड ले लिया। सासारिक सुख एव प्रतिष्ठा केवल उसके ऐहिक जीवन मे कुछ आनन्द एव तृप्ति की क्षणिक लहर ला सकते थे, उसे व्यक्तिगत रूप मे सुखी भी बना सकते थे, पर उसके सस्कारो मे कुछ विलक्षण एव अद्भुत चमत्कार था जो उसे स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जा रहा था, उसकी अन्तरआत्मा मे निरतर एक सगीत गूज रहा था —

> न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
> कामये दुःख तप्ताना प्राणिनामर्तिनाशनम्॥

मुझे न ससार का सुख चाहिए, न राज्य वैभव, न स्वर्ग का आनन्द और न परलोक मे सुख-सुविधाए। मेरी अन्तरआत्मा तो

वस यही चाहती है कि संसार के दुःखी एवं संतप्त जीवों का दुःख दूर हो, उनके कष्ट मिटें और वे आनन्द से पुलकते रहें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।

सब जीव जगत के सुखी रहें
सब स्वस्थ प्रसन्नमना प्रतिपल!
पीड़ा संकट सब दूर हटे
सब हों आनन्दित ओ निश्छल!

इस उदात्त प्रेरणा ने श्री पन्नाकुंवर के संस्कारों को उद्बुद्ध किया, नया मोड़ दिया और वे भोग से योग के अमर पथ पर चल पड़ी। दस वर्ष की कच्ची आयु में, जब बालक को अपने आपका कोई बोध नहीं होता अपने भविष्य की कोई सुनहली कल्पनाएं आकार धारण नहीं करती, वह इतना कठोर संकल्प लेकर संसार के कल्याण की कामना कैसे कर सकता है? यह प्रश्न स्वयं मनोविज्ञान के लिए भी एक पहेली वन सकता है, किंतु सस्कारों की गहराई तक अभी मनोविज्ञान पहुंचा कहां है? मानव मन की अवचेतन भूमि पर कितने-कितने बीज अंकुरित होने की प्रतीक्षा में पड़े हैं—इसका विश्लेषण मनोविज्ञान भी पूरी सचाई से कहां कर सकता है? ये संस्कार किस समय किस रूप में प्रस्फुटित होते हैं, यह कल्पना से परे की बात है, और इसीलिए उन संस्कारों का पल्लवन प्रस्फुटन देखकर हमारा मन आश्चर्य में डूब जाता है, कभी-कभी सचाई से भी आंखमिचौनी करने लगता है। पर सचाई आखिर सचाई है, उसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है, किसी तर्क और हेतु से सिद्ध होने की अपेक्षा उसे नहीं रहती।

कुमारी पन्ना ने जब महासती पन्नाकुंवर के रूप में अवतरण किया तो मानवीय संस्कारों की यही सचाई अपनी सम्पूर्ण सत्यता

के साथ प्रगट होगई। दर्शकों ने उनकी भावनाओं को देखा, उसमें एक ज्वार था, वेग था जो ससार की भौतिक वस्तुओ की अनित्यता से टकराकर प्रबल होता हुआ वैराग्य का रूप धारण कर रहा था। उसके भीतर एक उच्च करुणा थी, जो दीन-दु खी पीड़ित को देखकर पहाडी झरनो की तरह बह पड़ती और किसी महासमुद्र की दिशा पकड लेती। यही विरक्ति, यही करुणा, उसे उत्साहित कर रही थी। भोग की मृदुल-सुकुमार-पुष्पशैया से भी अधिक त्याग की कुलिश-कठोर-शैय्या का आकर्षण जगा रही थी। और उसे ससार के आनन्द भोग के मार्ग से हटाकर साधना के महापथ की ओर बढ़ा रही थी।

ज्ञान की उपासना

साधना पथ पर बढने वाले साधक के दो चरण है—ज्ञान और क्रिया। श्रुत और शील। बुद्धि और पुरुषार्थ, विद्या और कर्म। इन दोनो का समन्वय ही जीवन है, साधना है।

ससार मे कुछ मनुष्य है, जो आखो से देखते नही, पर ठोकर खाते लडखड़ाते इधर-उधर चलते रहते है। कुछ मनुष्य है, जो आखो से देखते तो है, पर अजगर की तरह एक ही जगह पड़े-पड़े ऊघते रहते है। कुछ ऐसे भी है, जिनकी आखो मे न रोशनी है, न पैरो मे गति है, अधे भी हैं और लूले भी। ससार मे अधिकतर इन तीन श्रेणियो के ही मनुष्य है, एक चौथी श्रेणी है, जो आखो से देखते है, और सही ढग से चलते भी है। उनकी आँखो मे रोशनी भी है और पैरो में गति भी है। सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे ये मनुष्य सफल जीवन जी सकते है, और धार्मिक जगत मे भी ये उच्चकोटि के साधक बन सकते है। जिनकी ज्ञान की आँख खुली है, और कर्म के चरण गतिशील हैं-जैन आगमो की भाषा मे उन्हे—सुय-सीलसंपन्ने

—श्रुत एवं शील से सम्पन्न, तथा—**विज्जाचरण पारगा**—विद्या एवं चारित्र (कर्म) के पारगामी–कहा है।

एक कहानी है—किसी राजा ने अपने दरबार में बैठे पंडितों से प्रश्न किया—"संसार में सबसे अच्छी रोशनी किस की है ?"

एक गृहपति ने बताया—"महाराज ! दीपक की रोशनी सबसे अच्छी है। उसका प्रकाश सात्विक और स्निग्ध होता है, देव मन्दिर उसी के प्रकाश से जगमगाते हैं।"

नगर का एक प्रख्यात जौहरी बोला—"महाराज ! प्रकाश तो रत्नों का अच्छा है। उसमें स्वाभाविक रंग-विरंगी छवि भी रहती है, न तेल की जरूरत, न बाती की न दीवट की और न घर काला होता है। इसलिए रत्न का प्रकाश सबसे अच्छा है।"

राज दरबार का भावनाशील कवि अब तक चुप था। राजा का संकेत पाकर उसने भावविभोर भाषा में कहा—"प्रकाश तो चन्द्रमा का सबसे श्रेष्ठ है। इतना मधुर, निर्मल, शीतल और मन-भावना प्रकाश संसार में और किसी का नहीं है। चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना जब धरती पर छिटकती है तो ऐसा लगता है चांदी का झोल बिखर रहा है।"

तभी महाराज के राजज्योतिषी ने उच्च स्वर में कहा—"प्रकाश तो सबसे श्रेष्ठ सूर्य का है। सूर्य के प्रकाश से सृष्टि का कण-कण न केवल आलोकित होता है, किंतु नवजीवन, एवं प्राण-स्फूर्ति भी प्राप्त करता है।"

अनेक तर्क वितर्कों के बाद भी कोई निर्णय नहीं हुआ तो राजा ने प्रज्ञापुरुष वृद्ध मंत्री की ओर देखकर कहा—"आप भी तो कुछ कहिए !"

मंत्री ने कहा—"महाराज ! संसार में सबसे श्रेष्ठ प्रकाश आँख

का है। यदि आख मे रोशनी है तो ससार की सब रोशनी काम की है। आख की रोशनी गायब है तो न दीपक काम का, न रत्नो का प्रकाश ही कोई काम का और न सूर्य चन्द्र का प्रकाश ही किसी काम का।"

आँख का यह प्रकाश ही—वास्तव मे ज्ञान का प्रकाश है। यही अन्तर की रोशनी है। यदि मनुष्य के पास यह रोशनी है तो शास्त्रों की समस्त चर्चाए, विधिया और क्रियाकाड उसके लिए प्रकाशमय है। इसलिए ज्ञान का प्रकाश जीवन मे सबसे मुख्य एव अनिवार्य है।

महासती प्रवर्तिनी श्री पार्वती जी ने अपनी नवदीक्षिता शिष्या पन्नाकु वर जी को सर्व प्रथम ज्ञानाभ्यास को प्रेरणा दी। ज्ञान की उपासना से ही जीवन मे सत्य एव सदाचार की उपासना हो सकती है। उपाध्यायश्री अमरमुनि जी के शब्दो मे— 'ज्ञान की रक्षा से ही चारित्र की रक्षा हो सकती है। चारित्र का विकास करने के लिए प्रथम ज्ञान का विकास आवश्यक ही नही अनिवार्य है।" इसी अनिवार्यता का अनुभव कर महासती जी ने सती श्री पन्नाकु वर जी को अध्ययन की दिशा में अग्रसर किया।

महासती श्री पार्वती जी का चातुर्मास (वि० स० ६५८) का रोहतक मे था। वहाँ नवदीक्षिता श्री पन्नाकु वर जी को आगमो का अध्ययन कराने की दिशा मे सर्वप्रथम महासती जी ने ध्यान दिया। जैन तत्त्वज्ञान एव आचार की मूल पृष्ठभूमि आगम ही है। आगम-ज्ञान से शून्य साधक केवल बाहरी ज्ञान एव आचार से अपना कल्याण नही कर सकता। इसलिए जैन श्रमण के लिए आगमज्ञान बालक को माता के दूध की तरह आवश्यक एव सर्वोपयोगी है। आपकी बुद्धि तो प्रारम्भ से ही बडी प्रखर एव शीघ्रग्राहिणी थी, अत आपने अल्पसमय मे ही श्री नदीसूत्र जिसमे पाच ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत विवेचन एव चार प्रकार की बुद्धि आदि का बड़ा

ही रोचक वर्णन किया है, आपने उसका अध्ययन किया। उसके बाद जीवाभिगम सूत्र, ज्ञातासूत्र आदि का अनुशीलन किया। प्राकृत एवं संस्कृत के ज्ञान के लिए आपको संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर भी प्रेरित किया गया। आपने आगमों के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण का भी अध्ययन प्रारम्भ किया।

महासती श्री पार्वती जी स्वयं एक विद्यारसिक एवं विदुषी साध्वी थीं। वे जैन समाज की वर्तमान श्रमणी-परम्परा में तत्त्वज्ञान की कमी के कारण बहुत चिंतित थीं। जैन श्रमणियां आचार की परम उज्ज्वलता एवं पवित्रता में जहां अपनी सानी नहीं रखती थीं, वहां उनमें तत्त्वज्ञान, संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं का परिज्ञान आदि बहुत ही सामान्य स्तर का था। इसका कारण था युग-मानस की नारी के प्रति दकियानूसी धारणाएं। उस जमाने में स्त्री-शिक्षा को तो व्यर्थ एवं अनावश्यक ही नहीं, किन्तु कुछ लोग खतरनाक भी समझते थे। जैसे पुराने लोग अपने गांव के पास से रेलवे लाइन निकालने का विरोध करते और उससे गांव को हानि एवं खतरा समझते थे, वैसी ही कुछ धारणा स्त्री-शिक्षा के विषय में उस युग में थी। स्त्री-शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता ही नहीं, किन्तु विरोध भी होता था। कहना नहीं होगा, उन परिस्थितियों में महासती पार्वती जी ने जो साहसिक एवं दूरदर्शिता पूर्ण कदम उठाये उनका मूल्यांकन आज समाज में किया जा रहा है। स्वयं श्री पार्वती जी म० ने भी उस युग में उर्दू व संस्कृत की शिक्षा के साथ अंग्रेजी का अध्ययन भी चालू किया था—यह हम पीछे बता चुकी हैं। उनके हृदय में ज्ञान-प्राप्ति की बलवती जिज्ञासा थी, उसकी पूर्ति स्वयं उन्होंने की, व अपनी शिष्याओं में भी उसी जिज्ञासा को जागृत कर ज्ञानाभ्यास की ओर उन्हें गतिशीलता दी। महासती श्री पन्नाकुंवर जी को उन्होंने एक होनहार साध्वी के रूप में देखा, उनके हृदय में ज्ञान की असीम उत्कंठा देखी और बुद्धि में विकास के बीज

एव ग्रहण-कुशलता का दर्शन किया तो वे बड़ी प्रेरणा के साथ उन्हे ज्ञानाराधना की ओर बढाने लगी ।

महासती पार्वती जी ने १९५९ का चातुर्मास कांधला मे किया। तब तक श्री पन्ना कुवर जी की दीक्षा को एक वर्ष पूरा होगया था। इस एक वर्ष मे उनकी प्रगति व विकास बडे ही आश्चर्यजनक रूप मे सामने आया। आगमो के अनुशीलन की दिशा मे उनकी अभिरुचि निरतर बढती जा रही थी। सस्कृत का अध्ययन भी अच्छी गति पकड रहा था, और इसी के साथ-साथ अपनी परपरा के व्याख्यान, स्तवन, चौपाई आदि का भी वे अध्ययन कर रही थी। आपका स्वर बडा मधुर व ओजस्वी था। वाणी मे प्रारंभ से ही निर्भयता के कारण स्पष्टता एव ओज था। आप १९५९ के चातुर्मास मे गुरुणी जी के सान्निध्य मे अध्ययन तो करती ही थी, साथ मे मध्यान्ह के समय महिलाओ को छन्द-चौपाई,शास्त्र आदि सुनाया करती थी। एक ही वर्ष की दीक्षित साध्वी की यह प्रवचन दक्षता सब के लिए आश्चर्यजनक बात थी।

आप मे जिज्ञासा कितनी प्रबल थी और वह कितनी धारणाशील थी यह इससे ही पता चलता है कि जब महासती श्री पार्वती जी के समक्ष जिज्ञासु जन आस्तिक-नास्तिक, हिंसा-अहिंसा, स्याद्वाद आदि की चर्चा करते तो आप बडी तल्लीनता के साथ घटों तक वह चर्चा सुनती रहती। शायद किसी बालक को नाटक व सिनेमा देखने में भी उतना आनन्द नही आता होगा, जितना आनन्द आपको वे तत्व-चर्चाए सुनने मे आता। और बहुत दिलचस्पी के साथ सुनती, इसलिए वे चर्चाए ज्यो की त्यो आपकी स्मृति मे स्थिर-अकित हो जाती जैसे कैमरे की फिल्म पर कोई दृश्य ! कई बार महासती जी आपके मुख से वार्तालाप के प्रसग ज्यो के त्यो सुनती तब दर्शक एव श्रोता दांतों तले अगुली दबाकर देखते रह जाते।

इसी वर्षावास में परम प्रतापी अखंड बाल ब्रह्मचारी आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज के शिष्य श्री काशीराम जी महाराज वैरागी अवस्था में वहां महासती जी के दर्शन करने को आये। आपने उनको भक्तामर, प्रतिक्रमण आदि का अध्ययन करवाया। इस प्रकार आप अपने अध्ययन को परिपक्क करते हुई अब धीरे-धीरे अध्यापन की ओर भी बढ़ने लगी! महासती जी के सान्निध्य में बराबर आप शास्त्रों का अध्ययन करती रहती थी। १९६० के अम्बाला चातुर्मास में आपने महासती जी के पास अनुयोग द्वार, स्थानांग, प्रज्ञापना आदि आगमों का वाचन किया एवं उनके अनेक गुरु-गम अर्थ रहस्यों की उपलब्धि की।

आप अपने अध्ययन एवं वाचन के साथ-साथ महिलाओं को धार्मिक अध्ययन कराने में विशेष रुचि रखती थी। जहां भी जो महिलाएं आपके सम्पर्क में आतीं आप उनको व्यर्थ की बातें करने से रोकतीं व उन्हें कुछ-न-कुछ ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा देती। महासती जी का जहां भी चातुर्मास होता, वहां महिलाओं को सामायिक, प्रतिक्रमण थोकड़े आदि सिखाने में आप विशेष दिलचस्पी लेती व उन्हें हर प्रकार से शिक्षा की दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयत्न करती।

उस समय में अध्ययन की परिपूर्णता की कसौटी तीन-चार तरह से होती थी। केवल पढ़ लेना मात्र ही अध्ययन-शिक्षण नहीं कहलाता, किंतु अध्ययन के साथ—अध्यापन की कुशलता, प्रवचन करने की दक्षता तथा हस्त-लेख की सुन्दरता भी देखी जाती थी। आपने अपनी बुद्धि का चतुर्मुखी विकास किया—

१ स्वयं का अध्ययन किया।

२ दूसरों को अध्ययन करवाया।

३ प्रवचन शैली में दक्षता एवं

४ हस्त-लिपी मे विशेष सुन्दरता प्राप्त की।

वास्तव मे विद्या का जो चतुर्मुखी विकास कहा जाता है, उसका निदर्शन आपके जीवन में होने लगा। स० १९६९ मे जब प्रवर्तिनी महासती जी ने 'जैन सत्यार्थ चन्द्रोदय' एव—'जैन सम्यक्त्व सूर्योदय' नामक दो पुस्तको की रचना की तब उन्होंने उनके लेखन (पाडुलिपी) आदि मे आपका पूरा-पूरा सहयोग लिया। पिता जब अपने पुत्र को सहयोगी के रूप मे तैयार हुए देखकर जिस आनन्द एव प्रसन्नता की अनुभूति करता है, सच्चा गुरु उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूतियों मे झूम उठता है, जब अपने शिष्य को अपने कार्यो मे हाथ बटाते देखता है, तथा अपनी ही तरह विद्या-बुद्धि एव धर्म-प्रचार की दिशा मे उसकी कीर्ति सुनता है। सचमुच आपकी गुरुणी महोदया को तब कितनी प्रसन्नता हुई होगी जब उनकी शिष्या उनके द्वारा निर्देशित धर्म-पथ पर आगे बढकर अपनी सफलताओ से गुरुणी के सुयश मे चारचाद लगाती हुई जिनशासन की चतुर्मुखी प्रभावना करने लगी थी। महासती जी जहा भी पधारती आप उनके साथ रहती और विविध विषयो पर बडे प्रभावशाली प्रवचन देती, मधुर स्वर मे भजन व प्रभु-स्तुतिया गाती एव महिलाओ मे धार्मिक जागृति के लिए जी-जान से प्रयत्न करती। कुछ ही दिनो मे आपकी ख्याति चारो ओर फैलने लग गई। फूलो की सौरभ पर जिस प्रकार भौरे मडराने लगते है, उसी प्रकार आपके सद्गुणो की सौरभ जिस किसी के पास पहुची वही उस पर मुग्ध हो गया। दूर-दूर के श्रावक आपके व्याख्यान की सुन्दर शैली, मधुर गायन, विद्वत्ता उच्च व्यावहारिकता एव विनम्रवृत्ति से इतने प्रभावित होने लगे कि वे विशेष रूप से आपके दर्शन एव प्रवचन सुनने को दौडे आते।

महासती श्री पन्नादेवी जी म० की सुन्दर सुगठित शास्त्रीय हस्तलिपि का एक सुन्दर नमूना

८ | धर्मप्रचार की दिशा में

तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना है कि एक बार उनके पास पूर्ण नामक एक भिक्षु आया, और बोला—"भन्ते ! मुझे सूना प्रान्त (अनार्य प्रदेश) में धर्म प्रचार के लिए जाने की अनुमति दीजिए।"

बुद्ध ने कहा—"पूर्ण ! वहां के लोग बड़े क्रूर स्वभाव के हैं, तुझे गाली आदि देंगे, भिक्षा नहीं देंगे, तब तुम क्या करोगे ?"

पूर्ण ने कहा—"भन्ते ! मैं सोचूंगा, वे लोग बड़े अच्छे हैं, जो सिर्फ गाली देते हैं, मुझे कोई यंत्रणा व पीड़ा तो नहीं देते ?"

बुद्ध—"यदि यंत्रणा देंगे, दंड प्रहार करेंगे तो ?

पूर्ण—"भन्ते ! मैं सोचूंगा वे अच्छे हैं, जो मेरा वध तो नहीं करते।"

बुद्ध—"यदि वध कर डालेंगे तो ?"

पूर्ण—"भन्ते ! तब भी कोई बात नहीं, अनेक जन्म लेने पर भी मनुष्य कभी धर्म के लिए अपने को बलिदान करने का सौभाग्य

प्राप्त नही करता, मै सोचू गा, मुझे कितना बडा सौभाग्य मिला है ?"

पूर्ण के अटल-साहस एव धर्म-प्रचार की निष्ठा पर बुद्ध प्रसन्न हो उठे, और बोले—"पूर्ण ! जिस भिक्षु मे इतना साहस एव निष्ठा है, वह कही भी जा सकता है, उसे कही कोई भय नही ।"

धर्म प्रचारक का कार्य वास्तव मे ही काटो का ताज होता है। उसे यश, प्रतिष्ठा एव स्वागत पूजा के फूल मिलते हे, तो अपमान, यत्रणा, कष्टो के शूल से परिपूर्ण पथ पर भी चलना पड़ता है। वह जीवन मे सुखो के सपने सजोकर नही चलता, स्वागत-सत्कार की रम्य कल्पनाओ मे नही उड़ता, किंतु कष्ट, बलिदान, एव अपमान के लिए हृदय को वज्र-सा कठोर करके चलता है ।

महासती पन्नादेवी जी का हृदय जहा फूल-सा सुकुमार रहा है, वहा वज्र-सा कठोर भी देखा गया है। वे धर्म प्रचार की दिशा में जीवन को अर्पित करके चली है। अज्ञान लोगों मे उपदेश देते हुए उन्हे अनेक बार अपमानो एव कष्टो का सामना करना पड़ा है मृत्यु के क्षणो मे से भी गुजरना पडा है, तलवार की तेज धार पर से चलना पडा है, पर कभी भी उनके चेहरे पर भय एव खिन्नता की कोई शिकन नही आई। बाल्यकाल से ही उनमें साहस एव निर्भयता चमक रही थी,जो आयु एव अनुभव के साथ-साथ आज तक निरन्तर बढती ही रही है।

सिंह से मुकाबला

एक बार आप महासती जी के साथ वि० स० १९६५ का चातुर्मास स्यालकोट करने हेतु लाहौर से पसरूर को विहार कर रही थी। चलते-चलते सही रास्ता छूट गया और सब सतिया किसी बीहड़ रास्ते पर चल पडी। सायकाल का धुधलका होने जा रहा था, चलते-चलते पाव थक चुके थे पर कही आस-पास में कोई गाव

दिखाई नहीं दे रहा था। अब कहां जाए ? और रातभर कहां विश्राम करे ? यही सवाल सामने खड़ा था। तभी कुछ दूर पर एक टूटा-फूटा सा मकान दिखाई दिया। साध्वियां उस ओर चलीं, निकट आई, तो देखा एक मस्जिद है, चारों ओर से खुली। पर, साधु को क्या, मंदिर और मस्जिद, महल और श्मशान! कहीं भी वह बैठकर अपनी अलख जगा सकता है। साध्विमंडली मस्जिद में ठहर गई, मस्जिद के पास से ही पश्चिम की ओर एक छोटी-सी नदी बह रही थी और चारों ओर बीहड़ जंगल सांय-सांय कर रहा था। साध्वियां निर्भीक भाव से वहीं ठहर गई और अपना प्रतिक्रमण आदि करने में जुट गई। कुछ मुंह अंधेरा हुआ होगा तभी एक आदमी आया और बोला—माताजी! आप लोग यहां मौत के मुंह पर क्यों बैठी हैं? रात में यहां इसी नदी पर पानी पीने के लिए सिंह आता है। आप कैसे अपनी जान बचा सकेंगी? चलिए पास में ही मेरा गांव है, वहां आपके लिए सब सुविधा हो जायेगी!"

उत्तर में श्री पन्नादेवी जी महाराज ने निर्भीक भाव से कहा— "भाई! तुम्हारी भावना अच्छी है, पर तुम हमारी चिंता मत करो! अब अंधेरा होने से हम कहीं जा नहीं सकती, और फिर जंगल है तो क्या? हमें कोई भय नहीं। हम अपने भाग्य से सुरक्षित रहेंगी— "अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्"—जिसको संसार अरक्षित-खतरे में समझता है, भाग्य उसकी रक्षा करता है। इसलिए आप हमारी चिन्ता न करिए, हम घबराने वाली नहीं हैं। मृत्यु को तो हम खेल समझती हैं, चोला बदलना मानती है, फिर किस बात का भय? 'माया' हमारे पास है नहीं, और 'काया' का हमें कोई मोह नहीं है, इसलिए हम तो निर्भयपूर्वक आज की रात यहीं गुजारेंगी!

एक नारी के मुंह से उसने ऐसा साहस भरा उत्तर जिन्दगी में पहली बार सुना। वह कुछ देर उनके दिव्य तेजोमय चेहरे को देखने

का प्रयत्न करता रहा, फिर उन देवियो को मन-ही-मन नमस्कार किया और चला गया। महासती जी ने पन्नादेवी जी की पीठ थप-थपाते हुए कहा—"पन्नो ! सचमुच तुम्हारी नसों मे क्षत्रिय का रक्त बह रहा है। इतनी वीरता और निर्भीकता देखकर खुद मुझे आश्चर्य हो रहा है।"

पन्नादेवी जी महाराज ने विनम्रता पूर्वक निवेदन किया—"महासती जी ! यह वीरता का मार्ग तो आपने ही बताया है। और फिर शेर हमारे पास क्यो आयेगा ? वह तो अपना पानी पी के चला जायेगा। हिंसा को देखकर हिंसा भडकती है, हमारे मन मे जब सिंह के लिए प्रेम और सद्भाव है तो क्यो उसके मन मे हमारे प्रति हिंसा भावना जगेगी ?"

महासती जी के साथ ऐसी बाते चल ही रही थी कि तभी सिंह की एक दहाड़ से मस्जिद की दीवारे काप-काप उठी। सारा वन प्रान्तर एकबारगी गूंज उठा। दिशाए सिंहगर्जना से प्रतिध्वनित हो गई। कुछ ही क्षणो मे एक विकराल सिंह नदी पर आया, पानी पिया और सदा की भाति चुपचाप लौट गया। साध्विया दूर खड़ी यह रोमाचक दृश्य देख रही थी। बाकी रात बड़ी शाति से गुजरी। प्रात. सभी साध्विया प्रसन्न थी।

इधर वह व्यक्ति रात भर विचारो की उथल-पुथल में पडा रहा। प्रातः होते ही वह वहा पहुचा तो, देखा ये चारो साध्विया बड़ी प्रसन्न मुद्रा मे ध्यान लगाए बैठी हैं। जैसे रात बड़े ही आनन्द एव सुख मे बीती हो ? वह समझ नही पाया, कैसी अद्भुत माया है ? उसने पूछा—"माताजी ! तुम रात को आराम से रही ना ? अच्छा हुआ बच गई।"

आपने कहा—भाई ! "जाको राखे साइया मार सके नही कोय" धर्म के प्रताप से मनुष्य की सर्वत्र रक्षा होती है। जो अपने धर्म की

रक्षा करता है, धर्म उसकी जरूर रक्षा करता है—"धर्मो रक्षति रक्षितः।" भगवान की भक्ति करने वाला संकट में पड़कर भी उससे कुशलतापूर्वक पार हो जाता है।"

आपके मुख से धर्म की महिमा सुनकर उस व्यक्ति ने कहा—"मुझे भी कुछ धर्म बताइए।" आपने उसे गृहस्थ धर्म का संक्षिप्त रूप बताया और उसने भी मदिरा आदि कुछ नशों का त्याग किया। यही तो सत्संग की महिमा है—

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका,

—सत्पुरुष की क्षणभर की संगति भी मनुष्य को संसार सागर से तारने के लिए नौका बन सकती है।

कुष्ठ रोगियों का उद्धार

महासती जी के धर्म प्रचार में मैं उन घटनाओं और कार्यक्रमों का विवरण देकर अधिक विस्तार करना नहीं चाहती, जो उनके सामान्य जीवन का एक अंग थी। वे जहां भी जाती श्रद्धालु श्रावकों के झुंड उनके दर्शन व प्रवचन श्रवण हेतु नदी के प्रवाह की भांति उमड़ पड़ते! वे उन्हें त्याग, पचखाण, संयम, तपस्या, तत्त्व चर्चा आदि के द्वारा धर्म पथ की ओर अग्रसर करती। महिलाओं को कुरुढियों का त्याग करवाती, बड़ी-बड़ी तपस्याएं होतीं, समाज सेवा के लिए बड़े-बड़े दान किये जाते, जीव रक्षा के लिए सहस्रों रुपये खर्च होते उन सबका विवरण उपयोगी हो सकता है, किंतु वे जैन मुनि के दैनिक जीवन का एक अंग रूप ही होने से उनमें कोई आश्चर्यकारिता नहीं है। ऐसी घटनाएं तो हर चातुर्मास में होती ही थी। हम यहां उन विशेष घटनाओं की ही चर्चा करेंगी जिनमें कुछ विलक्षणता एवं नवीनता लक्षित हो रही है। जो असामान्य रूप से जन-मानस को अपने दिव्यप्रभाव से प्रभावित कर सकी।

आप श्री की दीक्षा १६५८ मे रोहतक मे हुई, उसके २४ वर्ष बाद रोहतक सघ की अत्यन्त भावभीनी प्रार्थना पर स० १६८३ का चातुर्मास आपने रोहतक मे स्वीकृत किया। व्याख्यान में आप 'उपासक दशा' सूत्र पर विश्लेषण करती व पश्चात् जैन रामायण सुनाती। आपकी शैली इतनी प्रभावपूर्ण व रोचक थी कि श्रोताओ में अपूर्व उत्साह उमड़ रहा था। वहा की वृद्ध बहनों के मुंह से आज भी रामायण की चर्चा सुनती हूँ, तो वे कहती है—ऐसी रामायण हमने जिन्दगी मे कभी नही सुनी। राम वनवास के समय का वर्णन सुनाते हुए शायद ही कोई श्रोता बचा हो जिसकी आखो से आँसू नही बहे हों। आपके व्याख्यानो मे सैकडो जैनेतर महिलाएं भी आती और अत्यंत श्रद्धा के साथ आपके प्रवचन सुनती।

वहां रोहतक मे दो युवक आपके प्रवचन मे आने वाली महिलाओं को परेशान किया करते थे। जैन साधुओ की निंदा एव आनेवाली महिलाओं का उपहास, घृणित चेष्टाएं तथा अनर्गल बकवास से श्रोताजन काफी क्षुब्ध हो उठे थे। बहुत बार समझाने पर भी युवक जब अपनी हरकतो से बाज नही आये तो वहा के प्रमुख श्रावक बिहारीलाल जी, वशेश्वरनाथ जी आदि ने भी युवको को डाटा, पर जब उनकी आदत नही छूटी तो स्थानीय थानेदार तक यह खबर पहुंची और युवक गिरफ्तार होकर हिरासत में पहुंच गये। दोनो युवको की गिरफ्तारी से उनकी बिरादरी मे हलचल मच गई। एक युवक ब्राह्मण था व दूसरा जाट। दोनो के रिश्तेदार महासती जी की सेवा मे पहुंचे। गिड़गिड़ा कर कहने लगे- "आप क्षमा करिए! और हमारे बच्चो को छुड़वा दीजिए!"

आपने कहा—"भाइयो! हमने तो आपके बच्चो को न गिरफ्तार करवाया है और न उनके लिए हमारे मन मे कोई दुर्भावना है। लेकिन यह जरूर है कि उन्होने जो शरारते की, धर्मस्थान पर

आने वाली मां-बहनों को जिस भद्दे तरीके से परेशान किया वह कोई भी सभ्य गृहस्थ बर्दाश्त नहीं कर सकता। आप जानते हैं किसी को भी कष्ट देना, निंदा करना, परेशान करना पाप है, जो दूसरों को परेशान करता है, दूसरों के दिल की आह लेता है, वह आह उसे क्या, भगवान को, आसमान को भी हिला डालती है—

मत सता जालिम किसी को
मत किसी की आह ले।
दिल के दुख जाने से नादाँ !
अर्श भी हिल जायगा।

यदि किसी में कुछ करने की ताकत हो, तो वह भगवान की भक्ति करे, इन्सान की सेवा करे—

किसी दुनिया के बन्दे को
अगर शोके-शहादत हो।
तो उसका काम दुनिया में
सदा इन्सान की खिदमत हो।

यदि वह यह नहीं कर सके, किसी के काम न आ सके—

मर्द हो तो, किसी के काम आओ !
वर्ना खाओ, पीयो, चले जाओ !"

तो अपने घर बैठे, पर खामख्वाह किसी सज्जन को, धर्म कर्म करने वाले धार्मिक लोगों को परेशान क्यों करें ?"

महासती जी के कथन पर आने वाले सभी लोगों की आँखें शर्म से नीची झुक गईं। उन्होंने प्रार्थना की—"आप महान हैं ! हम गरीबों पर दया करिए ! भविष्य में ये बच्चे कभी किसी बहन को परेशान नहीं करेंगे।" यह कहकर उनके माता-पिता आपके चरणों में गिर पड़े और आंसू बहाने लगे।

आपने फरमाया—हमने तो उनके सम्बन्ध में कभी किसी को

कुछ कहा नहीं। समाजवालों ने शिकायत की और थानेदार साहब ने उन्हे पकड़ा, अब समाजवालो को मैं समझाऊंगी, जैनधर्म तो क्षमा का ही धर्म है, अपराधी पर क्षमा करना ही वास्तव मे क्षमा है और हमारे श्रावक भी इस बात से शायद इन्कार नहीं करेंगे। आपने उन्हें सान्त्वना दी और फिर समाज के प्रमुख श्रावकों को कहा—"आप लोगों के कहने से किसी भाई की आत्मा इतना कष्ट पा रही है यह ठीक नही, उन दोनों को छुडवा देना चाहिए।" आपके कथन से वे दोनो युवक छूट गए।

कुछ दिन बाद उन दोनों युवको के शरीर में भयकर कुष्ठ रोग फूट पड़ा। अच्छे-अच्छे डाक्टरो के द्वारा उपचार करवाने पर भी रोग शात होने के बजाय अधिक भयंकर बनता गया। शरीर गलने लग गया। दोनो ही युवक थे, परिवार के एक मात्र सहारे थे। उनके मां-बाप और आश्रित जन चिन्तित थे, घबरा रहे थे। एक दिन उन्हे मोहल्ले वालो ने परामर्श दिया कि—"आप इन युवको को उन माताजी के पास ले जाइए! उनके चरणो की धूलि लीजिए वे कुछ स्तोत्र, पाठ आदि सुनाएंगी तो जरूर ये स्वस्थ हो जाएंगे। वह माताजी बडी तपस्विनी है उनके आशीर्वाद से जरूर इन्हे लाभ होगा, कोढ शात हो जायगा।"

दोनो युवको को लेकर उनके माता-पिता आदि आपके पास आये। उनकी दशा देखकर आपका मन द्रवित हो उठा। कुछ दिन पहले ये पूर्ण स्वस्थ थे और आज इस तरह कोढ से गल रहे है! आपने लगभग आधा घंटा तक स्तोत्र पाठ आदि सुनाया, और सबको सान्त्वना दी। लगभग २७ दिन तक दोनो युवको को बराबर स्तोत्र पाठ आदि सुनाए। धर्म के प्रभाव से कहिए या उनके सातावेदनीय के उदय से, धीरे-धीरे उनका कुष्ट रोग शात होता चला गया। आपके अद्भुत प्रभाव की महिमा रोहतक शहर में ही नहीं, बल्कि

दूर-दूर तक के क्षेत्रों में फैल गई। रोग से मुक्त होने के बाद दोनों युवक जिनका नाम था--अजयशर्मा और उमरावसिंह-ने आपसे जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त किया, भक्तामर आदि स्तोत्र सीखे और सम्यक्त्व ग्रहण कर जैन धर्म के अनुयायी बने। इस घटना से अनेक अजैन लोगों का-- जैन धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ा।

डाकुओं को प्रतिबोध

साधुजनों के दर्शन एवं उपदेश से भव्य एवं सभ्य समझे जाने वाले लोग प्रभावित होकर प्रतिबुद्ध होते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं लगता, किंतु जो क्रूर, हिंसक एवं डाकू समझे जाने वाले दुर्भव्य जीव यदि प्रतिबोध प्राप्त करते हैं तो जरा आश्चर्य एवं असामान्य-सी बात लगती है। वास्तव में संतों के जीवन में वह चमत्कार होता है कि बड़े-बड़े क्रूर व लुटेरे भी उनके चरणों में पहुंचकर दयालु और साहूकार बन जाते हैं। वाल्मीकि, अंगुलीमाल और अर्जुनमाली एवं रौहिणेय के उदाहरण आज भी संतों के इस चमत्कार की कहानी सुनाते हैं। महासती पन्नादेवी जी के जीवन में भी ऐसा एक प्रसंग आया जब इनको लूटने के लिए आये हुए डाकू नवकार मंत्र जपते हुए वापस लौटे।

रोहतक चातुर्मास समाप्त कर आपने कैंथल की ओर विहार किया। रास्ते में अचानक एक डाकू आपके सामने आकर खड़ा हो गया, उसके तीन साथी पास के वृक्षों के झुरमुट में छिपे हुए थे और वह सामने आकर बोला--"क्या है तुम्हारे पास ?" डाकू की भयावनी आकृति, मशाल जैसी लाल-लाल आंखें, और हाथ में बंदूक देखकर साथ की साध्वियाँ भयभीत हो गईं। उनके पास दो शिकारी कुत्ते भी थे जो बार-बार जीभ लपलपा रहे थे जैसे अभी नौंच डालेंगे।

आपने निर्भीकतापूर्वक डाकू के सामने देखा और उसीकी तरह दृढ़ आवाज में बोली--"क्या चाहिए तुम्हें ? कौन हो तुम ?"

डाकू—"इन पेटियो मे क्या है ?"

साध्वीजी—'भाई ! ये पेटियाँ नही है, ये तो गत्ते के डब्बे है, इनमे हमारे धर्म ग्रन्थ है, जो हमारे पढने लिखने के काम आते है।"

डाकू—"हूँ ! झूठ बोलती हो ! तेरे पास इसमें सोने की ईंटें है।"

साध्वीजी—"देख भाई ! हम तो सोने-चादी का एक कतरा भी पास मे नही रखती, फिर सोने की ईंटे लिए यो जगल-जगल पैदल क्यों घूमेंगी ?"

डाकू बडबडाकर बोला- 'रहने दे माई ! मुझे उल्लू मत बना। जितना जैनियो के पास धन होता है उतना किसी के पास होता भी नही। मैने जैनियों के मदिर देखे है उनमे हीरो पन्नो की मूर्तियाँ और सोने चादी के छत्र होते है। तू समझ ले, जो भी तेरे पास हो, सब रख दे, वर्ना....'

आपने जरा तेज स्वर मे डाकू को ललकार कर कहा—'देख ! ये सब डिब्बे अभी खोलकर दिखा देती हूँ यदि इनमें कुछ भी धन माल नही निकला तो बोल तेरा क्या रास्ता होगा ?" और सटासट अपने पास की सभी पुस्तकें आदि खोलकर उसके सामने कर दिए।

डाकू स्तभित-सा देख रहा था। अब माल पर उसका ध्यान नही रहा, वह इस जैन साध्वी की नडरता और साहस देखकर दंग था। उसने कहा—'माई ! मै आज तक बड़े-बड़े अफसरों से भी नही डरा। पटियाला रियासत ने मेरे पीछे सिपाही छोड रखे है, पर मैं कभी किसी से डरा नही। पर, आज तुम्हारा साहस देखकर चकित हो गया, तुम कोई औरत नही हो, देवी हो। मुझे माफ करना !"- यो कहकर डाकू चलने लगा तो आपने उसे पुकारा—"ठहरो ! साधुसतों के दरबार मे आकर खाली हाथ मत जाओ ! हम धर्म के जौहरी हैं, दो चार हीरे मोती तुम भी लेते जाओ !"

हीरे-मोती की बात सुनकर वह आश्चर्य पूर्वक देखने लगा—"अभी तो कह रही थी हमारे पास कुछ नही है, और अभी हीरे-मोती

दे रही है। तभी आपने नवकार मंत्र का चित्र निकाला और कहा—"देख भाई ! यह महामंत्र है, तू हमारे पास आया है तो यह महामंत्र सीखता जा, इसे रोज रटने से सब प्रकार के दुःख और संकट दूर हो जाते हैं।"

नवकार मंत्र का सुन्दर चित्र और उसकी महिमा सुनकर उसने पास में छुपे अपने तीनों साथियों को भी बुला लिया। सबने नवकार की महिमा सुनी तो कहा—"माताजी ! हमने जिन्दगी में मुंह से कभी 'राम' नाम नहीं लिया तो यह मंत्र कैसे सीखेंगे ? यह तो बहुत मुश्किल है।"

आपने कहा—भाई ! इन्सान के लिए कोई चीज मुश्किल नहीं है—

वह कौन-सा उकता है, जो वा हो नहीं सकता ?
हिम्मत करे इन्सान तो क्या हो नहीं सकता ?

हर मुश्किल अभ्यास से आसान हो जाती है

—'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'

अभ्यास करते रहे, तो सब कुछ आसान है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहां तक कहा है—

राम नाम का मर्म न जाना
वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना

राम को 'मरा-मरा'—जपते-जपते डाकू रत्नाकर जैसे भी महर्षि वाल्मीकि बन गये। तो भाई, अभ्यास से कुछ भी मुश्किल नहीं है। तुम हमारे पास कुछ लेने आये हो तो यह मंत्र जरूर लेते जाओ, इससे तुम्हारा जरूर भला होगा।"

डाकू महासती जी के कथन से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नवकार मंत्र याद कर लिया और रोज एक माला जपने की प्रतिज्ञा ली। डकैती डालना छोड़कर ईमानदारी से जीवन चलाने का वचन दिया, और नवकार मंत्र बोलते हुए उठे, नमस्कार करके चल दिए।

यह है साधु संगति का चमत्कार कि लूटो-लूटो—पुकार रहा था वह 'णमो अरिहंताणं' बोलता हुआ गया। यह घटना देखकर हीरविजय सूरि की वह बात याद आ जाती है कि सम्राट अकबर के समय में वे देहली पधारे तो उन्होंने मार्ग पर ऐसी चमत्कारी झंडियां लगवाई कि उनके नीचे से कोई गुजरता तो वह—'णमो अरिहंताणं' जय महावीर आदि बोलने लग जाता। वह बात सुनी हुई है, उसमे दैवी शक्ति थी, पर यह घटना तो महासती जी के जीवन में घटित हुई है कि 'लूटो'-और मारो' की पुकार लगाने वाला उनके शुद्ध आत्मिक तेज से प्रभावित होकर एकदम बदल गया, और 'णमो अरिहंताणं' रटता हुआ भक्तिपूर्वक नमस्कार करके गया।

प्रचार का मिशन

पंजाब, हरियाणा, जम्मू-काश्मीर, देहली और यमुना पार के क्षेत्र आपके धर्म प्रचार के विशेष केन्द्र रहे। जहां भी आप पधारी वहा की जनता में एक विशेष उत्साह की लहर दौड जाती और कभी स्थानक का द्वार नहीं देखने वाले भी आपके प्रवचन सुनने-दर्शन करने नित्य सबसे आगे आते।

आपके प्रचार का मूल था—अहिंसा, गौरक्षा, महिलाओ में कुरुतियो का त्याग और दीन-गरीब जीवो की सेवा। आप जहा भी जाती, खासकर इन्हीं विषयो पर बल देती। स्थान-स्थान पर सारगर्भित प्रवचन होते तो उनमे इन्ही बातो पर विशेष जोर देती। अहिंसा का प्रचार, गौ रक्षा, सेवा[1] और कुरुढियो का त्याग—इस प्रकार से आपके धर्म प्रचार का यही मिशन बन गया था। सं० १९९६ के रावलपिण्डी चातुर्मास मे तो आपने गौरक्षा, गौ सेवा पर विशेष प्रवचन किए और बड़ा सक्रिय प्रचार भी! आपके प्रयत्नो के फलस्वरूप वहां पर 'गौशाला' की स्थापना भी हुई।

---

१. गौरक्षा एवं मानव सेवा पर आपके विचार 'प्रवचन पखुड़िया' में पढ़िए।

ई० सन् १९१० मार्च २५ को जब जालन्धर में आल इंडिया श्वेताम्बर जैन कांफ्रेंस हुई तो उसमें भी श्रावकों की प्रार्थना पर आपने मानव सेवा पर बहुत ही ओजस्वी प्रवचन किया। आपका एक प्रिय नारा—

"वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे"

तो लोगों के मुंह पर नाचने लगगया।

इस प्रकार महान साधना पथ पर बढ़नेवाली महासती जी आत्म-साधना के साथ-साथ लोक-कल्याण की दिशा में भी अपना अद्‌भुत प्रभाव चारों ओर दिखाने लगी और स्थान-स्थान पर जिन-शासन की महिमा महक उठी।

यह है साधु सगति का चमत्कार कि लूटो-लूटो—पुकार रहा था वह 'णमो अरिहताण' बोलता हुआ गया। यह घटना देखकर हीरविजय सूरि की वह बात याद आ जाती है कि सम्राट अकबर के समय मे वे देहली पधारे तो उन्होने मार्ग पर ऐसी चमत्कारी झडिया लगवाई कि उनके नीचे से कोई गुजरता तो वह—'णमो अरिहंताणं' जय महावीर आदि बोलने लग जाता। वह बात सुनी हुई है, उसमे दैवी शक्ति थी, पर यह घटना तो महासती जी के जीवन मे घटित हुई है कि 'लूटो'-और मारो' की पुकार लगाने वाला उनके शुद्ध आत्मिक तेज से प्रभावित होकर एकदम बदल गया, और 'णमो अरिहंताणं' रटता हुआ भक्तिपूर्वक नमस्कार करके गया।

प्रचार का मिशन

पंजाब, हरियाणा, जम्मू-काश्मीर, देहली और यमुना पार के क्षेत्र आपके धर्म प्रचार के विशेष केन्द्र रहे। जहा भी आप पधारी वहा की जनता मे एक विशेष उत्साह की लहर दौड जाती और कभी स्थानक का द्वार नही देखने वाले भी आपके प्रवचन सुनने-दर्शन करने नित्य सबसे आगे आते।

आपके प्रचार का मूल था—अहिंसा, गौरक्षा, महिलाओ में कुरुतियो का त्याग और दीन-गरीब जीवो की सेवा। आप जहा भी जाती, खासकर इन्ही विषयो पर बल देती। स्थान-स्थान पर सारगर्भित प्रवचन होते तो उनमें इन्ही बातों पर विशेष जोर देती। अहिंसा का प्रचार, गौ रक्षा, सेवा[1] और कुरुढियो का त्याग—इस प्रचार मे आपके धर्म प्रचार का यही मिशन बन गया था। सं० १९९६ के रावलपिण्डी चातुर्मास मे तो आपने गौरक्षा, गौ सेवा पर विशेष प्रवचन किए और बडा सक्रिय प्रचार भी! आपके प्रयत्नों के फलस्वरूप वहा पर 'गौशाला' की स्थापना भी हुई।

---

१. गौरक्षा एव मानव सेवा पर आपके विचार 'प्रवचन पखुड़िया' मे पढ़िए।

ई० सन् १६१० मार्च २५ को जब जालन्धर में आल इंडिया श्वेताम्बर जैन कांफ्रेंस हुई तो उसमें भी श्रावकों की प्रार्थना पर आपने मानव सेवा पर बहुत ही ओजस्वी प्रवचन किया। आपका एक प्रिय नारा—

"वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे"

तो लोगों के मुंह पर नाचने लगगया।

इस प्रकार महान साधना पथ पर बढ़नेवाली महासती जी आत्म-साधना के साथ-साथ लोक-कल्याण की दिशा में भी अपना अद्भुत प्रभाव चारों ओर दिखाने लगी और स्थान-स्थान पर जिन-शासन की महिमा महक उठी।

९ | सहिष्णुता की मूर्ति

सत्पुरुषों के लिए एक विरोधात्मक विशेषण आता है,

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

वे फूल से कोमल होते है, और वज्र से कठोर! एक ही महा-पुरुष के जीवन मे ये दो विरोधी गुण होते हैं। वे पर-दु:ख मे, दूसरो की पीड़ा मे फूल से कोमल होते है। किसी दुखी को देखकर उन का हृदय गद्‌गद् हो जाता है। किसी पीडित व सतप्त व्यक्ति को देखकर वे द्रवित हो उठते है। किंतु जब स्वय के जीवन में दु:ख व पीडा आती है तो वे अचल-हिमालय की भांति स्थिर एव कठोर हो जाते है। तूफानो से खेलने लगते है, अगारो पर चलते हुए भी मुस्कराते है। वे अपना कष्ट व पीडा दूसरों के समक्ष प्रकट नही करते, किंतु भीतर ही भीतर उसे अमृत समझकर पी जाते हैं। वे मानते है, कष्ट एवं पीडाएं कहने के लिए नही, सहने के लिए हैं। सुख तो सभी सहते है, किंतु दु:ख का सहना—यही धैर्य की कसौटी है।

आचारांग सूत्र में संयम के पथिक साधक के अटल धैर्य को उद्बोधित करते हुए कहा है—दुक्खेण पुट्ठे धुव मायएज्जा—जब दुःख एवं पीड़ाएं आकर घेरती हैं, कष्टों के तूफान मचलते हैं उस समय साधक ध्रुवता धारण करें, मन को स्थिर एवं अचल बनाए और कष्टों के गरल को यह मानकर पीता जाए—

किंतु गरल यह भव सागर का
शिवशंकर ही पीते हैं।...
....सुख तो सब ही सह लेते पर
दुःख धीर ही सहते हैं।

महासती श्री पन्नादेवी जी के जीवन में सहिष्णुता एवं समता का अत्यन्त उच्च एवं निर्मल रूप देखने को मिला है। वैसे ही नारी जीवन सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति होती है। धैर्य एवं तितिक्षा में वह सदा पुरुष से आगे रही है। जिसमें जैननारी, एवं जैन श्रमणी का तो जीवन ही पृथ्वी की भांति सहिष्णु और समता की सजीव प्रतिकृति है। महासती जी के जीवन में धर्म प्रचार के समय अनेक तरह के कष्ट, पीड़ाएं एवं अपमान के प्रसंग आए, कुछ विरोधीजनों की दुश्चेष्टाओं के फलस्वरूप कभी-कभी परेशानियां भी पैदा हुईं; पर आपने कभी उनके सामने घुटने नहीं टेके, और न दिल को कमजोर बनाया, साथ ही उन प्रसंगों से मन की शांति को भंग भी न होने दिया बल्कि धैर्यपूर्वक सहती गईं।

आपको अनेक बार शारीरिक पीड़ाएं एवं रोगों का भी मुकाबला करना पड़ा। बीमारियों के आक्रमण के समय मनुष्य के धीरज की सच्ची परीक्षा होती है। आप उस अग्निपरीक्षा में शतशः सफल रही हैं। आपके जीवन का एक ही उदाहरण मैं यहां प्रस्तुत करूंगी जो आपकी अविचल धीरता का परिचायक होगा।

वि० सं० २०२६ में पर्युषण के समय कई दिन तक आपको

ज्वर आता रहा ज्वर के समय भी पर्युषण होने से आपने धर्म-प्रवचन,, शास्त्रवाचन आदि कार्यों मे शिथिलता नही आने दी।-आपसे श्रावकों ने आराम करने की प्रार्थना की तो आपने उत्तर दिया—

साधु का शरीर साधना के लिए है—मोक्ख-साहणहेउस्स साहु देहस्स धारणा—मोक्ष का साधनभूत होने से ही शरीर धारण किया जाता है, फिर इस शरीर के आराम के लिए साधना मे विघ्न आये तो वह आराम हराम है। फलस्वरूप अधिक श्रम होता रहा और ज्वर ने भयकर टायफाइड का रूप धारण कर लिया। दिन में १०४ डिग्री से भी ऊपर बुखार चला जाता, फिर भी आपने कभी मुंह से ऊफ तक नहीं किया ; आपने औषधि आदि लेने से भी इन्कार कर दिया। आपका विश्वास था कि मेरी बीमारी धीरे-धीरे स्वतः ही शांत हो जायेगी ! किंतु श्रावकों एवं शिष्याओं के अधिक आग्रह से आपने आखिर होम्योपैथिक औषधि ली। बीमारी की अवस्था मे आपका मनोबल, सहनशीलता एव धैर्य बडा ही अद्भुत था। इस प्रकार का उच्च मनोबल वस्तुतः ही दर्शकों को अदभुत सहनशक्ति की प्रेरणा देता रहा है।

पीडित, असहाय एव सकटापन्न व्यक्तियो को धैर्य बधाने मे भी आपकी कला बड़ी अपूर्व है। भारत पाकिस्तान के समय पजाब (पाकिस्तान) से आने वाले हजारों जैन भाई-बहन जो अपने को बिल्कुल निराश्रित स्थिति मे पा रहे थे। आपने उनका मनोबल बहुत मजबूत किया, धैर्य बधाया और साहस से कार्य करने की शिक्षा दी। आपकी शिक्षाओं से उस समय सैकड़ो बहनों ने अपने उजडते आशियाने की रक्षा की और आज वे अमन चैन मे है।

वास्तव मे ही महासती जी स्वयं के दुःख मे हिमाचल की भांति धीर-गंभीर है और दूसरो को धीर-गभीर बने रहने की प्रेरणा देती है।

१० | सेवा की दिव्य ज्योति

जैन धर्म की साधना-विधि में अनेक प्रकार की साधनाओं का वर्णन है। उनकी समस्त साधनाविधि को 'तप' की संज्ञा दी गई है। उपवास, रस निग्रह, और कायोत्सर्ग के साथ ही विनय,सेवा एवं ध्यान को भी 'तप' की सीमा में लिया गया है। उपवास, कठोर व दीर्घ तपस्याएं, रसनिग्रह आदि को बाह्य तप कहा गया है, वे एक प्रकार की कृच्छ साधना है, एक प्रकार का हठयोग है। उससे दर्शक के मन पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है और वह दीखने में बड़ी कठोर प्रतीत होती है। किंतु सेवा, विनय, धर्मोपदेश, ध्यान, स्वाध्याय आदि दीखने में भले ही कठोर तप प्रतीत न हों, किंतु साधना विधि के मर्मज्ञों ने इसे बहुत महत्व दिया है। सेवा, विनय आदि को आभ्यंतरतप कहा गया है। यह राजयोग का एक प्रकार है। स्पष्ट ही है कि बाह्यतप से आभ्यन्तरतप अधिक महत्वपूर्ण है, उसका गौरव विशेष है और आत्मकल्याण की दृष्टि से वह विशिष्ट तप माना गया है।

महासती श्री पन्नादेवी जी के जीवन मे उपवास आदि कठोर तप के अनेक अवसर आये हैं। समय-समय पर उन्होंने अनेक तपश्चर्याए, रसनिग्रह आदि की साधना स्वय की है, तथा हजारों-हजारो लोगो को प्रेरणाएं भी दी हैं। किंतु उन्होंने बाह्यतप से भी अधिक आभ्यन्तर तप का महत्व समझा है, जीवन मे आभ्यन्तर तप की दिव्यसाधना की है। सेवा, विनय, ध्यान-स्वाध्याय आदि तप के अगो की बडी निष्ठा एव भाव-प्रवणता के साथ आराधना की है। सेवा के अनेक महत्वपूर्ण प्रसग उनके जीवन मे आये हैं और उन्होंने उन पुण्य अवसरो पर सर्वात्मभाव से बड़ी निष्ठा एवं अग्लान वृत्ति के साथ सेवा की है। अपने सुख-सुविधा के अवसरो का त्याग कर, स्वतन्त्र विहार एव लोक-कीर्ति के प्रसंगो की सर्वथा उपेक्षा कर उन्होंने अपना जीवन सेवामय बनाया है। छोटे-बड़े के भेद को भुलाकर उन्होंने सेवा को परम धर्म माना है। भगवान की परम आज्ञा मानी है और बड़ी सहजता के साथ उस दिव्य ज्योति की आराधना की है। जैन साहित्य का यह सुविश्रुत प्रसग उनकी भावनाओ के कण-कण मे रमा हुआ है।

एक बार भगवान महावीर से गणधर गौतम ने पूछा—"भन्ते ! सेवा से जीव को किस भाव की प्राप्ति होती है ?"

भगवान ने कहा—"गौतम ! रोगी, बालक, वृद्ध, गुरु-साधर्मिक, आदि की सेवा करते हुए, उन्हे समाधि पहुँचाते हुए जीव उत्कृष्ट भावना आने पर मोक्षगति भी प्राप्त कर सकता है।"[1]

गौतम के मन में पुनः प्रश्न उठा, और भगवान से पूछा—"भन्ते ! एक साधक आपकी सेवा, उपासना आदि कर रहा है, और एक किसी ग्लान वृद्ध व बालक आदि की परिचर्या मे जुटा है, रात-

---

१. उत्तराध्ययन २६।

दिन उसी में संलग्न है, उसे आपकी स्तुति और प्रार्थना करने की भी फुर्सत नहीं, तो भगवन् ! इन दोनों में आप किसे धन्यवाद देंगे।"

भगवान ने गौतम की जिज्ञासा तृप्त करते हुए फरमाया—'गौतम ! जो रुग्ण, वृद्ध, आदि की परिचर्या में शांत मन से लगा हुआ है वही धन्यवाद का पात्र है।[2] मेरी प्रार्थना और स्तुति से भी बढ़कर उसका वह सेवा कार्य है।'

कहना नहीं होगा, महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज के जीवन में, आगमों का यह आदर्श और भगवान का संदेश पूर्ण रूप से व्याप्त हुआ है।

गुरुणी जी की सेवा

दीक्षा लेने के बाद १३ वर्ष तक निरन्तर आप महासती प्रवर्तनी श्री पार्वती जी की सेवा में रही। यह काल आपके विद्याध्ययन का स्वर्ण काल था। आप समय-समय पर गुरुणी जी महाराज की सेवा एवं विनय कर उन्हें प्रसन्न रखती। आगमों में वर्णित विनय-आचार में आप पूर्ण निपुण थी, हर समय उनके इंगित-आकार की आराधना कर—इंगियागार संपन्ने से विणीए— (जो गुरु के इंगित-मन के भाव, तथा आकार-मुख आदि की चेष्टा को समझे वही विनीत कहलाता है—)इस आगमवाक्य को जीवन में चरितार्थ किया।

वि० सं० १९९० के बाद प्रवर्तनी महासती श्री पार्वती जी का शरीर काफी वृद्ध व अस्वस्थ हो चुका था, विहार करने में भी बड़ी कठिनाई होती थी, इस कारण १९९१ से १९९९ तक के चातुर्मास आपको एक ही स्थान होशियारपुर में बिताने पड़े। इस समय में आपने

---

२. जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने। —आचार्य जिनभद्रगणि

बड़ी तन्मयता एव विवेक के साथ गुरुणी जी की सेवा की। आपकी सेवा में बोली का मिठास और विनम्र भाव के कारण अद्भुत आकर्षण था, और सभी आपको बहुत स्नेह एव आदर करते थे। इधर आपकी विद्वत्ता एव प्रवचन पटुता के कारण लोग यह भी चाहते थे कि बड़ी गुरुणी जी की सेवा मे अन्य सतियां रह जायें और आप जैसी विदुषी धर्म का प्रचार करने ग्रामानुग्राम विहार करे। आपको प्रचार से भी सेवा अधिक प्रिय थी, अत लोगो के आग्रह एवं गुरुणी जी महाराज की आज्ञा के कारण आपने एक-दो चातुर्मास महासती राजीमती जी के साथ बाहर—एक स्यालकोट व एक देहली मे किए फिर आप प्रवर्तनी जी महाराज की सेवा मे पहुंच गई और जुट गई—गुरुणी जी महाराज की सेवा-शुश्रूषा मे।

कुछ कारणो से श्रद्धेया प्रवर्तनी जी महाराज होशियारपुर से जालधर पधार गई और वही स्थानापति हो गई। आपने १९८० मे स्वतन्त्र रूप से विहार किया और लाहौर में प्रथम चातुर्मास का अद्भुत रग वर्षाया। इसके बाद कभी महासती श्री राजीमती जी की सेवा मे, कभी प्रवर्तनी श्री पार्वती जी महाराज की सेवा मे व कभी स्वतन्त्र रूप से अनेक शहरो मे आपने चातुर्मास किए।

वि० स० १ ८७ का चातुर्मास होशियारपुर में करने के बाद आप पटियाला की ओर विहार कर रही थी और महासती राजीमती जी फरीदकोट मे थी। वे फरीदकोट में सहसा अस्वस्थ हो गई। वे अतिसार से पीड़ित थी और उन्हे लगा कि बीमारी अब देह के साथ ही जायेगी तो उन्होने आजीवन अनशन का विचार प्रकट किया। आपको जब ये समाचार ज्ञात हुए तो आपके लिए एक-एक क्षण भी बडा लम्बा हो गया। उग्र विहार कर आप फरीदकोट पहुंची और उनकी सेवा-शुश्रूषा मे जुट गई। कहावत है आधी बीमारी दवा से ठीक होती है और आधी सेवा से। आपकी सुचारु सेवा-शुश्रूषा से महासती जी के मन को बड़ी प्रसन्नता मिली, धीरे-धीरे वे स्वस्थ

होने लगी और बीमारी प्रायः ठीक हो गई, फिर शरीर काफी दुर्बल हो चुका था, अतः चलना-फिरना कठिन-सा ही था।

एक दिन महासती जी ने आपसे कहा—"पन्ना! मेरी अन्तर इच्छा तो जालन्धर में प्रवर्तनी जी महाराज की सेवा में पहुंचने की थी, पर क्या करूं वेदनीय कर्म के आक्रमण से मैं तो लाचार हो गई? मन की मन ही में रह गई।"

गुरुणी जी की प्रबल इच्छा देखकर शिष्या मौन रह जाये, उसके हृदय में उसे पूरी करने की हलचल न उठे तो वह शिष्या ही कैसी? कहने से तो नौकर भी काम कर डालता है, विनीत और सेवाभावी पुत्र एवं शिष्य तो वह है, जो माता-पिता और गुरुजनों की मनोभावना जानकर उसी पर तन-मन निछावर करने मचल उठे।

आपने महासती जी से प्रार्थना की—'गुरुनी जी! आप विचार न करिए! जैसी आपकी इच्छा है, वैसी ही व्यवस्था करूंगी, और हम शीघ्र ही आपको जालन्धर ले चलेंगी!"

महासती जी—"यही तो फिकर है, मेरे शरीर में शक्ति नहीं है, पैरों में चलने की ताकत नहीं है, और मन उछाले मार रहा है, अब कैसे पहुंचूंगी?"

पन्नादेवी जी महाराज—"गुरुनी जी! आपको चिन्ता किस बात की है? हम आपकी शिष्याएं हैं, जिन पर आपने इतना उपकार किया है, क्या हम आपकी मनोभावना पूरी नहीं कर सकेंगी, तो फिर क्या काम की? हम आपको डोली में बिठाकर सुखपूर्वक वहां ले चलेंगी, यह तो हमारा कर्तव्य है, हमें सेवा का अवसर मिलता है, इसे हम अपना सौभाग्य मानती हैं।'

अपनी प्रिय शिष्या के ये भावपूर्ण उद्‌गार सुनकर महासती जी गद्‌गद् हो गई। आपने फरीदकोट के श्री संघ के समक्ष महासती जी की भावना रखी, और उन्हें समझाया कि—"हम सतियां उन्हें

डोली मे बिठाकर सुखसाता पूर्वक ले जायेगी ! आप लोग इसमें किसी प्रकार का ऐतराज न करे।"

महासती जी की भावना और आपकी सुव्यवस्था देखकर श्री सघ ने डोली आदि की व्यवस्था की। आप श्री, श्री चन्द्रादेई जी महाराज, श्री ईश्वरादेई जी महाराज आदि १४-१५ साध्वियो ने डोली मे बिठाकर अपने कधो पर उठाकर गुरुणी जी महाराज को जालन्धर प्रवर्तनी जी महाराज की सेवा मे पहुचाया। शिष्याओं का यह विनय एव सेवाभाव देखकर लोगो के सामने श्रवणकुमार का आदर्श सजीव हो उठा।

जालन्धर मे अब आपको महासती पार्वती जी एव महासती राजीमती जी, दोनो की सेवा का अवसर एक साथ प्राप्त हो रहा था। बीच-बीच मे आप अन्य क्षेत्रो मे चातुर्मास कर पुनः वहा आ जाती और अपनी सुन्दर सेवा विधि से गुरुणीद्वय को शारीरिक एव मानसिक सुखसाता पहुचाती।

प्रवर्तनी जी महाराज का आपके ऊपर अत्यन्त स्नेह एव वात्सल्य था। उनका हृदय हर क्षण—'पन्नो, पन्नो' पुकारता रहता। दो-चार घटा जब आप इधर-उधर हो जाती तो तुरन्त वे पुकारती —"पन्नो ! कहा है ?" और आप तत्क्षण हाथ जोडकर उपस्थित होती—'हा, गुरु महाराज ! फरमाइए" और प्रवर्तनी जी महाराज मुस्करा देती, 'बस तुम्हे देख लिया, तो मन भरा-भरा रहता है।" गुरु-शिष्य का यह कितना मधुर सम्बन्ध है ?

स० १९९६ मे प्रवर्तनी जी महाराज का स्वास्थ्य काफी अस्वस्थ रहा। आपने उन्हे हर प्रकार से समाधि पहुचाई। अपना खाने-पीने का ख्याल भी नही करके आप हर समय उनकी सेवा का ध्यान रखती। चातुर्मास के बाद प्रवर्तनी जी महाराज का स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ। उधर आपके लिए रावलपिडी के श्री सघ ने बहुत

आग्रह भरी प्रार्थना की। प्रवर्तनी जी महाराज ने कहा—"पन्नो! मैं तुम्हें अब इतनी दूर भेजना नहीं चाहती, मेरे शरीर का अब कोई भरोसा नहीं है.........किंतु वहां के संघ का भी बहुत भारी आग्रह है, इसलिए जाओ, रावलपिंडी हो आओ।" और प्रवर्तनी जी महाराज की आज्ञा से आपने जब रावलपिंडी के लिए विहार किया, प्रवर्तनी जी महाराज को वन्दना करके चलने लगी तो उनकी आँखें सजल हो उठीं। स्नेह एवं वात्सल्य के आँसू उमड़ पड़े। प्रवर्तनी जी महाराज के जीवन में यह प्रसंग शायद पहला ही देखा गया, जब उन जमी वीर, वज्र-हृदया साध्वी की आँखों में आँसू उमड़े हों। पर यह तो हृदय में वात्सल्य का वेग था, स्नेह की धारा थी जो कठोर से कठोर हृदय होने पर भी रुक नहीं सकी। शिष्या ने गद्‌गद् हृदय से गुरुणी जी का आशीर्वाद लेकर प्रस्थान किया और गुरुणी जी के सजल नेत्र उसे—"शिवास्तु ते पन्थानः"—तेरी यात्रा मंगलमय हो, का आशीर्वाद प्रदान कर रहे थे। इस भावभीने प्रसंग पर कुछ विचित्र प्रकार का विरह उमड़ रहा था, ऐसा लग रहा था कि कहीं यहा मिलन अन्तिम मिलन न हो, और यह विदाई अब हमेशा की विदाई बनकर न रह जाये—पर यह विचार मन में बिजली की तरह कौंध कर भी मिट गया, शायद अपने लोगों के लिए मनुष्य का नाजुक मन इसी प्रकार के विकल्प करता हो—कौन उसके रहस्य को जाने?

आप जालन्धर से कपूरथला, जंडियाला, अमृतसर, लाहौर होती हुई गुजरानवाला पहुंची। वहां पर आपके प्रभावशाली प्रवचनों से जनता में अद्‌भुत आकर्षण पैदा हुआ। कुछ ही दिन हुए कि वहाँ अकस्मात् प्रवर्तनी जी महाराज के स्वर्गवास के दुःखद समाचार मिले। आपको बहुत गहरा मानसिक आघात लगा। जीवन भर गुरुणी जी की सेवा का लाभ मिला और अन्तिम समय उनसे जुदाई। जैसे भगवान महावीर ने सदा चरणों में निकट रहने वाले गौतम

स्वामी को अपने अन्तिम समय मे दूर भेज दिया था, वैसा ही कुछ आपके साथ घटित हुआ। दीक्षा के बाद लगभग ३८ वर्ष तक गुरुणी जी की सेवा का मधुर-प्रसग प्राप्त करने का सौभाग्य जिन्हे मिला, वे सिर्फ दो महीने पूर्व ही उनसे इतनी दूर हो गई कि अन्तिम समय मे उनके दर्शन भी नही पा सकी। खैर, आखिर तो मनुष्य भी होनहार के हाथ का एक खेल है, जैसा भवितव्य होना है, उसे प्रयत्नो से भी कौन मिटा सकता है ?

गुरु बहन की सेवा

आपकी सेवा भावना सिर्फ गुरुणी जी के लिए ही नही, किंतु हर किसी साधु-साध्वी, छोटे-बडे सब के लिए समान थी। प्रवर्तनी जी महाराज की सेवा के बाद कई वर्षों तक आप राजीमती जी महाराज की सेवा में भी रही। और कभी अन्य सतियों की सेवा का प्रसंग आया तो उसे भी सहर्ष स्वीकार कर सेवा मे जुट जाती। आपका तो जैसे यही एक आदर्श था—

—"*सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः*" यह सेवा धर्म योगियों से भी अगम्य है, इसकी जितनी आराधना की जाय थोडी है।

वि० स० २००१ मे आपने लुधियाना चातुर्मास किया। चातुर्मास के पश्चात् आपको सूचना मिली कि आपकी गुरु बहन श्री हीरादेवी जी महाराज देहली मे अस्वस्थ है। और उनकी सेवा के लिए आप पधार सके तो बहुत ही अच्छा हो। बस आपके तो दिल मे भगवान का यही सदेश गूज रहा था—"समाहि कारएण समाहि लब्भई"—दूसरों को समाधि एव साता देने वाले को समाधि एव साता प्राप्त होती है। आप अपने विहार का कार्यक्रम स्थगित कर गुरु बहन की परिचर्या के लिए देहली की ओर बढ गई।

श्री हीरादेवी जी महाराज चांदनीचौक में विराज रही थी। आप वहा सेवा मे पहुची तो आपको देखकर उनकी आधी बीमारी

तो वैसे ही शांत हो गई। आपके देहली आगमन से उनके मन को बड़ी प्रसन्नता हुई। हीरादेवी जी महाराज की शिष्या विद्यावती जी भी वहां काफी अस्वस्थ थी। आपने बड़े स्नेह एवं विवेक से उनकी सेवा की, अनेक प्रकार की चिकित्साएं करवाई। किंतु आयुष्य की डोरी क्षीण हो चली थी। चैत्र वदि ८ को श्री विद्यावती जी महाराज का स्वर्गवास हो गया।

श्री हीरादेवी जी महाराज का मानसिक संतुलन कई वर्षों से बिगड़ा हुआ था। प्रिय शिष्या के स्वर्गवास से उनका हृदय और भी अशांत हो गया। उस उद्विग्नता एवं बेचैनी के समय में आपने उन्हें हर प्रकार का सहयोग किया। उनकी सेवा, सान्त्वना एवं मन संतोष के द्वारा उनके हृदय को शांत करने का प्रयत्न किया। इस परिस्थिति में श्री हीरादेवी जी महाराज की एक लघु (पौत्र) शिष्या श्री प्रेमवती जी महाराज भी उदास एवं खिन्न रहने लगी। आपने उनको भी संभाला। उन्हें धैर्य बंधाया। उदासी और निराशा से गहराये उनके अंधकारमय हृदय में प्रेम, सान्त्वना एवं वात्सल्य का आलोक भरा, शुष्क हृदय में सरसता सरसाई। आपके मधुर वचनों एवं वात्सल्य का अमृत-स्पर्श पाकर प्रेमवती जी महाराज का हृदय खिल उठा, और वे अपनी संयम साधना के साथ-साथ सेवा के मार्ग पर आपके अनुपदों पर चल पड़ी। आज भी उनके जीवन में सेवा की विशिष्ट भावना देखी जाती है, जो आप ही की देन है।

श्री हीरादेवी जी महाराज कुछ समय तक चांदनीचौक में रही, तब तक आप उनकी सेवा में स्वयं जाती आती रहती, साध्वियों को भी सेवा में बराबर भेजती रहीं। चांदनीचौक में उनकी स्थिति अकस्मात् ज्यादा खराब हो गई। आप सदर में थी। वहां सेवा परिचर्या की विशेष सुविधा भी थी। अतः आपने यही निश्चय किया कि उन्हें भी सदर में ले आना चाहिए। पूज्य गणी उदयचन्द जी महाराज कई वर्षों से सदर में विराजमान थे। उनकी आज्ञा लेकर

श्री हीरादेवी जी महाराज को डोली मे सदर लाया गया और वहा आपने बडी तन्मयता के साथ उनकी सेवा व्यवस्था की। आपकी सेवा, उदारता एव गुरु बहन के प्रति आदर भावना का यह ज्वलन्त उदाहरण देखकर जनता धन्य-धन्य कह उठी। लगभग छह वर्ष तक सदर मे आपने श्री हीरादेवी जी महाराज की सेवा व्यवस्था को सुचारु ढग से निभाया। उनके हृदय को शाति पहुचाई, एवं अपनी शिष्याओ को भी सेवा धर्म की सक्रिय शिक्षा देती रही। स० २००७ के फालगुन मास मे श्री हीरादेवी जी महाराज का स्वर्गवास हो गया।

सहधर्मिणी एव शिष्याओं की सेवा

आपके सेवा कार्यो का क्षेत्र कभी भी एक दायरे मे बधा नही रहा है। वास्तव मे सेवा का क्षेत्र तो बहुत विशाल एव व्यापक है। बिना उदार भावना के सेवा हो ही नही सकती। सेवा के क्षेत्र में तेरा-मेरा का सकल्प करना बडी तुच्छता है। वहा तो सागर-सा विशाल हृदय चाहिए। आपके हृदय मे यह उदारता पद-पद पर परिलक्षित होती है। आपने कभी भी किसी की सेवा के लिए इन्कार तो क्या, लेकिन मन मे भी किसी प्रकार का विकल्प नही किया। जब भी किसी की सेवा का अवसर आया, चाहे वे अन्य किसी की शिष्याए है, या आपकी शिष्याए है, आपने सबको समान भाव से स्नेह एव प्रेम दिया, उनकी सेवा की, और उन्हे सयम आराधना मे पूर्ण सहयोग किया। जैन धर्म के पृष्ठो पर इस उदार सेवा भावना की जो महिमा गाई गई है वह अद्वितीय है। इस प्रकार की सेवा करने वालो को आगमो में महान कहा है, और उत्कृष्ट भावना आने पर तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन करने की शत प्रतिशत शक्यता बताई है। यह सेवा भावना आपके जीवन का सहज धर्म बन गया है।

श्री हीरादेवी जी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् आप देहली सदर से विहार करना चाहती थी। तभी बड़ौत श्री संघ की तफ से एक पत्र आपकी सेवा में आया। वहां चातुर्मास में तीन साध्वियां थीं श्री जयवन्ती जी महाराज, श्री प्रकाशवती जी महाराज एवं श्री वल्लभकुमारी जी महाराज। दो साध्वियां वृद्ध थीं, और वल्लभ कुमारी जी उनकी सेवा करती थी। आकस्मिक बीमारी के कारण वल्लभकुमारी जी म० का स्वर्गवास हो गया. और अब दोनों साध्वियों को सेवा की आवश्यकता है। उन्हें सहयोग एवं सेवा मिले तो उनका संयम जीवन सुखपूर्वक निभ सकता है। वे दोनों आपकी सेवा में आना चाहती थीं, इसलिए आपसे सहयोग की प्रार्थना कर रही थीं।"

उपरोक्त आशय का पत्र जब आपको मिला तो बिना कुछ ननु-नच किए आपने तुरन्त सूचित करवाया—"कि दोनों साध्वियां मन में कुछ भी विचार न करें, सीधी देहली पधार जाएं उनकी सेवा की सब व्यवस्था हो जायेगी।"

आपके उत्तर से साध्वियों का दिल तो प्रसन्न हुआ ही, किंतु जिसने भी आपके हृदय में उमड़ती हुई सेवा की तरंगें देखी ,वही श्रद्धा से गद्गद् होगया। अपने जीवन का अमूल्य समय एवं श्रम का भोग देकर किस प्रकार आप सेवा में अग्रणी रहती है, यह वास्तव में ही एक प्रेरणादायी प्रसंग है।

दोनों वृद्ध साध्वियां देहली सदर पधार गईं। आपने उनकी सुन्दर सेवा व्यवस्था की। इधर आप भी अब काफी वृद्ध एवं विहार करने में असमर्थ हो चुकी थी। और बहुत समय से देहली सदर का संघ आपको स्थिरवास करने के लिए आग्रह कर रहा था। इन सब परिस्थितियों के कारण आखिर आपने भी साध्वियो की सेवा आदि व्यवस्था को ध्यान में रखकर देहली में स्थिरवास का निश्चय कर लिया!

आपने जिस भाव से अपनी गुरुणी जी, गुरु भगिनी एवं सह-धर्मिणी सतियों की सेवा की उसी भाव से अपनी शिष्याओं की भी सेवा आपने की। शिष्याओं के प्रति आपके मन मे सदा प्रेम एव वात्सल्य की धारा बहती रही। कभी भी आपके मन मे यह नही आया कि "मै उनकी गुरुणी हूँ, मुझे तो सेवा लेने का अधिकार है, मैं उनकी सेवा क्यो करू ?" वास्तव में सेवा करवाना न गुरु का आदर्श है, और न शिष्य का। सभी का आदर्श है सेवा करना। सभी अपने गुरु के शिष्य होते है और उनकी सेवा करना ही शिष्य का कर्तव्य होता है। जब गुरु और शिष्य का कर्तव्य अलग-अलग समझा जाने लगता है तभी दुविधा पैदा होती है, हर शिष्य के मन में गुरु बनने की ललक उठती है।

एक कहानी मुझे याद आ रही है। एक बाबाजी थे गद्दीधारी। एक दिन एक किसान का लडका उनके पास आया। देखा गुरुजी के पास अनेक लोग बैठे है। बहुत सा प्रसाद चढा है-लोग पाव दबा रहे हैं, सेवा कर रहे है।

गुरुजी ने किसान के लडके को भर पेट प्रसाद दिया। गुरुजी के ठाट-बाट देखकर वह भी वही जम गया। गुरुजी ने उसे सीधा सादा देखकर उसके नाम ठाम पूछे, और फिर कहा—"हमारा चेला बनजा ?"

उसने पूछा—"चेला क्या होता है ?

गुरुजी—"एक गुरु होते है, और एक चेला होता है, चेला गुरुजी की सेवा करता है, पाव दबाता है, उनका हुक्म मानता है, और गुरुजी उसको आशीर्वाद देते हैं।"

लडके ने कुछ देर सोचा, और फिर कहा—"चेला बनना तो कुछ नहीं जचता, गुरु बनाओ तो मैं तैयार हूँ।'

आज प्रत्येक क्षेत्र मे यही कुछ हो रहा है। हर आदमी हुक्म

चलाना चाहता है, सेवा कराना चाहता है, इसलिए गुरु बनना चाहता है। पर, आज्ञा में चलना, सेवा करना कोई नहीं चाहता। कहा है—

सब ही लेक्चरबाज हैं,
फोलोअर कोई नहीं,
सब ही जनरल हैं यहां,
लेकिन सिपाही कोई नहीं।

किंतु जिसे सेवा करना नहीं आता, उसे सेवा कराने का अधिकार भी नहीं है। सच तो यह है कि जो सेवा करता है उसी को सेवा मिलती है। इसका सजीव उदाहरण हम महासती पन्नादेवी जी के जीवन में देख रहे हैं। आपने जीवन में सेवा का व्रत अपनाया, जब कभी किसी की सेवा का अवसर आया तो आप फौज में जनरल की तरह सबसे आगे के मोर्चे पर तैयार मिली, इसी का यह प्रतिफल है कि आज आपकी सेवा के लिए अनेक शिष्याएं तन-मन से अपना जीवन अर्पित कर रही है।

हां, तो आप अपनी शिष्याओं की सेवा करने में भी कभी पीछे नहीं रही। सं० १९७५ में आपने गुणवन्ती जी को[1] दीक्षा दी थी, और उसके कुछ समय बाद ही वह बीमार रहने लग गई। अनेक उपचार करवाने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ, आखिर में उन्हें टी. बी. हो गई और १९७८ में उनका स्वर्गवास भी हो गया। आपने जिस अग्लान भाव से उनकी सेवा की वह उस समय भी लोगों को आश्चर्यजनक लगती थी।

श्री जयवन्ती जी महाराज जो बड़ौत से आई थी आपने सात वर्ष तक उनकी निरन्तर सेवा की। अपने मधुर व्यवहार एवं स्नेह

---

१. इनका जीवन परिचय शिष्या परिवार में पढ़िए।

सत्कार मे सदा उनको समाधि पहुचायी और हर तरह से उनकी सेवा व्यवस्था को सुन्दर बनायी रखी। स० २०१४ मे नका स्वर्ग-वास हो गया। उनकी शिष्या प्रकाशवती जी महाराज का भी उत्तर-दायित्व आप पर था। वे भी दमा की बीमार थी। उनकी सेवा शुश्रूषा का क्रम भी आपकी देख रेख मे बहुत व्यवस्थित चलता रहा और सेवा होती रही।

आपकी लघु शिष्या श्री हर्षावती जी, जिन पर आपका बहुत अधिक स्नेह था। वे भी काफी समय तक बीमार रही। आपने उनकी परिचर्या मे किसी प्रकार की कुछ कसर नही रखी। जब उनकी शारीरिक वेदना बहुत भयकर बन गई, और उन्हे लगा कि "अब अन्तिम समय आ रहा है, मुझे सथारा करवाइए"—तो आपने उन्हे असीम धैर्य बधाया, सान्त्वना दी, और सथारा करवाकर समाधिपूर्वक अन्तिम समय स० २०१६ मे व्रतो की आलोचना आदि करवाई।

इस प्रकार आपकी सेवा भावना का कितना वर्णन किया जाय ? धर्म प्रचार की दिशा में भी आप अग्रणी रही है और सेवा के क्षेत्र मे भी। वास्तव मे धर्म प्रचार से भी अधिक आपको सेवा का क्षेत्र अधिक रुचिकर लगा और आज ८० वर्ष की आयु तक भी आप इस विषय मे किसी से पीछे नही है।

महास्थविरा महासती श्री पन्नादेवी जी एवं उनका शिष्या परिवार

११ | शिष्या परिवार
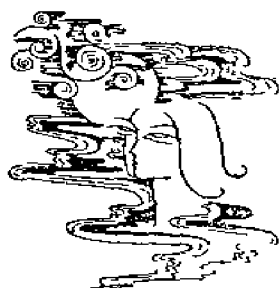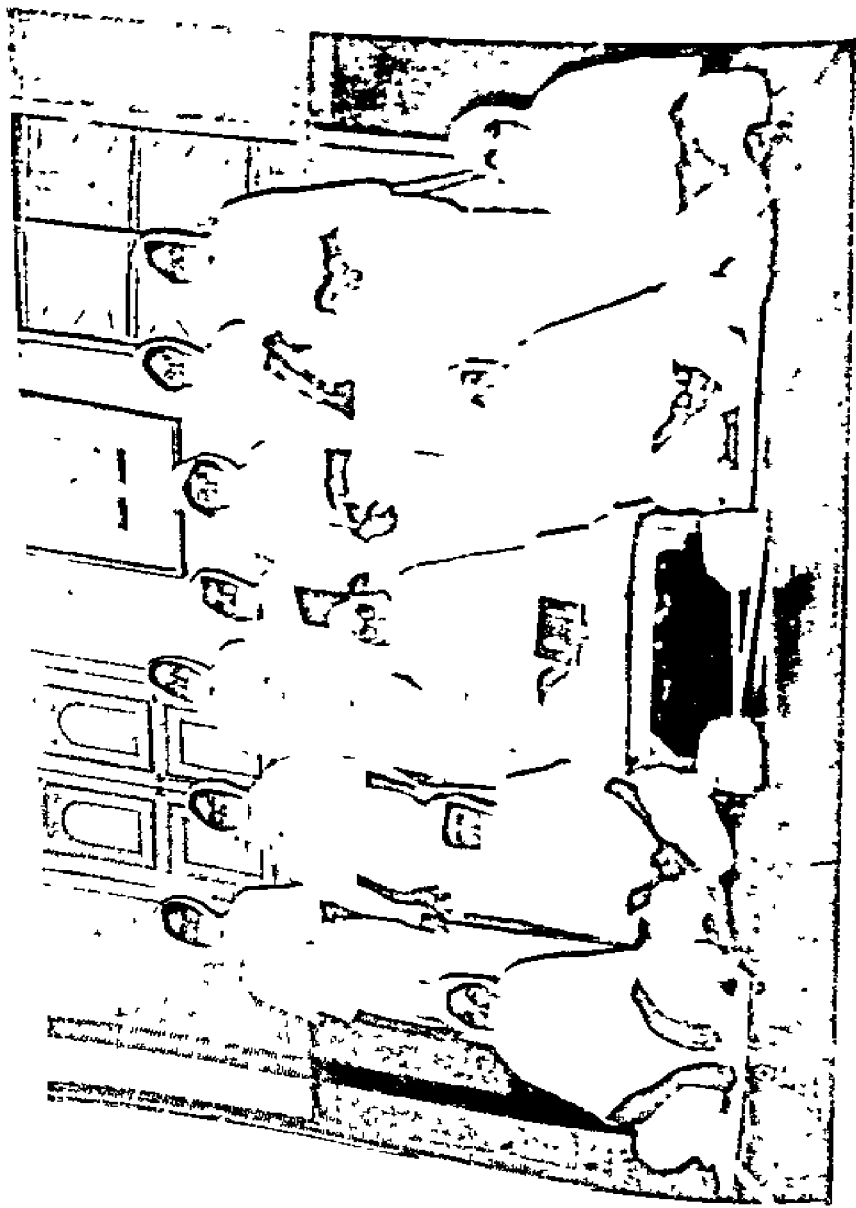
एक वार किसी जिज्ञासु ने एक संत से पूछा—"महाराज ! आपकी उम्र क्या है ?"

संत ने फकीराना लहजे में उत्तर दिया—"तीन सौ पच्चीस वर्ष !"

जिज्ञासु चकित था। संत की मुख-मुद्रा, आकृति तो वहुत ही गठित, स्फूर्तिशाली और तेजस्वी प्रतीत हो रही है, देखने से लगता है ४०-५० वर्ष से अधिक उम्र नहीं है, और कह रहे हैं तीन सौ पच्चीस वर्ष !" आश्चर्यपूर्वक उसने पूछा—"महाराज ! मैं मजाक नहीं करता, कृपया सच-सच वताइए !"

संत—"भाई, मैंने तो विल्कुल सच सच वताया है !"

जिज्ञासु 'महाराज ! फिर तीन सौ पच्चीस वर्ष का क्या मतलब हुआ ? क्या कोई इन्सान इतना दीर्घजीवी हो सकता है ?"

संत—"भाई ! तुम सिर्फ इस देह का जीवन देख रहे हो। और वही पूछना चाहते हो न ?। पर संत की आयु देह से नहीं आंकी

जाती ज्ञान मे आकी जाती है। मेरे गुरु की परम्परा आज से तीन सौ पच्चीस वर्ष से चली आ रही है, उनका ज्ञान, एवं अनुभव शिष्य-प्रशिष्य के रूप में चलता हुआ मुझे प्राप्त हुआ है। शिष्य केवल अपनी आयु से नही जीता, किंतु गुरु और दादागुरु की आयु भी शिष्य मे ज्ञान रूप से सम्मिलित हो जाती है। गृहस्थ अपनी आयु से ही जीता है, किंतु सत गुरु-एव गुरु-परम्परा का प्रतिनिधि होता है, जिसकी पुरानी जितनी परम्परा, उतना ही लम्बा-प्राचीन उसका ज्ञान, और उतनी ही सुदीर्घ उसकी आयु।"

वास्तव मे सत ही की आयु उसकी शिष्य परम्परा होती है। गुरु भौतिक दृष्टि से मर कर भी शिष्य परम्परा के रूप मे अभौतिक जीवन जीता है, शिष्यो मे गुरु की आत्मा अमर रहती । इसीलिए विश्व की सत-परम्परा मे गुरु-शिष्य की परम्परा अनादि-अनन्त काल से चलती रही है।

महासती पन्नादेवी जी मे उनकी गुरुणी प्रवर्तनी श्री पार्वती जी एव राजीमती महाराज की ज्ञानात्मा के दर्शन आज भी किये जा सकते है। आज भी उनमे अपनी गुरु-परम्परा की आत्मा अक्षुण्ण है। और अब आने वाले युग मे उनका ज्ञानात्मा का प्रतिबिम्ब भी उनकी सुयोग्य शिष्याओ मे देखा जा सकेगा। हम यहां महासती जी की शिष्य परम्परा का सक्षिप्त परिचय दे रही है।

१—श्री जयंती जी महाराज

आप पसरुर (पजाब) के लाला काशीराम जी जैन (ओसवाल) की पुत्री एव श्री वस्तीशाह जी स्यालकोट वालो की पुत्र वधू थी। गृहवास मे रहकर आपने अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान किये। आपमे वैराग्य वृत्ति की विशेष झलक थी। दीक्षा की स्वीकृति के लिए परिवार वालो ने अनेक प्रकार के कष्ट दिए। पर आपका दृढ़ मनोबल देखकर आखिर दीक्षा की स्वीकृति दी। स० १९७१ फा०

कृ० ९ को २१ वर्ष की आयु में आपकी दीक्षा हुई। आप ही महासती जी की प्रथम शिष्या हैं। आप वहुत विनम्र व सेवा-भाविनी थीं। सं० २०२५ में इनका स्वर्गवास हुआ।

२—श्री गुणवन्ती जी महाराज

आप लुधियाना के उच्च श्रीमंत खानदान की महिला थी। घर में अनेक प्रकार के सुख साधन व वैभव संपत्ति होते हुए भी आपका मन उनमें नहीं रमता था। संसार के प्रति आपके मन में अत्यंत उदासीनता एवं भोगों की विरक्ति थी। पति के स्वर्गवास के पश्चात् आप का वैराग्य रंग और भी अधिक गहरा हो गया। वहुत आग्रह के बाद आपको दीक्षा की स्वीकृति मिली। दीक्षा प्रसंग पर आपने लोगों को सोने की अंगूठियां भेंट में दी। एक हजार रुपए शास्त्र प्रकाशन के लिए दान दिए। पटियाला से सोने की पालकी मंगाई गई जिसमें बैठकर आप दीक्षा स्थल तक दीन-दुखियों को मुक्त हस्त से दान देती गई। हजारों दीन गरीव आपका दान लेने उमड़ पड़े थे। आपके जेठ श्री मल्लीमल मिट्ठीमलजी ने भी इस दीक्षा प्रसंग पर हजारों रुपयों का दान किया।

वि० सं० १९७५ आश्विन शुक्ला ५ को होशियारपुर में आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा के कुछ दिन वाद ही आप वीमार होगई। शरीर में हलका ज्वर रहने लगा। अनेक उपचार किये गये पर वीमारी और भी वढ़ती गई। आखिर सं० १९७८ के फाल्गुन मास में आपका स्वर्गवास हो गया। आपके लिए महासती जी कहा करती हैं, वे वहुत ही विनीत एवं सेवा भावि-साध्वी थी। कष्टों में वड़ी सहनशील और मिलनसार थी।

३—श्री रायकली जी महाराज

आपका जन्म खानपुर में (पंजाव) श्री वरकतरायजी के घर हुआ। माता का नाम था श्री रमणदेवी। बचपन से ही आपके मन में

साधु संतो के प्रति विशेष आकर्षण था। ११ वर्ष की आयु मे स० १९८८ मे पोष सुदि ८ को आपकी दीक्षा हुई।

आपके स्वभाव मे बहुत ही सरलता एव विनम्रता है। सेवा भावना तो अग-अग मे टपक रही है। कभी किसी साध्वी को अस्वस्थ देखती है तो आप हर प्रकार से उनकी सेवा करने मे जुट जाती है। आपने दीक्षा के पश्चात् महासती जी की सेवा मे आश्रय ग्रहण किया व उनकी शिष्या बनी। आपका स्वभाव सरल-विनम्र व सेवाभावी एव मिलनसार है।

४—श्री हर्षावती जी महाराज

आपका पूर्व नाम हसादेवी था। आपकी आवाज बडी सुरीली और मीठी थी। बचपन मे ही बहुत सुन्दर गायन करती थी। स० १९९० के मिगसर सुदि ५ को १२ वर्ष की छोटी अवस्था मे ही आपने सयम ग्रहण कर लिया। दीक्षा के बाद आपका हर्षावती जी नाम रखा गया।

श्री हर्षावती जी महाराज जब महासती जी के साथ सुर मे सुर मिलाकर गाती तो ऐसा प्रतीत होता था कि पूरे साज के साथ सगीत की ध्वनिया प्रस्फुटित हो रही है। पजाब मे सर्वत्र आप 'भारत कोकिला' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। एक बार आप नवा-शहर मे स्थानक मे भीतर बैठी भजन गा रही थी। कुछ लोग उनका स्वर सुनकर स्थानक मे ऊपर आये और महासती जी से बोले—"स्थानक मे रेडियो कैसे बज रहा है? महासती ने उन सज्जनो को कमरे की ओर ले जाकर बताया—"यह देखो, वह घु घराले बालों वाली साध्वी गा रही है, यही रेडियो है।"

(क) श्री जयंती जी महाराज की शिष्याएं :—

(अ) **श्री प्रज्ञावती जी महाराज** :—जन्म स्थान होशियारपुर, पिता श्री फतहचन्द जी माता जी तोतीदेवी। १९ वर्ष की आयु में

आपने सं० १६७६ में दीक्षा ली। आपकी व्याख्यान शैली वड़ी मधुर व प्रभावोत्पादक है।

२. श्री विजेन्द्रकुमारी जी महाराज : रावलपिंडी के श्री राधूशाह ओसवाल की पुत्री, माता का नाम वसन्तीदेवी। श्री चुन्नीलाल जी के साथ पाणिग्रहण हुआ। २८ वर्ष की आयु में सं० १६६६ को दीक्षा हुई।

(ख) श्री प्रज्ञावती जी महाराज की शिष्याएं :—

(अ) **श्री मृगावती जी महाराज** :—आप लाला रत्नचन्द जी ओसवाल की धर्मपत्नी थी। २६ वर्ष की अवस्था में सं० १६६२ में दीक्षा ग्रहण की।

(ब) **प्रमोदकुमारी जी महाराज** : —आप होशियारपुर के लाला किशोरीलाल जी जैन की सुपुत्री हैं। माता जी का नाम मोहनमाला है। १५ वर्ष की आयु में सं० २०१४ में दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा के अवसर पर पं० रत्न श्री शुक्लचन्द जी महाराज एवं श्री सुशीलमुनि जी महाराज भी पधारे थे। पं० रत्न त्रिलोकचन्दजी महाराज ने आप पर संयम साधना का उपदेश एवं शास्त्रों का अभ्यास कराकर अविस्मरणीय उपकार किया है। आपको प्रारम्भ से ही अध्ययन की विशेष रुचि है। आपने उच्चस्तरीय शिक्षण प्राप्त किया है। हिन्दी व अंग्रेजी में आपकी अच्छी गति है।

(स) **कविताकुमारी जी महाराज** :—आप श्री प्रमोदकुमारी जी महाराज की छोटी वहन हैं। १८ वर्ष की आयु में सं २०२२ में आपकी दीक्षा हुई। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर आप आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषि जी महाराज की सेवा में पहुंची। आचार्यसम्राट ने आपके ज्ञान वैराग्य

की परीक्षा ली और सब प्रकार से योग्य समझकर दीक्षा की अनुमति दी। आपके दीक्षा महोत्सव पर स्वय आचार्य सम्राट् आनन्दऋषि जी महाराज, योगनिष्ठ स्वामी फूलचन्द जी महाराज 'श्रमण' तथा श्री पुप्फभिक्खू फूलचन्द जी महाराज आदि उपस्थित थे। वयोवृद्ध श्री भागमल जी महाराज भी शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी कुछ समय के लिए पडाल मे पधारे थे। आपका दीक्षा महोत्सव बडी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। आप भी अध्ययन एव कविता की दिशा मे अच्छी प्रगति कर रही है।

(ग) श्री रामकली जी महाराज की शिष्याएं :—

(अ) श्री सरलादेवी जी महाराज :—आपका जन्म आगरा निवासी श्री पुष्पचन्द जी जैन, माता कमलादेवी जी के घर हुआ। बचपन मे ही माता-पिता का देहावसान हो जाने से आपके चाचाजी ने ही देखभाल की। श्री रतनचन्द जैन ओसवाल (कपूरथला) आपके चाचाजी के परम मित्र थे। उन्होने बालिका मे उच्च सस्कार देखकर चाचाजी को प्रेरित किया व १९९२ मे महासती जी के पास ज्ञानाभ्यास के लिए रख दिया। स० २००० को वैसाख सुदि ५ बृहस्पतवार को लुधियाना मे बडे समारोह के साथ आपकी दीक्षा हुई। आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा दीक्षा मन्त्र पढाया गया। लाला पन्नालाल जी जैन (ब्रह्मपुरी वाले) आपके धर्म पिता बने। आपकी बुद्धि बडी प्रखर थी, आपने 'जैनसिद्धान्ताचार्य' की परीक्षा दी। प्रवचन शैली बड़ी सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण है। आप निरन्तर महासती जी की सेवा कर रही है। आपके व्यक्तित्व मे आकर्षण और प्रभाव है। समाज व देश को आपसे बहुत-बहुत आशाएं है।

(ब) श्री सुशीलादेवी जी महाराज :—आपका जन्म श्री बाबूराम जी

जैन (छपरोली) के घर पर हुआ। माता का नाम जनमति जी था। लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण श्री चन्दूलाल जी जैन के साथ हो गया। पति के स्वर्गवास के पश्चात् आपने दीक्षा की अनुमति मांगी, पर परिवार वालों ने स्वीकृति नहीं दी। आप १५ वर्ष तक घर में रहकर ही त्याग वैराग्य के पथ पर चलती रही। आखिर दृढ़ वैराग्य देखकर स्वीकृति दी,आपकी दीक्षा के अवसर पर पं० रत्न त्रिलोकचन्द जी महाराज ठाणे २, श्री प्रेमचन्द जी महाराज आगरा वाले) ठाणे ५ भी विद्यमान थे। ३२ वर्ष की आयु में सं०२०१८ में छपरोली में ही आपकी दीक्षा हुई। आप बड़ी सहिष्णु, मधुर भाषिणी, विनम्र व सेवापरायण है।

(घ) श्री हर्षावती जी महाराज की शिष्याएं :—

(अ) **श्री अशोककुमारी जी महाराज :—**राजाखेड़ी में आपका जन्म हुआ। श्री धनपतराय जी आपके पिता व श्री मुल्लनदेवी आपकी माता जी। श्री विश्वम्भरदयाल जी के साथ आप का पाणिग्रहण संस्कार हुआ। मन में विरक्ति के भाव जग उठे। पूर्व संस्कारों की प्रबल प्रेरणा से २४ वर्ष की आयु में सं० २००७ में आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। उस समय आचार्य गणेशीलाल जी महाराज विद्यमान थे।

श्री अशोककुमारी जी महाराज की शिष्या :—

(ब) **श्री स्नेहलता जी महाराज :—**श्री हर्षावती जी महाराज के स्वर्गवास के छह महीने पश्चात् आपकी दीक्षा हुई। आप देहली के लाला छुट्टनलाल जी की सुपुत्री हैं। माता का नाम है सुमनरानी। वि० सं० २०१६ माघ शुक्ला त्रयोदशी को आपकी दीक्षा देहली में हुई। दीक्षा के अवसर पं० रत्न स्वामी शुक्लचन्द्र जी महाराज भी सदर में विराजमान थे।

महासती लज्जावती जी आदि अनेक सतिया भी वही विराजमान थी। आप १६ वर्ष की उम्र मे दीक्षित हुई, पर, आपकी शाति, गभीरता और सेवा भावना किसी बुजुर्ग साध्वी से कम नही है। आपकी आगमो के अध्ययन मे विशेष रुचि है।

(च) श्री सरलादेवी जी महाराज की शिष्याए :—

(अ) **श्री कुसुमलता जी महाराज :—**आप बामनौली (उ० प्र०) के श्री विशम्भरदयाल जी की पुत्री है। पूर्व नाम था शैला। आपके दीक्षा के सकल्प वास्तव मे ही शैल की भाति अडिग थे। १ वर्ष तक ज्ञानाभ्यास करने के पश्चात् १५ वर्ष की आयु मे स० २०११ मे आपकी भागवती दीक्षा हुई। दीक्षा अवसर पर श्री मदनलाल जी महाराज, महास्थविर श्री भाग्यमल जी महाराज, कवि श्री सुरेन्द्र मुनि जी महाराज आदि सत भी उपस्थित थे। आपमें ज्ञान प्राप्त करने की बडी तीव्र उत्कठा है। "सिद्धान्त प्रभाकर" की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई है।

श्री कुसुमलता जी महाराज की शिष्या :—

(ब) **श्री साधनाकुमारी जी महाराज :—**श्री साधना जी का जन्म कमून 'हरियाना' मे साधना के लिए ही हुआ—ऐसा लगता है। उनके पिता श्री बलदेवसिंह जी बहुत ही धर्मप्रेमी व्यक्ति है। माता वीरादेवी भी बड़े उच्च सस्कारो वाली मा है। आप ७ वर्ष की आयु मे ही वैराग्य रंग मे रग गई। ९ वर्ष तक महासती जी की सेवा मे ज्ञानाभ्यास करती रही। 'प्रवेशिका' 'विद्याविनोदनी' एव पाथर्डी बोर्ड की कई परीक्षाए आपने उत्तीर्ण की। अध्ययन की बडी तीव्र उत्कठा है। ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल जिज्ञासा के कारण सतत अध्ययन मे सलग्न रही। स० २०२० फालगुन शुक्ला

३ को आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उस शुभ पर्व पर महास्थविर श्री भागमल जी महाराज, पं० रत्न प्रेमचन्द जी महाराज (आगरेवाले) विश्वधर्म सम्मेलन के प्रेरक मुनि सुशीलकुमार जी म० आदि संत एवम् महासती श्री सज्जनकुंवर जी महाराज एवं विदुषी श्रीललितकुंवर जी महाराज आठ ठाणे भी उपस्थित थे। दीक्षा के पश्चात् आप हिंदी एवं अंग्रेजी के अध्ययन में जुट गईं। हिंदी की विशारद परीक्षा उत्तीर्ण कर अब 'साहित्य रत्न' के द्वितीय खंड की तैयारी कर रही हैं। आपसे समाज को अनेक आशाएं हैं।

इस प्रकार महासती पन्नादेवी जी महाराज का यह शिष्या परिवार चारित्र, ज्ञान, तपस्या सेवा, साधना आदि की दिशा में निरन्तर प्रगति करता हुआ जैन शासन की गौरव-गरिमा में चार चांद लगा रहा है। महासती जी के व्यक्तित्व के विरल गुण किसी एक साध्वी में पूर्ण रूप से ही विकसित न हुए हों, पर उनकी शिष्य मंडली को जब इकाई के रूप में देखते हैं, और उनके विविध गुणों व रुचियों का विश्लेषण करते हैं तो लगता है—महासती जी का संपूर्ण व्यक्तित्व इस शिष्य मंडलो में अन्तर्हित हुआ है। उनकी प्रज्ञा एवं चारित्र-आत्मा शिष्य-मंडली के रूप में गंगा के प्रवाह की भांति युग-युग तक प्रवाहित होती हुई अपनी पतित पावना धारा से संसार का कल्मष धोती रहेगी!
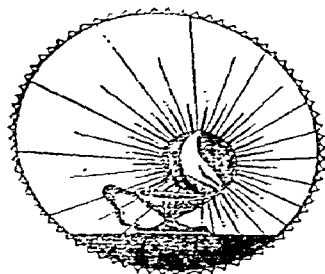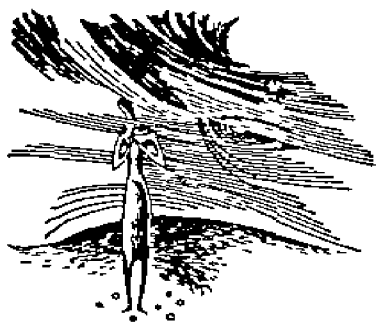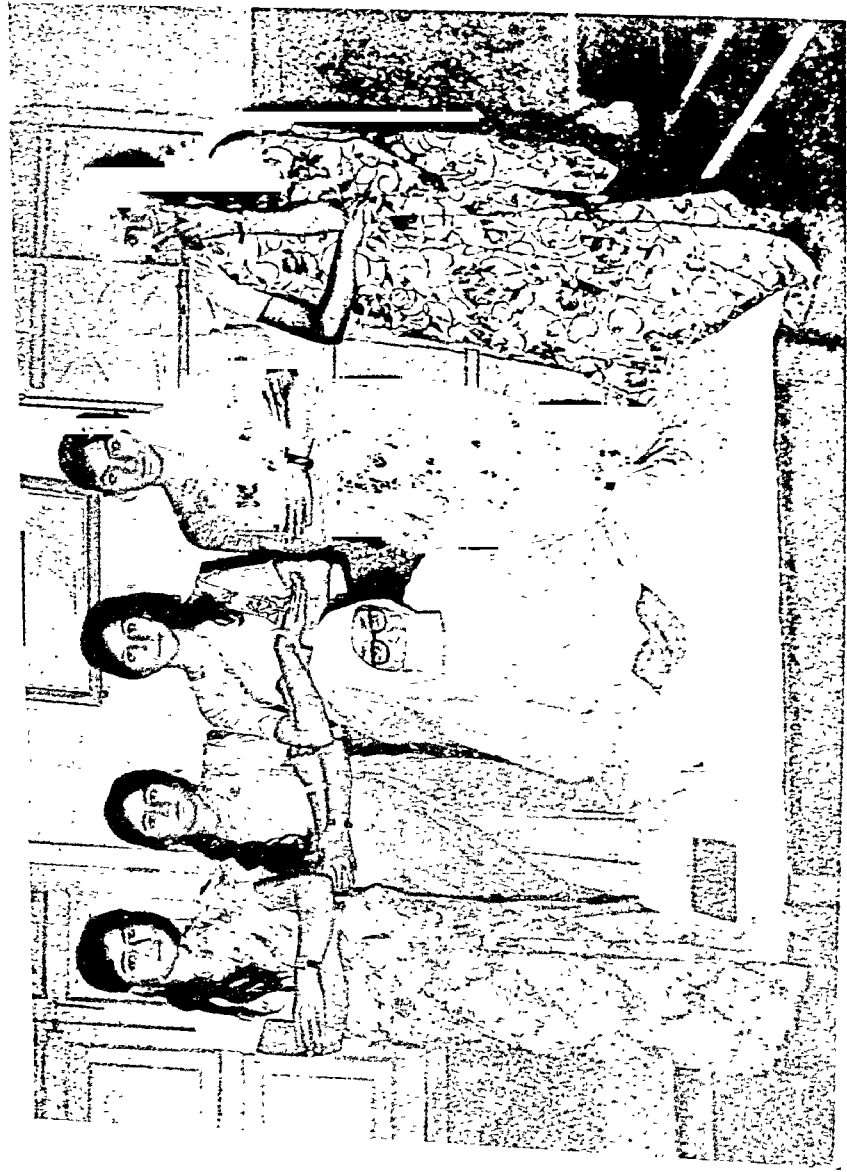
महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज के निर्देशन में
साधना पथ पर बढ़ने की इच्छुक अध्ययनशील बालिकाएं

महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज के अब तक हुए

चातुर्मास की सूची

१९५८ (वि० सं०)	रोहतक
१९५९	कांधला
१९६०	अम्बाला
१९६१	होश्यारपुर
१९६२	गुजरानवाला
१९६३	वंगा
१९६४	मालेरकोटला
१९६५	स्यालकोट
१९६६	रावलपिण्डी
१९६७	होशियारपुर
१९६८	लुधियाना
१९६९	पटियाला
१९७०	जालन्धर
१९७१	स्यालकोट
१९७२-७६	होशियारपुर
१९७७	देहली, सदर
१९७८-७९	होशियारपुर
१९८०	लाहोर
१९८१	जालन्धर

१६८२ (वि० स०)	देहली (चादनीचौक)
१६८३	रोहतक
१६८४	लाहौर
१६८५	रावलपिण्डी
१६८६	अम्बाला
१६८७	होशियारपुर
१६८८	बगा
१६८९	अम्बाला
१६६०	देहली
१६६१	जालन्धर
१६६२	कपूरथला
१६६३	जालन्धर
१६६४	जम्मू (काश्मीर)
१६६५	कपूरथला
१६६६	जालन्धर (प्रवर्तिनी श्री जी का स्वर्गवास चातुर्मास बाद मे
१६६७	रावलपिडी
१६६८	स्यालकोट
१६६६	कपूरथला
२०००	बगा
२००१	लुधियाना
२००२-७ तक	देहली सदर, श्री हीरादेवी जी की मेवा मे
२००७	देहली मदर मे स्थिरवास

खण्ड : ३

महासती श्री पन्नादेवीजी महाराज के प्रवचनों के आधार पर उनके विचार-सूत्रों का विश्लेषण प्रधान संकलन

●

१ | आत्म-स्वरूप की अनुभूति

वन्धुओ !

हमारे इस समग्र जीवन-व्यापार का, संसार-चक्र का मूल केन्द्र क्या है ? सृष्टि में जो प्रतिक्षण हलचलें हो रही हैं, नये-नये परिवर्तन और निर्माण हो रहे हैं, उसका आधार क्या है ? चेतना ! आत्मा !

मनुष्य ही नहीं, किन्तु प्रत्येक देहधारी प्राणी में एक अखंड आत्मसत्ता का निवास है। छोटी से छोटी चींटी और कुंथुओं में जो आत्मा है, वही आत्मा पर्वताकार गजराज में भी निवास करती है।[1] एक कीड़े के भीतर जिस चेतनापुंज ज्ञानात्मक शक्ति की सत्ता है, वही चेतनापुंज अनन्त ज्ञान-सत्ता सिद्धों में भी विद्यमान है। आपको आश्चर्य होगा, कि कहाँ एक गन्दी नाली के कीड़े की आत्मा, और कहाँ सिद्ध भगवान की आत्मा, उनमें क्या समानता हो सकती है ? रजकण और मेरु में कभी बराबरी हो सकती है ? क्या एक बूंद का विशाल सागर से मुकाबला हो सकता ? एक छोटी सी चिनगारी

---

१. हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे—भगवती सूत्र

की तुलना महाज्वालाओ से कैसे की जा सकती है ? किन्तु सत्य यह है कि रजकण और सुमेरु, बिन्दु और सिन्धु, चिनगारी और महाज्वालाओ मे मूलत कोई भेद नही है, जैसे तत्त्वदृष्टि मे दोनो एक ही पिण्ड के रूप है, एक समान पुद्गलो के सघात है, उसी प्रकार क्षुद्र और विराट् आत्मा मे स्वरूप दृष्टि मे कोई भेद नही है ।

आत्मा का स्वरूप

भगवान महावीर स्वामी ने शास्त्रो मे कहा है—'एगे आया'—आत्मा एक है । प्रश्न उठता है, आत्मा एक कैसे ? ससार मे अनन्त-अनन्त प्राणी है, और सब मे अलग-अलग आत्मा है । यह तो नही हो सकता कि जैसे आकाश मे उदय हुआ चन्द्रमा नीचे रखे हजारो-हजार घडो मे अलग-अलग दिखाई देकर भी एक ही है, क्या वैसे ही आत्मा का प्रतिबिम्ब अलग-अलग पडता है, और मूलत वह चन्द्रमा की तरह एक ही है ?

जैन दर्शन इस बात को नही मानता । यह हमारे पडौसी दर्शनो की मान्यता है कि ईश्वर या आत्मा, प्रत्येक प्राणी मे— दृश्यते जलचन्द्रवत्' चन्द्रमा की तरह अपना प्रतिबिम्ब फेंकता है । किन्तु जैन दर्शन ऐसा नही मानता । यदि यह बात मान ली जाय तो जिसप्रकार चन्द्रमा पर यदि कोई बदली आती है तो जैसे समस्त जलाशयो मे चन्द्रमा मलिन दिखाई देता है, वैसे ही जब एक आत्मा को दुख होता है, तो सब आत्माओ मे दुःख की अनुभूति जगनी चाहिए । आपके पडौसी की आत्मा दुखी होती है, तब आपकी आत्मा मे उस दुःख की प्रतिछाया पडनी चाहिए । पर ऐसा नही होता । एक ही समय मे एक आदमी रो रहा है, तो एक हस रहा है । इसलिए यही माना जा सकता है कि प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व अलग-अलग है, स्वतन्त्र है, इस लिए उनके सुख-दुख भी स्वतन्त्र है । तो फिर यह बात कैसे कही गई कि 'एगे आया'—आत्मा एक है ।

तत्त्वरसिक सज्जनो ! यही बात तो समझने की है । वास्तव मे प्रभु

महावीर का यह वचन संग्रह नय की दृष्टि से कहा गया है। नय का स्वरूप भी कभी समय पर आपको बताऊँगी, आज तो तो आत्मा का स्वरूप ही बता रही हूँ।

संसार में कितनी आत्मा हैं ? क्या कभी कोई उनकी गणना कर सकता है ? नहीं। स्वयं सर्वज्ञ भगवान भी नहीं गिन सकते। पानी की एक बूँद में असख्य और अनन्त जीवों का पिंड भरा है। सुई की नोंक टिके इतने से निगोद के भाग में अनन्त-अनन्त आत्माएँ पिंडीभूत हुई बैठी है। फिर उनकी गिनती तो कोई नहीं कर सकता, इसलिए उन्हें अनन्त कहा है।

एक प्रश्न यह है कि संसार की, और मुक्ति में गई हुई उन समस्त आत्माओं का स्वरूप क्या है ? तो कहा गया—**'जीवो उवओग लक्खणो'**—जीव उपयोग लक्षण हैं। उपयोग अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन यही बस जीव का स्वरूप है। यहो आत्मा का लक्षण है।

जैन दर्शन दो तत्वों को मानता है, जड़ और चेतन। इसलिए वह द्वैत-वादी दर्शन कहलाता है। कुछ लोग सिर्फ एक आत्मा, या जीव, तथा ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, उनके विचार में संसार का यह समस्त खेल एक माया है। सपना है, इसलिए भ्रम है, मिथ्या है। उनका कहना है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब झूठा झमेला है। पर जैन दर्शन कहता है, जो आँखों से दीखता है, उसे झूठा-झमेला कैसे कहा जा सकता है ? तुम किसी वस्तु का रस चख रहे हो, और कहते जा रहे हो कि नहीं, यह तो झूठ है, भ्रम है। यह तो अपने आपको धोखा दिया जा रहा है, इसलिए वह अद्वैतवाद का विरोधी है।

जड़ और चेतन—सृष्टि के ये दो मूल तत्व हैं। जो जड़ है, वह चेतनाहीन है, उसमें उपयोग नहीं है, ज्ञान नहीं है, अनुभव करने की शक्ति नहीं है। एक पत्थर पर यदि चोट पड़ती है तो उसमें कुछ भी स्पन्दन या हलन-चलन नहीं होता, किन्तु यदि एक चींटी को आप छूने का भी प्रयत्न करेंगे तो वह दौड़ने लग जाती है। वह घबराकर इधर-उधर भागने लगती है। क्यों ?

चूंकि पत्थर मे चेतना नही है, और चींटी मे चेतना है। यह चेतना, यह उपयोग, बस यही जीव अजीव की विभाजक रेखा है। जिसमे ज्ञान है, उपयोग है वह जीव, और जिसमे ज्ञान करने की क्षमता नही है, वह अजीव है, जड है।

आत्मा : ज्ञानवान एवं ज्ञानमय

उपर्युक्त बात से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। यहाँ एक बारीक बात भी मैं बता दूँ। कुछ लोग कहते है आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान स्वरूप है। और कुछ कहते हैं आत्मा ज्ञानवान है। मोटे तौर पर दोनो कथन एक समान ही प्रतीत होते हैं, पर इनमे भेद है।

ज्ञानवान का अर्थ है, ज्ञान कोई अलग चीज है और आत्मा कोई अलग चीज है। जैसे आप कहते है—ये बडे धनवान हैं, धन चला गया तो धनवान भी नही रहा, वह गरीब हो गया। तो क्या आत्मा के सम्बन्ध मे भी यही बात है ? नही। आत्मा का ज्ञान ऐसा नही है। वह तो आत्मा का स्वरूप है, जो स्वरूप होता है वह कभी वस्तु से अलग नही होता। पानी का स्वभाव है शीतलता। उसे अग्नि के सयोग मे चाहे जितना गर्म कर दिया जाये, किन्तु अग्नि से दूर हटाकर रखा तो धीरे-धीरे ठडा हो जायेगा। शीतलता पानी से कभी दूर हट नही सकती। वैसे ही ज्ञान आत्मा से कभी अलग नही हो सकता। इसलिए वह ज्ञानस्वरूप या ज्ञानमय है। एक आचार्य ने कहा है—**"आत्मा ज्ञानं, स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्"** आत्मा स्वय ही ज्ञान है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नही करती है।

मैं यह नही कहना चाहती कि आत्मा को ज्ञानवान् कहना गलत है। हमारा जैन धर्म तो समन्वयवादी धर्म है, उसमे हरबात अलग-अलग नय की दृष्टि से समझी जाती है। इसलिए किसी भी बात को लेकर वहा आग्रह नही किया जाता। व्यवहारनय से यह भी ठीक है कि आत्मा ज्ञानी है, ज्ञानवान् है। और निश्चयनय की दृष्टि से यह भी ठीक है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है। ससार की समस्त आत्माओ का मूल स्वरूप यही है; इसलिए

शास्त्र में—'**एगे आया**'—कहा है। इसे ही वैदिकविद्वानों ने—"**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**"—एक ही सत्य को विद्वान अलग-अलग नामों से पुकारते हैं) कहा है।

स्वरूप की अनुभूति

आपके पास एक अमूल्य चिंतामणि रत्न है—उससे मन इच्छित वस्तुएं प्राप्त की जा सकती है। पर कल्पना कीजिए, यदि वह रत्न आपके गांठ में बँधा हो, और आप भूखे बैठे मक्खियाँ उड़ा रहे हों, सिर पर हाथ धरे बैठे हों कि—"क्या करें? कहाँ जाएँ?' तो क्या यह स्थिति कोई अच्छी है? चिंतामणि रत्न पास में है, तो मनचाही वस्तु क्षण भर में आपके समक्ष आ सकती है, फिर दरिद्रता कैसी?

मैं देखती हूँ आज अधिकतर लोगों की यही दशा हो रही है। एक कवि के शब्दों में—

पास ही रे हीरे की खान।
खोजता कहाँ और नादान॥
स्पर्शमणि तू ही अमल अपार।
रूप का फैला पारावार॥
व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार।
नामनी की लज्जा शृङ्गार॥
खोलते खिलते तेरे प्राण।
खोजता कहाँ उसे नादान॥

—महाकवि निराला

इसी बात को भारतीय संत परम्परा के फक्कड़ साधु कबीरदास जी ने यों कहा है—

पानी में मीन पियासी।
मोहे सुन-सुन आवे हाँसी।
कस्तूरी मृग नाभि बसति है, वन-वन फिरत उदासी॥

मृग की नाभि मे कस्तूरी पडी है और वह घास-पात को सूँघता हुआ मारे-मारे भटक रहा है कस्तूरी की गध पाने। यही स्थिति आज आपकी और हमारी आत्मा की है। आत्मा जिस प्रकार अनत ज्ञान एव दर्शन स्वरूप है उसी प्रकार अनन्त सुख-स्वरूप भी है। सुख की अक्षयनिधि भी आत्मा की गहराई मे छिपी है। मनुष्य कस्तूरिया मृग की भाँति सुख-सुख पुकारता हुआ भटक रहा है। जीवन जगत की ठोकरें खा रहा है और सुख का अक्षय निधान उसी की आत्मा मे छिपा है। यह कैसा विचित्र मजाक है, कि बगल मे बेटा और गाँव मे ढूँढती फिरे बेटा-बेटा, आपकी आत्मा मे ही सुख का अनन्त सागर लहरा रहा है पर आप सुख-सुख करते हुए विकल हो रहे है। वास्तव मे यही आत्म-स्वरूप की विस्मृति है।

एक पुरानी कहानी है। एक सिहनी ने जगल मे एक बच्चे को जन्म दिया और वह मर गई। तभी एक भेड ने उसे देखा, उसका माँ का दिल पिघल गया, उसने बच्चे को दूध पिलाया अपने बच्चो के साथ उसे पाला पोसा। अब वह सिह का बच्चा होकर भी भेडो के साथ खेलता कूदता और घास चरता। वह अपना सिह स्वरूप भूल गया और अपने को भेड ही समझने लग गया।

एकदिन भेडो के झुँड पर सिह ने धावा बोला। सिह की हुँकार से भेडे मिमियाती हुई भागने लगी। उस बच्चे ने भी सिह को आते देखा और अपने साथियो को भागते देखा तो वह भी उनके साथ-साथ दौड पडा। दौडते-दौडते वह एक तालाब पर पानी पीने को रुका। तालाब मे उसने अपनी प्रतिछवि देखी तो उसे ज्ञान हुआ, मैं तो भेड नही हूँ। उस सिंह जैसा ही सिह हूँ। फिर भेडो के साथ दौड क्यो रहा हूँ ? उसे अपने स्वरूप की स्मृति हुई, एक हुँकार लगाई और उसकी हुंकार से भी वन प्रान्तर गूँज उठा, जैसे उस सिह की दहाड मे गूँजा था। बस, अब क्या था, सिह का बच्चा भेडो के झुण्ड से निकल कर सिहो के साथ खेलने लग गया।

- - - -

ऐसी ही आत्म-विस्मृति आज हम लोगो में हो रही है। हम अपने स्वरूप को भूल बैठे हैं। अपने को दीन--हीन-दरिद्र समझकर दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। मन्दिर-मस्जिद के चक्कर लगा रहे हैं, जैसा कि एक उर्दू के शायर ने कहा है—

खुल गया जब यह कि दिल भी,
जल्वागाहे-यार है।
कौन चक्कर खाये फिर,
देरों-हरम की राह का!

जब तक हमें अपने भीतर का पता नहीं चला, हम भगवान को बाहर ढूँढ़ते रहे। पर, जब यह पता चल गया कि वह भगवान हमारे दिल में ही है, अर्थात् मेरा स्वरूप ही भगवत्स्वरूप है फिर मन्दिर-मस्जिद का चक्कर कौन काटे?

स्वरूप की उपलब्धि

लोग पूछते हैं, भगवान को पाने के लिए या अपने स्वरूप को पाने के लिए क्या तपस्या करें, क्या साधना करें?

मैं कहती हूँ—भगवान का पाना क्या है? तुम्हीं तो भगवान हो। उपनिषद् में कहा है—तत्त्वमसि...... वह, जिसे तू पाना चाहता है, तू ही है। इसलिए यही ध्वनि लगा—'सोऽहं' चिदानन्द स्वरूपोऽहं—मैं वही हूँ, मेरा चिदानन्दमय स्वरूप है। उर्दू के कवियों ने इस बात को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है—

हम हैं खुद खुदा, न वोह हमसे जुदा।
जो जाने जुदा, सो न पावे खुदा।

एक सूफी कवि कहता है—

शक्ले-इन्सां में खुदा था, मुझे मालूम न था।
चाँद बादल में छिपा था, मुझे मालूम न था।

उर्दू का कवि इकबाल तो और भी बल के साथ कहता है—

मूँद के आँखें देखा तो है सारी खुदाई सीने में।

लेकिन जब तक यह पता नहीं चलता तब तक—

ढूँढ़ता फिरता हूँ ऐ 'इकबाल' अपने-आप को।
आप ही गोया मुसाफिर आप ही मंजिल हूँ मैं।

तो इस स्वरूप को समझना जरूरी है, और समय पर इसे जगाना जरूरी है। लोग कहते है—'हमने आपको पा लिया।' मै समझती हूँ अपने आपको पाना, यह बात ठीक नहीं, अपना आपा कहीं खो गया था कि जो उसे पाना है। वास्तव मे अपना स्वरूप जो भीतर ही छिपा है, केवल उसे जगाना है। उसकी अनुभूति करना है।

मुझे एक कहानी याद आती है। आपके पंजाब मे एक संत हो गये हैं—फरीदा! एक बार उसके पास एक भक्त आया और बोला—'उस्ताद! बताओ, खुदा को कैसे पाए?'

फरीदा अपने खेत मे धान रोप रहा था, धान के पौधे एक तरफ से निकालकर दूसरी तर्फ उन्हे लगा रहा था। वह भक्त की ओर देख कर चुपचाप अपने काम मे जुटा रहा। एक दो घंटा बीत गई, भगतजी खडे-खडे परेशान होगए, बोले—"फरीदा! मेरी बात तुमने सुनी भी नहीं! बताओ रब को पाने के लिए क्या करना चाहिए।"

फरीदा हंस कर बोला—'बाबा' बता तो दिया, तुम समझे ही नहीं।—

फरीदा! रब दा की पाउणा?
इत्थो पटके, उत्थो लावणा!

भगवान को पाना क्या है, बस जो मन इधर संसार मे भटक रहा है, उसे उधर आत्मा की ओर लगा देना है, बस यही तो रब को पाने का मार्ग है।

तो बंधुओ, मैं आप से कह रही थी, कि आप पहले अपने स्वरूप का ज्ञान कीजिए, कि आपका स्वरूप क्या है? आपकी आत्मा चिदानन्दमय है, सुखो की अक्षय निधि है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-स्वरूप है। यह अनुभूति जब जग

जायेगी तो आपको अपने स्वरूप की अवगति हो जायेगी। आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जायेगा—इसे ही व्यवहार भाषा में स्वरूपोपलब्धि कहते हैं। जब स्वरूप का ज्ञान हो गया, आपने समझ लिया कि—जन में ही जिनका स्वरूप अन्तर्हित है। जीव ही शिव-स्वरूप है, तो आपके मन में कभी दीनता, निराशा और सांसारिक-विषयवासना का भाव जगेगा नहीं, यदि जगेगा तो भी वह शीघ्र ही शांत हो जायेगा, आपको पथ भ्रष्ट नहीं कर सकेगा।

जिसे अपना ज्ञान है।
उसे सदा अपना भान है।
उसे सदा प्रभु का ध्यान है।

२ | आदर्श गृहस्थ जीवन

शास्त्रो मे मनुष्य जन्म की बडी महिमा गाई गई है। इसको ससार की समस्त वस्तुओ मे दुर्लभ, अति दुर्लभ बताया है, "**माणुस्स खु सुदुल्लहं**"[1]— मनुष्य जन्म बहुत दुर्लभ है। सत तुलसीदास जी ने इसे सुर-दुर्लभ बताते हुए कहा है—

बड़े भाग मानुष तन पावा
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थ हि गावा।

जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के सभी ग्रन्थ देख लीजिए, मनुष्य जीवन की महत्ता और महिमा से भरे हुए है। मनुष्य की श्रेष्ठता के बखान जगह-जगह पर आपको मिलेंगे। महाभारत मे महर्षि व्यास जी कहते है—

"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्"

मनुष्य जन्म से बढकर और कुछ भी श्रेष्ठ नही है। इससे भी आगे बढकर वैदिक ऋषियो ने कहा—**पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा**[2]—पुरुष प्रजापति-

---

१ उत्तराध्ययन २ शतपथ ब्राह्मण ७।५।२।१७

भगवान का रूप है। और इससे भी बड़ी बात वह कि वह ही भगवान है— **पुरुषः प्रजापतिः**[1] पुरुष स्वयं ही प्रजापति है।

महाभारत में बताया है—मनुष्य का देह, एक देवालयस्वरूप है, जिसमें जीव रूप शिव का निवास है—

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः[2]

इन सब उदाहरणों से यही बात स्पष्ट होती है कि मानव-जीवन एक अमूल्य संपत्ति है, अपूर्व अवसर है। एक चिन्तामणि रत्न हैं। इससे जो चाहे वही लाभ उठाया जा सकता है। आप चाहें तो इस अवसर से अपने अनन्त जन्म सुधार सकते हैं, जन्म-जन्म की दरिद्रता मिटा सकते हैं। और यदि इसका महत्व नहीं समझा तो इसे कंकर पत्थर की तरह समझकर दरिद्र ही बने रह सकने हैं।

मुझे एक कहानी याद आ रही है। पुराने जमाने में एक बहुत बड़ा राजा था। उस राज्य की सीमाओं के चारों ओर बहुत बड़े भयावने जंगल थे जिनमें हिंसक पशु, सिंह, बघेरे, भेड़िये आदि हर समय हुँकारते रहते थे। उस राज्य में एक विचित्र परम्परा थी कि जो भी राजा उसके सिंहासन पर बैठता, वह पाँच वर्ष तक राज्य कर सकता था। पाँच वर्ष पूरे होने के बाद उस राजा को परिवार सहित उस भयंकर जंगल में छोड़ दिया जाता, जहाँ पग-पग पर बिचारे के लिए मौत बरसती रहती थी।

एकबार एक राजा सिंहासन पर बैठा। वह सायंकाल रोज अपने महल की गोख में बैठकर उस जंगल की ओर देखता जिसमें भयंकर जानवर उसके भोजन की प्रतीक्षा कर रहे थे। राजा का हृदय कांप उठता। वह दिन-रात उसी चिंता में रहता, कि पाँच वर्ष बाद इस भयंकर जंगल में पशुओं का ग्रास बनना है। राजा इस चिंता से बहुत बैचेन रहता। राज्य का कोई आनन्द उसे नहीं आ रहा था।

---

१ शतपथ ब्राह्मण ६।२।१।२२ २ महाभारत शांतिपर्व

एक दिन एक बूढा सन्यासी राजा के दरबार मे आया। राजा ने साधु की भक्ति की। साधु ने राजा को उदास देखकर पूछा—'महाराज ! आप उदास क्यो हैं ? आपके यहाँ ऐश्वर्य के भण्डार भरे हैं, भोगविलास-आनन्द के सब साधन उपलब्ध है, फिर भी आपके चेहरे पर उदासी और चिंता क्यो ? लगता है आपको कोई बहुत गहरी चिंता है, कोई पीडा है, बताइए मुझे ?"

राजा ने पहले तो बात को टालनी चाही, फिर सोचा शायद इन महात्मा के पास मेरी चिंता का कोई समाधान ही निकल आये। सन्यासी और राजा दोनो महलो मे ऊपर गये, राजा ने हाथ के इशारे से सन्यासी को राज्य की सीमा के पार का भयकर जगल दिखाया और कहा—इस गद्दी पर बैठने वाले हर राजा को पाँच वर्ष बाद उस जगल की शरण लेनी पडती है। राज्य से धक्के देकर लोग निकाल देते है और जगल मे ठोकरे खाते हुए किन्ही जगली पशुओ का भक्ष्य बन जाना पडता है, बस यही चिंता है कि पाँच वर्ष बाद मेरी भी यही दशा होगी।"

सन्यासी मुस्कराया और बोला – "महाराज ! इसमे अभी से दु खी और चिन्तित होकर बैठने मे काम थोडा ही चलेगा ?"

राजा—"तो क्या करना चाहिए ?"

सन्यासी—"पाँच वर्ष तक तो सब अधिकार आपके हाथ मे है ? आप चाहे जैसा कर सकते है, कोई कहने वाला, या रोकने वाला नही है ?"

राजा—"नही ! पाँच वर्ष तक इस साम्राज्य की सब बागडोर मेरे हाथ मे है, मैं जैसा चाहूँ वैसा ही कर सकता हूँ। कहिए, क्या करना है ?"

सन्यासी—महाराज ! आज ही मे अपने सेवको और मजदूरो को आज्ञा दीजिए, इस समूचे जगल को काटना शुरू कर दे। जगल को बिल्कुल साफ करवा दीजिए और फिर वहाँ पर इस राज्य से, इस नगर से भी सुन्दर नये नगर का निर्माण करवाइए। पाँच वर्ष तक लगातार उस नगर का निर्माण कराते जाइए। जब आपका समय पूरा हो जाये तो आप सिंहासन को छोड कर अपने नये नगर मे जाकर आनन्द कीजिए, वहाँ सब आनन्द और सुख आपको प्राप्त होंगे।

बूढ़े सन्यासी महात्मा की बात राजा के गले उतर गई। उसने तुरन्त अपने सेवकों को आज्ञा दी और जंगल को साफ करवाकर नये साम्राज्य का निर्माण शुरू करवा दिया। अब राजा प्रसन्न और आनन्दित रहने लगा। पाँच वर्ष पूरे होने से पहले ही राजा ने सिंहासन का त्याग कर विदा मांगी। बड़ी धूमधाम के साथ राजा और राज परिवार अपने नये साम्राज्य की ओर जाने लगे। नगर के हजारों नर-नारी राजा के पीछे हो गए। वे भी उस नये नगर में बसने के लिए चल पड़े। अब राजा ने अपने नये साम्राज्य का उपयोग शुरू किया और आनन्द से रहने लगा।

धर्म प्रेमी बन्धुओ! यह एक पुरानी कहानी है। इसका भाव है, मनुष्य जन्म यह पाँच वर्ष का राज्यकाल है। इसके बाहर सीमा पार नरक एवं निगोद की पीड़ाओं से भरे जंगल हैं, वहाँ पर भयंकर कष्ट है, जिनकी कल्पना कर या जिनका वर्णन सुनकर यहीं पर आप सिहर उठते हैं, रोमांचित हो जाते हैं और फिकर करने लगते हैं, आगे ये कष्ट उठाने पड़ेंगे, नरक की भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ेंगी। लेकिन सद्गुरुरूप सन्यासी आपको बताते हैं—भाई! अगले जन्म की पीड़ाओं से घबराओ मत! लेकिन उन पीड़ाओं को समाप्त करने का प्रयत्न करो। उस नरक के जंगल को कटवाकर उसमें स्वर्ग के नये साम्राज्य का निर्माण करो, ताकि जब यहाँ से आगे जाओगे तो आनन्द और सुख के साथ उस नये साम्राज्य में रह सको। अगले साम्राज्य का निर्माण इसी जन्म में कर सकते हो, यहाँ दान करो, दया करो, सेवा, पर-उपकार, त्याग, तपस्या क्षमा, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण करो, यही तत्व है जो तुम्हारे अगले साम्राज्य का निर्माण करेंगे। उस साम्राज्य की ओर जब तुम यहाँ से प्रयाण करोगे तो रोते-बिलखते हुए नहीं, किन्तु हँसते मुस्कराते हुए जाओगे। एक कवि ने कहा है—

जब तुम आये जगत में जग हंसा तुम रोये।
ऐसा काम कुछ कर चलो, तुम हंसो, जग रोये।

तो, मैं बता रही थी कि मानव जीवन पाकर आप इससे अगले जन्मों का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन एक बात याद रखिए—अगला जन्म वही

सुधार सकेगा, जो इस जन्म को सुधार पायेगा। जिसने इस जन्म का कोई साम्राज्य नहीं बनाया, आनन्द एवं शान्ति प्राप्त नहीं कि वह अगले जन्म में कैसे साम्राज्य बनायेगा और कैसे शान्ति एवं आनन्द प्राप्त करेगा ?

लोक नहीं सुधरा है यदि तो,
कैसे सुधरेगा परलोक।

उभय लोकवादी धर्म

संसार में कुछ विचारक है, जो सिर्फ इसी जीवन को महत्व देते है, वे कहते है—

ना कोई देखा आवता, ना कोई देखा जात।
स्वर्ग नरक और मोक्ष की गोल-मोल है बात।

न आगे कुछ है और न पीछे, इसलिए यह जन्म मिला है तो खाओ, पीओ और आनन्द करो। अपने पास खाने को नहीं है तो उधार लेकर खाओ, **ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्**—"कर्ज लेते जाओ, और मजा करते जाओ।"

एक दूसरे लोग है जो कहते है, अगले जन्म मे सुख मिलना चाहिए। यहाँ अपने शरीर को कष्ट दो, उसे सुखा डालो, उसके टुकड़े-टुकड़े करदो, अग्नि मे उसे तपाओ, जल में डुबाओ—यहाँ शरीर को जितना कष्ट दोगे—आगे उतना ही सुख मिलेगा। स्वर्ग मे उतनी ही अधिक देवियाँ और उतना ही अधिक वैभव मिलेगा। भाइयो ! यह भी एक प्रकार की भोगवादी वृत्ति है। एक अगले जन्मो की परवाह किए बिना इस जन्म मे आनन्द करना चाहता है, एक इस जीवन को कष्टमय बनाकर अगले जीवन मे आनन्द पाना चाहता है। जैन धर्म इन दोनो ही एकांत विचारो मे विश्वास नहीं करता। वह कहता है, इस जन्म को भी सुधारो, अगले जन्म को भी। इस जन्म मे भी आनन्द एवं शान्ति प्राप्त करो और अगले जन्म मे भी। वह वास्तव मे उभयलोकवादी धर्म है। उसकी साधना उभयमुखी है।

जैन गृहस्थ का यही आदर्श है कि वह इस जीवन को—त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष एवं दया करुणा से आनन्दमय बनाये, *स्वयं का भी* कल्याण करे और दूसरो का भी। हां, यह जरूरी है कि दूसरो का कल्याण

करने के लिए बढ़ने से पहले अपना कल्याण करे। कहीं जग की चिंता में अपने को भूल गया तो बस। इसलिए पहले स्वयं के जीवन को आदर्श बनाए।

हमारा आदर्श

आज मैं इसी बात पर विशेषबल देना चाहती हूँ कि जैन गृहस्थ का आदर्श क्या है? उसका धर्म क्या है? और उसकी उभयलोकवादी-धर्म-साधना क्या है?

हमारे महान आचार्यो ने गृहस्थ जीवन के जो बारह व्रत बताये हैं उनके आधार पर गृहस्थ जीवन की सुन्दर जीवनचर्या का वर्णन किया है। वैसे तो बारह व्रत में गृहस्थ जीवन का सर्वांग सुन्दर वर्णन आ ही गया है, लेकिन साधारण गृहस्थ के लिए जो अभी उन व्रतों को स्वीकार नहीं कर पा रहा है, कुछ ऐसे आदर्श नियम व शिक्षाएं बताई हैं जो उसके जीवन को समाज एवं राष्ट्र के लिए ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के लिए एक आदर्श जीवन के रूप में ढाल देती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु प्रकरण नामक ग्रन्थ में और कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने योगशास्त्र में गृहस्थ जीवन के पैंतीस मार्गानुसारी बोल बताये हैं। उनका विस्तार काफी लंबा-चौड़ा है। आज मैं उन सब का जिक्र नहीं करके आप लोगों के सामने उनमें से इन चार बोलों पर ही संक्षिप्त बात बता रही हूँ। वे चार सूत्र ये हैं—

१ न्यायसंपन्नविभवः २ पापभीरु

३ कृतसंगसदाचारः ४ माता-पित्रोश्च पूजकः

न्याय का धन

गृहस्थ के लिए कहा जाता है—"साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का और गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो कौड़ी का।" बात सीधी है— गृहस्थ के पास यदि धन नहीं हो तो संसार में उसकी पूछ नहीं होती, लोक कहते हैं—भूखे बावाजी है। गृहस्थ जीवन की गाड़ी चलाने के लिए अर्थ को, धन को आवश्यक ही नहीं, किन्तु बहुत महत्वपूर्ण माना है। लेकिन भाइयो! मैं

पूछती हूँ कि क्या धन ही सब कुछ है ? नहीं ! संसार में धन और ईमान दो चीज मानी गई है। धन से भी बड़ा है ईमान—अर्थात् धर्म, विश्वास, प्रामाणिकता। हमारे यहाँ कहावत है—

लाख जाय, साख न जाय।

अर्थात् लाख रुपये चले जाय तो कोई परवाह नहीं, किन्तु हमारी 'साख' अर्थात् विश्वास, ईमानदारी वह नहीं जाय। यदि साख नहीं रही तो संसार में कोड़पति और अरबपति को भी कोई नहीं पूछता। 'साख' है तो गरीब भी करोड़पति जैसी इज्जत पा सकता है।

यह 'साख' क्या चीज है ? इसे ही पुरानी भाषा में 'न्याय' प्रतिष्ठा या विश्वास कहा जाता है और इसलिए गृहस्थ का पहला धर्म बताया है——**"न्यायोपात्तविभव"**—न्याय से धन कमाये। जैनधर्म यह नहीं कहता कि तुम दरिद्र भिखारी बने रहो, दाने-दाने के मुहताज बने फिरो। जैन इतिहास पढ़िए। बड़े-बड़े श्रीमत, कोट्याधीश, लक्ष्मीपति कितने श्रावक हुए है। गरीबी तो पाप का फल है - इसलिए कोई भी धर्म अपने भक्त को, गरीबी का वरदान देना नहीं चाहता। किंतु यह कहता है, धनवान भले ही बनो, पर धन अन्याय से मत कमाओ ! तुम धन कमा रहे हो, लक्ष्मी दौड़कर तुम्हारे पास आ रही है, तिजोरी नोटों से भर रही है तो इसमें किसी को कोई तकलीफ नहीं बस इतना ध्यान रखो, वह धन किसी गरीब का खून बन कर न आये, किसी की आह बन कर तुम्हारे घर में न घुसे। उर्दू के कवि ने कहा है —

मत सता जालिम ! किसी को मत किसी की आह ले।
दिल के दुःख जाने से नादां ! अर्श भी हिल जायगा।

यदि किसी इन्सान का दिल दुखाया, उसकी आह ली, तो उससे आकाश भी हिल जायेगा। इसलिए जो भी धन कमाते हो, व्यापार करते हो, उसमे बस इस बात का हमेशा खयाल रखो कि वह धन गदे तरीकों से तुम्हारे हाथ में न आये !

मेरे धर्म प्रेमी भाइयो ! आज का जमाना आपके सामने है, और आप लोगों की भावनाएं कैसी हैं वह भी बताने की जरूरत नहीं। प्रभु का नाम तो बाद में याद आयेगा, पर पैसा पहले ? आज 'पैसा' ही मनुष्य का धर्म-ईमान और जान बन गया है—

टका धर्मः टका कर्मः टका हि परमेश्वरः
यस्यगृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते।

जिसके पास टका नहीं, उसने हा टका, हा टका, टका-टका की टक टकी लगा रखी है।

पैसे के इस अंधे मोह में आदमी सब कुछ भूल गया है। दो पैसा देकर चाहे जैसा अन्याय करवालो, चाहे जैसा झूठ बुलवालो। एक जमाने में यह कहा जाता था—"**जान जाये पर ईमान न जाये** - प्राण भी चले जाये तो कोई बात नहीं, किंतु हमारा ईमान-विश्वास नहीं जाना चाहिए। आज लोग क्या कहते हैं--**ईमान जाय भट्टी में, पैसा आय मुट्ठी में**"—यदि पैसा पास में आता है तो भले ही ईमान-धर्म सब भाड़ में जाये, हमें तो पैसा चाहिए। बस पैसा ! पैसे में पगली दुनियां यह नहीं सोचती कि जो पैसा अन्याय के रास्ते से आता है, वह कभी बरकत नहीं करता। अन्याय का पैसा घर में आता है, तो वह अशांति, बीमारी, कलह और चिंताओं का जाल फैला देता है, वह मनुष्य को कभी सुख-चैन से सोने नहीं देता। कहा जाता है—"दूसरों के खून में सना पैसा मनुष्य का खून पी जाता है।" इस बात में बहुत तथ्य है कि अनीति का पैसा, अन्याय का धन मनुष्य को सदा परेशान एवं उद्विग्न बनाये रखता है। इसलिए सद्गृहस्थ का पहला कर्तव्य है वह न्याय से उपार्जित धन से ही अपनी आजीविका करे। मनुस्मृति में महर्षि मनु ने कहा है, जो गृहस्थ अर्थ के सम्बन्ध में पवित्रता एवं शुद्धता रखता है उसका जीवन सर्वत्र पवित्र रहता है—

योऽर्थशुचिर्हि स शुचिः।

इसलिए आप गृहस्थ के इस पहले धर्म सूत्र पर ध्यान दें कि आप जो भी

व्यापार करे, धन कमायें उसमें यह ध्यान रखे कि वह धन अन्याय, अनीति, धोखा और बेइमानी से नहीं आये, बल्कि न्याय और ईमानदारी से प्राप्त हो।

पापभीरु

पाप का भय रखना यह सद्गृहस्थ का आदर्श है। सद्गृहस्थका जीवन—एक जागरूक जीवन है, उसमें पग-पग पर सावधानी के साथ चलना है। इस ससार में सर्वत्र पाप, दुराचार, भ्रष्टाचार अनाचार के अजगर मुह फैलाए धर्मात्मा के धर्म जीवन को निगलने बैठे है। पग-पग पर अन्याय और अत्याचार के पातालगड्ढे खुदे पड़े है, यदि एक क्षण भी इधर असावधान होकर कदम रख दिया तो बस—गड्ढे मे गिर पड़ा। इसलिए कहा है—जीवन मे सदा सावधान होकर चलो और पग-पग पर पाप का भय रखो।

जिस पाप का भय होता है, वह अपने आप सब बुराइयो से बच जाता है। उसे अन्य किसी भय की जरूरत भी नहो, और अन्य किसी का भय उसे रहता भी नही।

आचार्यो ने बताया है कि पाप नही करने के तीन कारण हो सकते है—

१ राजभय

२ समाज भय

३ आत्म-भय।

कुछ व्यक्ति चोरी, अपराध अन्याय आदि से इसलिए डरते है कि चोरी आदि करने पर पकडे जायेंगे, जेल जाना पडेगा, दड भुगतना पड़ेगा, सजा मिलेगी, इस भय से वे चोरी आदि अन्याय कर्म से बचते रहते हैं। इसलिए, वे सरकार से, कानून से छुप-छुप कर पाप करते हैं। कानून से बचकर, सरकार की नजर से छुपकर वे चाहे जो पाप करलें तो भी उनके मन मे किसी प्रकार की घृणा, व भय नही होता। आजकल के साहूकारो की यही परिभाषा है—

साहूकार कौन? जिसकी चोरी पकड़ी न जाये

वकील कौन ? जिसकी झूठ काटी न जाये ! तो इस प्रकार की वृत्ति वाला मनुष्य कभी भी धर्मात्मा नहीं बन सकता।

कुछ लोग समाज के भय से पाप करने से बचते हैं। वे सोचते हैं, यदि हमारी चोरी, पाप आदि समाज के सामने खुल गये तो लोग हमें क्या कहेंगे ? समाज में, परिवार में नीची नजर से देखे जायेंगे। लोक अंगुली दिखाएंगे और सर्वत्र अपमान, घृणा और बेइज्जती होगी। इसलिए वे लोग प्रकट में पाप से बचकर भी, लुक-छिपकर, समाज की आँखों में धूल झोंक कर पाप करने से वाज नहीं आते। सचमुच उनके मन में पाप का भय नहीं होता, केवल वदनामी का भय होता है, इसलिए वे भी सही माने में धर्मात्मा नहीं कहला सकते।

तीसरे प्रकार का भय है—आत्मा का। अर्थात् मनुष्य पाप करते समय, अन्याय एवं अत्याचार करते समय यह सोचे कि इस बुराई का फल भी वास्तव में बुरा है।

बुरे का नतीजा हमेशा बुरा है।
कांटे को कांटा, छुरे को छुरा है।

मनुष्य चाहे जहां चला जाये, जंगल में, पहाड़ियों में, समुद्र की गहराई में, किया हुआ पाप कर्म कहीं भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। भगवान महावीर ने कहा है—**कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं**—[1] कर्म छाया की तरह सदा कर्ता के पीछे-पीछे चलता है।

हमारे ग्रन्थों में एक कहानी आती है—एक आचार्य के पास तीन शिष्य पढ़ते थे। एक दिन आचार्य के मन मे विचार हुआ कि इनमें कौन शिष्य भव्य है, और कौन अभव्य है, किसके जीवन में धार्मिकता है और किसके जीवन में केवल धार्मिकता का ढोंग है इसकी परीक्षा करनी चाहिए। आचार्य ने आटे के तीन मुर्गे वनाए और तीनों शिष्यों को अलग अलग

---

१ उत्तराध्ययन १३। २३

बुलाकर वे मुर्गे दिये और कहा—"इसे ऐसी जगह ले जाकर मारना जहाँ कोई भी देखता न हो।"

आचार्य का एक शिष्य था वसु, जो राजकुमार था, बडा निर्दय। उसने मुर्गा लिया और आश्रम के पीछे दीवार की ओट मे जाकर मार डाला। आचार्य के पास वह आया और बोला—"मुझे वहा किसी ने भी नही देखा।"

दूसरा शिष्य, जिसका नाम था पर्वत, वह स्वय आचार्य का पुत्र था। वह जगल मे दूर गया, एक पहाडी की ओट मे खडा होकर देखा, कोई मनुष्य दिखाई नही दिया तो उसने भी वह मुर्गा मार डाला।

तीसरा शिष्य था नारद! उसने सोचा—"गुरु जी ने कहा है जहाँ कोई न देखे वहा मारना।" वह दूर, बहुत दूर जगल मे गया। एक गुफा मे गया, देखा वहा कोई नही देख रहा है, तभी उसे ध्यान आया और कोई चाहे न देखे, किंतु मेरी आत्मा तो देख रही है और फिर भगवान भी उसे देख रहे है। तो वह एकात तो ससार मे कही नही है। वह मुर्गे को ज्यो का त्यो वैसा ही ले आया और गुरुजी से अपने मन का विचार बताया कि मुझे एकात कही नही मिला। सर्वत्र भगवान देखते है और अपनी आत्मा भी देखती है फिर एकात कही नही।" आचार्य ने देखा—"यही शिष्य सच्चा धर्मात्मा है।"

तो बन्धुओ! जिसके हृदय मे पाप का भय होगा, जो सर्वज्ञ को, अपनी आत्मा को और भगवान् को देखेगा वही सच्चा धार्मिक होगा। कबीरदास की लडकी कव्वाली का एक भजन है—

तरेगा वही, जिसे पापो का डर है।
तरेगा वही जिसके हिरदे मे हर है।

सदाचारी

सद्गृहस्थ का तीसरा लक्षण है, स्वय सदाचार का पालन करे और सदाचारी पुरुषो की सगति करे। इस विषय मे मैं कई बार वर्णन कर चुकी हूँ। सदाचार वास्तव मे जीवन का श्रेष्ठ आभूषण है। जिस जीवन में सदाचार नही, वह जीवन केवल भार है। सदाचारहीन जीवन को वेद, शास्त्र गुरु और भगवान भी तार नही सकते। कहा है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः

आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते । अपने जैन धर्म के महान् आचार्य भद्रबाहु स्वामी का कथन है—

अगाणं किं सारो ? आयारो ।[1]

जिन वाणी का समस्त सार 'अंगों' में समाया है, और उन 'अंगों' का सार क्या है ? आचार !

सारो परूपणाए, चरणं[2]

भगवान के समस्त धर्म उपदेशों का सार यही है चारित्र ! आचार ! सदाचार !

जो सदाचारी होगा, वह अपने मित्रों, परिचितों को भी सदाचार की शिक्षा देगा, और सदाचारी लोगों की ही संगति करेगा । सदाचारी पुरुषों की संगति वास्तव में गांधी की संगति जैसी है जिसके पास बैठने से ही 'इतर' की खुशबू मिलती है, भले ही उसे खरीदें या नहीं ।

कबिरा संगति साध की ज्यों गंधी की वास ।
जो कुछ गंधी दे नहीं तो भी वास सुवास ।

माता-पिता की सेवा

सद् गृहस्थ का चौथा आदर्श है—माता-पिता की सेवा । माता-पिता को भगवान का रूप कहा है । उपनिषद् में तीन जनों की भक्ति करने का आदेश है—

मातृ देवो भव ।
पितृ देवो भव ।
आचार्य देवो भव ।

माता को देवता समझकर पूजो, पिता को देवता समझकर पूजो, और आचार्य गुरु को देवता समझकर पूजो ! माता-पिता की भक्ति का उपदेश शास्त्रों के पन्ने-पन्ने पर भरा पड़ा है । मातृ-पितृ-भक्त श्रवणकुमार

---

१ आचारांग निर्युक्ति गाथा १६ । १७

की यशोगाथा आज हजारों वर्ष बीत जाने पर भी शास्त्रों के स्वर्ण पृष्ठों पर अंकित है। राम का गौरव और कीर्ति क्यों गाई जाती है? उन्होंने पिता के एक वचन पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, यहाँ तक कहा—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके।[1]

मैं पिता के वचन की रक्षा के लिए जलती हुई अग्नि में भी कूद सकता हूँ।

राम के जीवन में माता-पिता के प्रति अत्यंत आदर और भक्ति थी। इसलिए हजारों वर्ष बीत जाने पर भी संसार आज राम-राज्य के स्वप्न देखता है।

आज के युग में माता-पिताओं की क्या हालत हो रही है बताने की जरूरत नहीं। आज कुछ नई हवा का प्रभाव, कुछ माता-पिता का संतान को सदशिक्षा नहीं देने के कारण संतान माता-पिता को बेवकूफ बता रही है। उनकी आज्ञा का पालन और भक्ति तो दूर रही, अब उनका तिरस्कार भी हो रहा है। मां-बाप को बेवकूफ बताने वाले बेटे यह नहीं सोचते कि कल उनकी संतान भी क्या उनके साथ इसी प्रकार का व्यवहार नहीं करेगी? और तब उनकी क्या हालत होगी?

हर मनुष्य जो आज पुत्र है, वह कल पिता भी बन सकता है। यदि वह आज अपने माता-पिता का सन्मान, सत्कार करता है, उनकी सेवा करता है तो कल होने वाले उसके पुत्र उसकी भी सेवा करेंगे। जो आज मां बाप का तिरस्कार करता है उसे अपने तिरस्कार पूर्ण भविष्य की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

शास्त्रों में कहा है, जो माता-पिता के भक्त होते हैं, उनकी पूजा सत्कार करते है, उनकी यश, कीर्ति, संपत्ति, प्रतिष्ठा संसार में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहती है।

---

१ वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकांड १८। २८

तो इस प्रकार मैंने गृहस्थ जीवन को आदर्श बनाने वाले चार सूत्रों का वर्णन आपके सामने किया है। मनुष्य बन जाना कठिन नहीं है। किंतु मनुष्यता पाना कठिन है, और वह मनुष्यता इन्हीं गुणों से आ सकती है।

सदाचारी मनुष्य को 'द्विज' कहा जाता है।[1] अर्थात् उसका दुबारा जन्म होता है, एक मानवतन के रूप में और दूसरा मानवता के रूप में। वास्तव में मानवता के रूप में जो उसका जन्म होता है वही सच्चा जन्म है। वह जन्म इन सद्गुणों के रूप में होता है, इसलिए—

जीवन को आदर्श बनाने वाले इन गुणों पर आप विचार करते हुए आखिर इस एक पद्य को भी याद रखिए—

तन से सेवा कीजिए, मन से भले विचार।
धन से इस संसार में, करिए पर उपकार॥

१ संस्काराद्विज उच्यते।
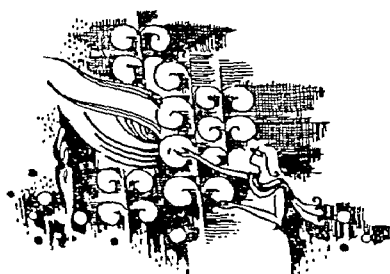
३ विचार-शुद्धि का मूलमंत्र अनेकान्तवाद

जैनदर्शन के महान मनीषी आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।

—सन्मतितर्क ३। ७०

जिसके बिना विश्व का कोई भी व्यवहार अच्छी तरह से नही चल सकता, अर्थात् जिसके आधार से ही हमारे समस्त-व्यवहार चल सकते हैं, उस त्रिभुवन के एकमात्र गुरु—'अनेकातवाद' को मेरा नमस्कार है।

बन्धुओ!

वास्तव मे यह देखना है कि जिस अनेकातवाद का आधार लेकर हमारे समस्त व्यवहार, दर्शन और धर्म चल रहे है वह अनेकान्तवाद क्या है?

अनेकातवाद और स्याद्वाद का नाम तो आप बहुत बार सुनते है। नय और निक्षेप की चर्चा भी कई बार आपके सामने आती रही होगी, पर मैं पूछती हूँ कि क्या आपके ध्यान मे आया है कि स्याद्वाद किस चिडिया का नाम है? अनेकातवाद का माने क्या है? और नय-निक्षेप किसे कहते है?

ये तत्त्व जैन दर्शन की मूल भित्ति है, नींव है। मैं आज संक्षेप में इन्हीं विषयों पर आपके सामने चर्चा करूँगी।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु

जैन धर्म पदार्थ को, वस्तुतत्त्व को अनन्तधर्मात्मक मानता है। **"अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वं"**[1]—कोई भी पदार्थ चाहे वह जड़ है या चेतन है, उसमें अनेक प्रकार के स्वभाव होते हैं। अनेक गुण होते हैं। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें सिर्फ एक ही धर्म, या एक ही गुण हो, एक ही स्वभाव हो। इसका उदाहरण देकर मैं अपको समझाती हूँ। आप बाजार से एक पका हुआ मीठा आम लाते है। कोई पूछता है—'यह क्या है ?' आप कहते हैं —'यह आम है।'

इसका स्वाद कैसा है ?

मीठा !

क्या मिसरी जैसा मीठा ?

नहीं, कुछ-कुछ खट्टा भी है।

क्या इमली जैसा खट्टा है।

नहीं, उससे तो मीठा है।

इसका रंग कैसा है ?

पीला।

क्या सोने जैसा एकदम पीला है ?

नहीं कुछ-कुछ हरा भी है !

क्या तोते जैसा हरा है ?

नहीं, कुछ हरा, कुछ पीला है !

इसकी गंध कैसी है ?

बड़ी मीठी, सौंधी गन्ध है !

---

१ (क) आचार्य हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका,
(ख) अनेकांतात्मकं वस्तु—आचार्यसिद्धसेन

इसका आकार कैसा है ?

गोल !

क्या नारगी जैसा गोल ?

नही, कुछ लम्बा भी है !

क्या ककडी जैसा लम्बा है ?

नही, कुछ गोल है कुछ लबा है !

तो इस प्रकार आप बताइए, एक आम मे कितनी बाते हुई, कितने गुण हुए ? वह मीठा भी है, खट्टा भी है, पीला भी है, हरा भी है, गोल भी है, लम्बा भी है ? इस आम मे अनेक गुण व स्वभाव है, यह प्रत्यक्ष व्यवहार मे आपको मालूम हो रहा है। इसी प्रकार ससार मे जितने भी पदार्थ है, उन सब मे अनेक गुण-स्वभाव रहे हुए हैं, उन सबको यथार्थ समझना और यथार्थ कथन करना—बस यही अनेकातवाद और स्याद्वाद है,

नित्यानित्यवाद

अनेकात का सीधा-सा अर्थ है, अनेक अन्त ! यानि अनेक गुण, अनेक स्वभाव ! बहुत से दार्शनिक पदार्थ या आत्मा को नित्य मानते है, वह कहते हैं, पदार्थ व आत्मा जिस रूप मे है, सदा उसी रूप मे रहता है, वह कभी अपने रूप को नही छोडता वह कूटस्थनित्य है। कुछ दार्शनिक पदार्थ व आत्मा को सर्वथा अनित्य मानते है, क्षण-क्षण नष्ट होने वाली दीए की लौ की तरह आत्मा आदि को भी एकात क्षणिक मानते है।

जैनदर्शन कहता है, आत्मा या पदार्थ न एकान्त रूप से नित्य है और न एकान्त रूप से सर्वथा क्षणिक-अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य मान लिया जाय तो फिर वस्तु या आत्मा मे कभी कोई परिवर्तन ही नही आ सकता है। फिर तो ससार में जितने मनुष्य हैं, उनमे न एक घटेगा और न एक बढ़ेगा, जितने पशु हैं, बस उतने ही रहने चाहिए और जितनी वस्तुए है वे उतनी ही रहनी चाहिए। सृष्टि में फिर एक भी वस्तु न कम होगी और न अधिक होगी। और यदि एकात अनित्य मानलिया जाय तो फिर जो आदमी अभी है, वह एक

क्षण बाद नहीं रहा। अभी जिसने चोरी की, एक क्षण बाद वह बदल गया। तो आप चोरी का दंड किसे देंगे ? अभी जिसने पुण्य किया, अगले क्षण वह भी बदल गया, फिर किसे पुण्य का लाभ मिलेगा ? सोचिए, अभी आपने एक आदमी को रुपए उधार दिए। कुछ देर बाद आप उससे माँगेंगे तो वह कहेगा, किसने उधार दिया, और किसने उधार लिया ? देने वाला भी बदल गया और लेने वाला भी बदल गया, तो फिर तो बड़ा गोटाला हो जायेगा। संसार का कोई भी व्यवहार फिर नहीं चल सकता। इसलिए जैनदर्शन कहता है कोई भी वस्तु, पदार्थ या आत्मा न एकान्तनित्य-ध्रुव है और न एकांत अनित्य—क्षणिक है, बल्कि नित्यानित्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

आदीपमाव्योम सम-स्वभावा
स्याद्वाद्मुद्रानतिभेदिवस्तु।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका

संसार में दीपक की लौ से लेकर आकाश तक जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें एक समान स्वभाव है। अर्थात् दीपक जो क्षण-क्षण विलीन होता दिखाई देता है, वह भी नित्य भी है और अनित्य भी। तथा आकाश जो हमेशा स्थिर दिखाई देता है वह भी नित्य भी है अनित्य भी। सब पर स्याद्वाद का सिक्का लगा हुआ है, अर्थात् सभी पदार्थ नित्यानित्य है।

द्रव्य और पर्याय

जैन दर्शन में दो नय माने गये हैं, वैसे इन्हीं का विस्तार करके सात नय बताये गये हैं। पर ये दो मुख्य नय हैं—एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। द्रव्य नय से किसी भी वस्तु के मूल स्वरूप को समझा जाता है। मैं स्थूल उदाहरण देकर समझाऊं—जैसे यह बहन मेरे सामने बैठी है, इसके हाथ में क्या है ? सोने का कंगन है ! यह किसने बनवाये ? इसके स्वसुर ने बनवाये होंगे, या पिता ने अथवा पति ने ? पर, कंगन बनने से पहले क्या थे ? गले का लाकेट होगा ? या हार होगा ? या और कोई गहना

होगा ? उस पहले गहने को गलाकर नया गहना बनाया गया, तो द्रव्य नय की दृष्टि से तो इसमे कोई फर्क नही पडा। सोना एक द्रव्य था, वह सोना लाकेट मे था तब भी सोना था और कगन बनवाया तब भी सोना है और अगूठी बन जायेगा तब भी सोना ही रहेगा। किन्तु पर्याय नय की दृष्टि मे इसमे बिल्कुल परिवर्तन हो गया। पर्याय का अर्थ है, आकार, वर्तमान स्वरूप। सोना लाकेट या हार की पर्याय छोडकर कगन की पर्याय मे आ गया तो यह उसका नया रूप हो गया। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ मे इन दोनो रूपो को मानता है। द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ सदा नित्य है, और पर्याय की दृष्टि मे अनित्य है। बस इसे ही नित्यानित्यवाद कहते है।

एक मिट्टी का पिंड है, वह कभी घडे का रूप धारण करता है, कभी सुराही का और कभी दीये का ! तो मिट्टी तो सब मे मौजूद है, किन्तु उनका आकार बदलता चला गया। इसे हम कहते है मिट्टी (स्थूल दृष्टि से) एक द्रव्य है, और घडा पर्याय है। पर्याय का अर्थ बताते हुए उपाध्याय श्री अमर-मुनि जी ने लिखा है—

वस्तु मात्र मे सतत यथाक्रम
जो होता है परिवर्तन।
कहते हैं पर्याय उसीको,
वस्तु-तत्व मर्मज्ञ, सुज्ञजन।

एक मनुष्य है, वह पिछले जन्म मे क्या था ? हो सकता है कोई देवता या पशु हो ! यहाँ से मरने के बाद भी पता नही कहा जायेगा ? पर जरूर या तो वह मनुष्य ही बनेगा, या देवता, नरक या पशु आदि किसी योनि मे जायेगा। अब सोचिए पीछे जो घोडा था, वह यहाँ मनुष्य बन गया और जो यहाँ मनुष्य है वह अगले जन्म मे साप बन गया तो आप मनुष्य को क्या कहेंगे ? आत्मा का स्वरूप कहेंगे, या आत्मा की पर्याय कहेंगे ? वस्तुत आत्मा तो वही है जो कर्मानुसार चारो गतियो मे चक्कर काट रही है, द्रव्य की अपेक्षा आत्म द्रव्य मे कोई अन्तर नही आया। जैसा आत्म-स्वरूप नरक योनि की, या तिर्यंच योनि की आत्मा का है, वैसा ही मनुष्य और देवयोनि की

आत्मा का भी है, आगे बढ़ें तो सिद्ध आत्मा का भी वही स्वरूप है। इसीलिए ही तो स्वरूत दृष्टि से आत्मा एक कही गई है—**एगे आया**। किंतु पर्यायदृष्टि से देखेंगे तो प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न दिखाई देंगी। पशु और मनुष्य की पर्याय में तो अन्तर है ही, किन्तु मनुष्य-मनुष्य की पर्याय में भी अन्तर है। कोई मनुष्य गोरा है, कोई काला है, कोई नाटा है, और कोई लंबा है। प्रत्येक मनुष्य पर्याय दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु द्रव्यदृष्टि से सब मनुष्य एक समान है। यही हमारा द्रव्य-पर्यायवाद है। भेदाभेदवाद है। जो भेद में अभेद एवं अभेद में भेद का खेल खेलता हुआ भी सदा मूल दृष्टि पर स्थिर रहता है।

जैन दर्शन के प्रखर तार्किक उपाध्याय श्री यशोविजय जी ने लिखा है—जैसे दूध को जामन देकर जमाया तो वह दही रूप में उत्पन्न होगया, और उसका दूध रूप नष्ट होगया, किन्तु दोनों ही रूपों में गोरस-रूप तो स्थिर ही रहा है, यही स्याद्वाद का रहस्य है—

उत्पन्नं दधिभावेन
नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्
स्याद्वाद-विद् जनोऽपि कः।

इस रहस्य को कोई विरला ही मनुष्य जान पाता है।

द्रव्य-पर्याय की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा—प्रत्येक वस्तु-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। पर्याय की दृष्टि से वस्तु उत्पन्न होती है, फिर नष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की दृष्टि से उनका मूलतत्त्व स्थिर रहता है। जैसे सोने के तरह-तरह के गहने, मिट्टी के तरह-तरह के खिलौने बनते हैं तो वस्तु का उत्पाद होता है, और जब मिटते हैं तो उनका व्यय-या विलय कहा जाता है, किन्तु स्वर्णतत्त्व या मृत्तत्त्व तो सब में एक समान बना हुआ ही है, यही ध्रौव्य अर्थात् ध्रुव—स्थिर है। इस तरह प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है। इसे ही जैन दर्शन की त्रिपदी कहते हैं।

'भी' और 'ही'

बन्धुओ ! अपनी इतनी उदार दृष्टि और स्पष्ट चिंतन के कारण ही जैन दर्शन विश्व मे समन्वयवादी दर्शन कहलाता है। वह किसी भी वस्तु का एकात आग्रह नही करता, अपनी बात पर ही नही अडता, किन्तु दूसरो की बात पर भी उदारता के साथ सोचता है, और फिर दोनो की तुलना करके ही किसी बात का निर्णय करता है।

कुछ लोग कहते है, हमारे धर्मशास्त्र ने जो कहा है, वही सत्य है, बाकी सब मिथ्या है, झूठ है। हमारे गुरुजी जो बात कहते हैं, वही लोह की लकीर है, उसके सिवाय सब गलत है। यह आग्रह, एकातआग्रह-मिथ्यावाद है। 'ही' का आग्रह करने वाला कभी भी सत्य का दर्शन नही कर सकता। वे तो उन जन्म अन्धो की तरह परस्पर झगडते ही रहेगे।

हमारे यहाँ एक कहानी है—एक गाव मे एकबार हाथी आया। गाव के लोगो ने कभी हाथी देखा नही था, इसलिए हाथी देखने की बडी धूम मच गई। उस गाव मे छह अन्धे आदमी रहते थे। उन्होने हाथी का आना सुना तो वे भी दौडे। बिचारे आँख मे अधे थे, देखते क्या ? हर अधे ने हाथी पर हाथ फिराना शुरू किया। हाथ से टटोलते हुए एकने हाथी की पूँछ पकड ली, एक ने उसकी सूड पर हाथ रख दिया, किसी ने उसका कान पकडा, किसी ने पैर, किसी ने दात और किसी ने उसके पेट पर हाथ फिराया। हाथी के एक-एक अग को छूकर उन्होने समझ लिया—बस, हमने हाथी देख लिया। अब हाथी आगे चला गया, वे छहो वही पास मे एक तालाब के किनारे बैठे और अब एक दूसरे से पूछने लगे –कहो भाई ! हाथी देख लिया तुमने ?

जिसने हाथी की पूंछ पकडी वह बोला - "हा भई, हाथी मैने भी देख लिया, बिल्कुल मोटे रस्से जैसा था।"

सूड पकडने वाला बोला—'झूठ ! सफेद झूठ ! हाथी कही रस्से जैसा होता है ? हट ! हाथी तो मूसल जैसा था।"

जिसने हाथी का कान पकडा, वह बोला—"अरे ! इतनी झूठ बोलने मे

क्या मजा आता है ? मैंने भी हाथी देखा है, हाथी तो विल्कुल छाज (सूपड़े) जैसा था।"

दांत पकड़ने वाले सूरदास वावा ने अव दांत पीस कर कहा—'आँखें नहीं रही तो क्या है, हाथ तो कभी धोखा नहीं देते ? तुम्हारी झूठी गप्पें मैं नहीं वर्दास्त नहीं कर सकता, सच कहता हूँ तुम सव झूठे हो, हाथी विल्कुल कुदाल के जैसा था।"

अव तो पैर पकड़ने वाला अंधा उछल पड़ा—क्या वकवास करते हो तुम लोग ? मैंने खूब टटोल-टटोल कर देखा है, हाथी विलकुल खम्भे जैसा था।"

तभी हाथी के पेट पर हाथ फेरने वाला सूरदास गरज पड़ा—"कुछ भगवान का भी भय है या नहीं ! निरी लोन की रोटी वना रहे हो ! मैंने अच्छी तरह से हाथी को देखा है, वह अनाज भरने की कोठी जैसा है।"

अव तो सभी में तू-तू मैं-मैं होने लगी, एक दूसरे को गाली देने लगे और नौबत हाथापाई तक आ गई। तभी एक आँखों वाला सत्पुरुष वहाँ आगया। उसने अंधों को झगड़ते देखा तो पूछा—"वंधुओ ! क्या वात है ! ऐसे गधों की तरह लड़ते क्यों हो ? कोई झगड़ा है तो वातों से उसका निपटारा करो।

कहावत है—

ज्ञानी लड़ै बातों से
मूरख लड़ै हाथों से
और गधे लड़े लातों से।

उस पुरुष की वात सुनकर अंधों ने अपनी रामकहानी सुनाई—"हमने हाथी को देखा, अव कोई कह रहा है हाथी मूसल जैसा है, कोई कह रहा है रस्से जैसा और कोई कह रहा है खंभे जैसा।" उस आँख वाले ने वताया—"तुम सव सच्चे हो, जिसने हाथी की पूंछ पकड़ी उसे वह रस्से जैसा लगा, जिसने सूंड पकड़ी, उसकी दृष्टि में वह मूसल जैसा है। हाथी के दांत जिसने छूए उसकी दृष्टि में वह कुदाल जैसा है और कान पकड़ने वाले की दृष्टि में वह छाज जैसा है। पैर पकड़ने वाले को वह खंभे जैसा लगा होगा, और पेट पर

हाथ फिराने वाले को वह कोठी जैसा ही लगा है—इसलिए एक-एक अपेक्षा से तुम सब सच्चे हो, पर दूसरो को भी गलत मत कहो, तुम सबने हाथी के एक-एक अग को छुआ है सपूर्ण हाथी को नही, सब अगो को मिलाने से ही पूरा हाथी बनता है।"

अधो को अपनी भूल समझ मे आई और उनका झगडा शात हो गया।

भाइयो! इसी प्रकार जब तक मनुष्य वस्तु के एक अश को देखकर उसका आग्रह करता है, तब तक वह भी उन अधो की गिनती मे है। और जब दूसरे की बात को समझकर समन्वय करने की चेष्टा करता है तो वह उस आँख वाले सत्पुरुष की भाति सब झगडा शात करने वाला हो जाता है।

ससार के देशो मे, राज्यो मे, समाज व धर्म-सम्प्रदायो मे जितने भी झगडे होते है उन सबकी मूल जड यह 'ही' ही है। घर मे एक सास है, बहू है। यदि सास कहे, घर मे मेरा ही हुकम चलेगा, मै ही घर की मालकिन हूँ, और वह कहे नही, तुम्हारा कुछ नही, घर की स्वामिनी तो मैं ही हूँ, मेरा ही हुकम चलेगा, तो क्या नतीजा होगा? घर कुरुक्षेत्र बन जायेगा? वहाँ रात-दिन सास-बहू की तकरारे चलेगी और कोई भी शाति व चैन से नही रह सकेगा। किन्तु यदि इस 'ही' की जगह 'भी' को दोनो अपनाये तो? सास कहे, बहू! मै भी मालिक हूँ और तू भी है, कुछ बात मेरी भी चलेगी और कुछ तेरी भी चलेगी, तो दोनो मे समझौता रहेगा और घर की व्यवस्था बराबर चलती रहेगी।

आप कल्पना करिए—एक ग्वालन बडा मटका भर के दही मथ रही है, उसको बिलोकर मक्खन निकालना चाहती है तो क्या करेगी? वह मथनी को रस्सी से एक बार इधर खीचेगी, फिर ढीली छोडेगी, इस प्रकार खीचना और छोडना यह दोनो क्रियाएँ बराबर चलती रहेगी तो दही बिलोया जायेगा और मक्खन आ जायेगा। यदि वह कहे मै तो खीचती ही रहूँगी, छोडूँगी नही, तो क्या दही बिलोया जायेगा? नही। एक आचार्य ने कहा है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी-नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी ।

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

दही विलोने वाली ग्वालिन जैसे मथनी को एक हाथ से खींचती है, फिर उसी हाथ मे ढीली छोड़ देती है इसी प्रकार स्याद्‌वाद में विश्वास रखने वाला जैन कभी एक धर्म को मुख्यता देता है और कभी-कभी उसे गौण कर दूसरे धर्म को मुख्यता देता है तो वही सत् तत्वरूप नवनीत प्राप्त कर सकता है ।

सप्तभंगी

मैंने बताया आपको कि जैन धर्म कभी किसी बात का आग्रह नहीं सिखाता, वह समन्वय सिखाता है । एक ही बात को अनेक दृष्टियों से समझने की सोचने-परखने की कला सिखाता है ।

सोचिए—एक आदमी यहाँ खड़ा है, इतने में एक लड़का आता है और कहता है—"पिताजी आप कहाँ जा रहे हैं ?" तभी एक नौजवान आता है और उसे पुकारता है—"भैया ! किधर चले ?" इतने में ही एक वृद्ध पुरुष आया और बोला—"बेटा ! किधर जाने का विचार है ?" तभी कोई उसे 'काका' कोई 'मामा', कोई 'सेठ' एवं कोई 'लाला' कहकर पुकारते हैं, आप सोचते होंगे यह क्या माजरा है ? एक ही आदमी, बेटा भी, बाप भी, भाई भी और काका भी ! यह सब कैसे हो सकता है ? पर यह हो रहा है । सब अपनी-अपनी अपेक्षा से उसे इच्छित संबोधन करते हैं और सब ही अपनी अपेक्षा से सही है । यही जैन धर्म की भाषा में—**'अस्ति-नास्तिवाद'** है, **अपेक्षावाद** है, और **नयवाद** है । जिस लड़के के लिए वह पिता है, (अस्ति रूप है) उसी के लिए वह पुत्र नही है (नास्ति रूप है) किंतु लड़का कहे कि मेरे पिताजी को कोई पुत्र कहे तो गलत है, यदि वह दूसरे धर्म का निषेध करता है तो वह उसका कथन गलत है । नयवाद यही सिखाता है **"एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि-निषेध-कल्पना सप्तभंगी ।"**—(सप्तभंगी तरंगिणी) एक ही वस्तु में, दूसरे धर्म का विरोध नहीं करके अपने-अपने धर्म (विषय-

हाथ फिराने वाले को वह कोठी जैसा ही लगा है—इसलिए एक-एक अपेक्षा से तुम सब सच्चे हो, पर दूसरों को भी गलत मत कहो, तुम सबने हाथी के एक-एक अग को छुआ है सपूर्ण हाथी को नही, सब अगो को मिलाने से ही पूरा हाथी बनता है।"

अधो को अपनी भूल समझ मे आई और उनका झगडा शात हो गया।

भाइयो! इसी प्रकार जब तक मनुष्य वस्तु के एक अश को देखकर उसका आग्रह करता है, तब तक वह भी उन अधो की गिनती मे है। और जब दूसरे की बात को समझकर समन्वय करने की चेष्टा करता है तो वह उस आँख वाले सत्पुरुष की भाति सब झगडा शात करने वाला हो जाता है।

ससार के देशो मे, राज्यो मे, समाज व धर्म-सम्प्रदायो मे जितने भी झगडे होते है उन सबकी मूल जड यह 'ही' ही है। घर मे एक सास है, बहू है। यदि सास कहे, घर मे मेरा ही हुक्म चलेगा, मै ही घर की मालकिन हूँ, और बहू कहे नही, तुम्हारा कुछ नही, घर की स्वामिनी तो मै ही हूँ, मेरा ही हुक्म चलेगा, तो क्या नतीजा होगा ? घर कुरुक्षेत्र बन जायेगा ? वहाँ रात-दिन सास-बहू की तकरारे चलेगी और कोई भी शाति व चैन मे नही रह सकेगा। किंतु यदि इस 'ही' की जगह 'भी' को दोनो अपनाये तो ? सास कहे, बहू! मै भी मालिक हूँ और तू भी है, कुछ बात मेरी भी चलेगी और कुछ तेरी भी चलेगी, तो दोनो मे समझौता रहेगा और घर की व्यवस्था बराबर चलती रहेगी।

आप कल्पना करिए—एक ग्वालन बडा मटका भर के दही मथ रही है, उसको बिलोकर मक्खन निकालना चाहती है तो क्या करेगी ? वह मथनी की रस्सी से एक बार इधर खीचेगी, फिर ढीली छोडेगी, इस प्रकार खीचना और छोडना यह दोनो क्रियाएँ बराबर चलती रहेगी तो दही बिलोया जायेगा और मक्खन आ जायेगा। यदि वह कहे मै तो खीचती ही रहूँगी, छोडूँगी नही, तो क्या दही बिलोया जायेगा ? नही। एक आचार्य ने कहा है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी-नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी ।

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

दही विलोने वाली ग्वालिन जैसे मथनी को एक हाथ से खींचती है, फिर उसी हाथ मे ढीली छोड़ देती है इसी प्रकार स्याद्‌वाद में विश्वास रखने वाला जैन कभी एक धर्म को मुख्यता देता है और कभी-कभी उसे गौण कर दूसरे धर्म को मुख्यता देता है तो वही सत् तत्वरूप नवनीत प्राप्त कर सकता है ।

सप्तभंगी

मैंने बताया आपको कि जैन धर्म कभी किसी बात का आग्रह नहीं सिखाता, वह समन्वय सिखाता है । एक ही बात को अनेक दृष्टियों से समझने की सोचने-परखने की कला सिखाता है ।

सोचिए—एक आदमी यहाँ खड़ा है, इतने में एक लड़का आता है और कहता है—"पिताजी आप कहाँ जा रहे हैं ?" तभी एक नौजवान आता है और उसे पुकारता है—"भैया ! किधर चले ?" इतने में ही एक वृद्ध पुरुष आया और बोला—"बेटा ! किधर जाने का विचार है ?" तभी कोई उसे 'काका' कोई 'मामा', कोई 'सेठ' एवं कोई 'लाला' कहकर पुकारते हैं, आप सोचते होंगे यह क्या माजरा है ? एक ही आदमी, बेटा भी, बाप भी, भाई भी और काका भी ! यह सब कैसे हो सकता है ? पर यह हो रहा है। सब अपनी-अपनी अपेक्षा से उसे इच्छित संबोधन करते हैं और सब ही अपनी अपेक्षा से सही है । यही जैन धर्म की भाषा में—**'अस्ति-नास्तिवाद'** है, **अपेक्षावाद** है, और **नयवाद** है । जिस लड़के के लिए वह पिता है, (अस्ति रूप है) उसी के लिए वह पुत्र नही है (नास्ति रूप है) किंतु लड़का कहे कि मेरे पिताजी को कोई पुत्र कहे तो गलत है, यदि वह दूसरे धर्म का निषेध करता है तो वह उसका कथन गलत है । नयवाद यही सिखाता है **"एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि-निषेध-कल्पना सप्तभंगी ।"**—(सप्तभंगी तरंगिणी) एक ही वस्तु में, दूसरे धर्म का विरोध नहीं करके अपने-अपने धर्म (विषय-

सम्बन्ध) की कल्पना करना नय है, इसके सात भग होते हैं, इसलिए इसे सप्तभगी कहा गया है ।

मै अधिक विस्तार मे नही जाऊँगी । सक्षेप मे आपको यही बताना चाहती हूँ कि अनेकातवाद, वास्तव मे ही हमारी एक सुन्दर दर्शन पद्धति है, जो वस्तु के प्रत्येक स्वरूप को उसके विभिन्न पहलुओ से देखना सिखाती है । स्याद्वाद उसीकी वचन पद्धति है । अर्थात् अनेकात पद्धति से जो वस्तुस्वरूप समझा जाता है, उसे स्याद्वाद पद्धति मे बताया जाता है । जिस वस्तु का कथन करना है, उसकी मुख्यता लेकर अन्य बातो की अपेक्षा कर देना यह स्याद्वाद या नयवाद है ।

हमे जीवन मे इन दोनो बातो को समझना है । हमारी दृष्टि भी सतुलित और सम्यग् होनी चाहिए ताकि हर वस्तु स्वरूप को सही रूप में समझ सके, और कहने की शैली भी समन्वय पूर्ण होनी चाहिए । यदि ये दोनो बाते आपके-हमारे जीवन मे आ जाती है तो आज सम्प्रदायो के, परिवारो के जितने कलह हो रहे है, वादविवाद और बहसबाजी मे सिर फुटौवल हो रही है वह नही हो । उर्दू के शायर अकबर ने कहा है—

मजहबी बहस मैने की ही नहीं ।
फालतू अक्ल मुझमे थी ही नहीं ।

इस मजहबी बहम का अत तभी हो सकता है जब हम स्याद्वाद और अनेकात मार्ग को समझे । यही जीवन की आचारशुद्धि और विचारशुद्धि का मूल मत्र है—

जीवन की आचार-शुद्धि है,
निर्भर सदा विचार-शुद्धि पर ।
और विचार-शुद्धि की गति भी,
आधारित है नय की मति पर ।

४ | जगत्-चक्र की धुरी : कर्मवाद

वंधुओ !

कभी-कभी आप लोग यह दोहा सुनते होंगे ?—

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय ।
कर्म-मैल का आन्तरा बूझे विरला कोय ।

जैन दर्शन का यह निश्चित सिद्धान्त है कि संसारी जीव और सिद्ध में स्वरूप दृष्टि से कोई भेद नहीं है । दोनों की आत्मा एक समान ही अनन्त-ज्ञान-दर्शन अनन्त सुख से सम्पन्न है ।

आप कहेंगे—सिद्ध और संसारी में भेद तो दिखाई दे रहा हैं, एक परम विशुद्ध उज्ज्वल आत्मा है, एक मलिन आत्मा है । हां, यह उज्ज्वलता और मलिनता का भेद ही तो उन्हें सिद्ध और संसारी की कोटि में ले जाता है । पर यह भेद वास्तव में मूल भेद नहीं हैं । यह है कर्मों के कारण । एक आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर परम उज्ज्वल वन गई है, दूसरी आत्मा कर्म-मल से आवृत्त होकर संसार में भ्रमण कर रही है । इसीलिए कवि ने कहा है—

"कर्म-मैल का आन्तरा बूझे विरला कोय ।"

ईश्वर और कर्म

आप पूछेंगे कि यह 'कर्म-मैल' का क्या झमेला है। कर्म कौन है ? वह क्या करता है, और उसका स्वरूप क्या है ? मै आज इन्ही प्रश्नो पर आपके सामने प्रकाश डालू गी।

हमारे भारतवर्ष मे दो प्रकार की विचार-धारा चलती रही है, एक ईश्वरवादी विचार धारा और दूसरी अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी कहते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दु खयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

यह जीव बिचारा अज्ञानी और दीन है, इसके सुख-दुख की डोरी तो ईश्वर के ही हाथ मे हैं। जैसे बालक पतग की डोर पकडकर उसे जी चाहे तो ऊपर चढने देता है, और जब जी चाहे तब नीचे उतार लेता है, पतग बालक के हाथ का एक खिलौना है, वैसे ही यह जीव ईश्वर के हाथ का एक खिलौना है, वह चाहे तो इसे स्वर्ग के नन्दन वन मे भेज सकता है, चाहे तो नरक कुण्ड मे ढकेल सकता है। यह प्राणी ईश्वर के हाथ का पतग है, गुडिया है, उसका दास है।

ईश्वरवादी विचार धारा मे कुछ लोगो ने सशोधन किया, और यह कहा, कि स्वर्ग और नरक के योग्य कर्म तो जीव स्वय करता है, किंतु इनका फल ईश्वर देता है। न्यायदर्शन के कर्ता अक्षपाद ऋषि ने कहा है—

"ईश्वरः कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्

—न्यायदर्शन ४।१

जीव को कर्मों का फल ईश्वर देता है, इसलिए वही ससार का नियता है। सत तुलसीदास जी यही बात कहते हैं—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी,
ईस देई फल हृदय विचारी।

अनीश्वरवादी दर्शन इस बात का खण्डन करने के लिए बडे पैने तर्क देते हैं। उनका कहना है, ईश्वर को जब रागद्वेष से रहित मानते हो, तो उसे क्या पडी है कि वह किसी व्यक्ति को नरक मे भेजे और किसी को स्वर्ग मे

भेजे ? नरक-स्वर्ग में भेजना, सुखदुःख देना तो राग-द्वेष से युक्त व्यक्ति का काम है । तब कुछ लोग कहते हैं, ईश्वर अपनी मर्जी से नरक-स्वर्ग में नहीं भेजता, किंतु जैसा जिसका कर्म होता है, वह न्यायाधीश की तरह वैसा ही उसका फल चखा देता है । लेकिन भाई ! यह भी बात कोई समझ में नहीं आती, जब कर्म को मानते हो, तो फिर ईश्वर को बीच में क्यों लाते हो ? एक चोर चोरी करता है, और फिर पकड़ा जाने पर उसका दंड पाता है । आपके हिसाब से चोर में चोरी करने की बुद्धि भी तो ईश्वर ने जगाई, और उसे पकड़ाकर दंड भी ईश्वर ने दिया, तो यह तो कोई न्यायी शासक का कार्य नहीं है, कि पहले अपराध करने की प्रेरणा दे और फिर उन्हें पकड़कर दंड दें । पहले तो किसी में मिर्च खाने की इच्छा जगाए और फिर बिचारे का मुँह जला दे ।

अनीश्वरवादी दर्शन यह कहते हैं कि ईश्वर को कर्ता हर्ता मानने की कोई जरूरत भी नहीं । प्राणी जो कुछ करता है वह स्वयं की प्रेरणा से ही करता है, और जैसा करता है वैसा फल भी स्वयं पाता है—जैसा बोये वैसा काटे—इसके बीच में ईश्वर को लाने की कोई जरूरत नहीं ।

अनीश्वरवाद का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर को नही मानना । किंतु ईश्वर को सुख-दुख का कर्ता नहीं मानना इतना ही इसका अर्थ है ।

प्रश्न होता है फिर संसार में जो विचित्रता, विभिन्नता दिखाई देती है, एक प्राणी सुखी है, महलों में बैठा आनन्द कर रहा है, वह तरह-तरह के मिष्टान्न और व्यंजनों का उपभोग कर रहा है, और कोई दाने-दाने को तरस रहा है—

कोई राजा कोई भिखारी है
कोई रानी, कोई पनिहारी है
कोई फटा टाट नहीं पाया है
कर्मों की सारी माया है ।

यह विचित्रता और भेद क्यों है ? जैन दर्शन ने इसका उत्तर दिया है—

कर्म। भगवान महावीर ने कहा है—"कम्मुणा उवाही जायइ"[1]—ससार मे जितनी उपाधियाँ है, सुख-दुख है, उन सबका मूल कर्म है। जितनी भी विचित्रताएँ है, वे सब कर्म के कारण ही है।

"कम्माओ ण भते। जीवे विभत्ति भावं परिणमइ।[2]

कर्म से ही सब जीव तरह तरह के विचित्र रूप को प्राप्त होते है। यह ससार कर्म प्रधान है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा
जो जस करहि सो तस फल चाखा।"[3]

कर्म का स्वरूप

प्रश्न होता है—जैसे ईश्वरवादिओ ने ससार की विचित्रताओ का कारण 'ईश्वर' को बताया है, वैसे आपने ईश्वर की जगह 'कर्म' को बैठा दिया? आखिर फर्क क्या पडा। **"तेरी मेरी बोली मे इत्ता ही फरक, तू कहे फरिश्ता मैं कहूँ नरख"**—वैसे एक ने कहा ईश्वर, एक ने कहा कर्म।" आखिर एक सत्ता तो आपने मान ही ली?

इसका समाधान है ईश्वर जहाँ प्राणी के ऊपर की सत्ता है, वहाँ कर्म स्वय प्राणी का किया हुआ है। ईश्वर स्वय रागद्वेष से मुक्त है, फिर वह क्यो किसी को सुखी दुःखी बनायेगा। कर्म स्वय मे कोई अलग सत्ता नही है, प्राणी स्वय उसे कर्ता है, इसलिए 'कर्मवाद' को मानने से प्राणी ईश्वर के हाथ की कठपुतली नही बनता, किंतु स्वय के भाग्य का स्वय ही निर्माता सिद्ध होता है।

कर्म की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है—

"कीरइ जिएण हेउहि जो ण तु भण्णए कम्म।[4]

जीव के द्वारा जो किया जाता है, इस कारण वह 'कर्म' कहलाता है। जैसे चिकना वस्त्र, चुपडा हुआ शरीर अपने आस-पास के रजकणो को खीचकर अपने ऊपर चिपकाता जाता है वैसे ही रागद्वेष से युक्त आत्मा कर्म परमाणुओ

---

१ आचाराग सूत्र १। ३। १ २ भगवती सूत्र १२। ५

३ रामचरित मानस ४ प्रथम कर्मग्रन्थ गा १

को अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। अपने ही प्रयत्न से आकृष्ट किए वे कर्म परमाणु जीव के साथ ऐसे घुल-मिल जाते हैं जैसे दूध में पानी। और वे कर्म फिर आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति आदि गुणों को आवृत करते रहते हैं। जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को ढकते हैं वैसे ही कर्म आत्मा के निज स्वरूप को ढकने लगते हैं। इसलिए पहली बात तो यह है कि कर्म का कर्ता जीव स्वयं है—वही इन आवरणों को लाता है और वही इन्हें हटाता भी है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य
सुहाण य दुहाण य

—उत्तराध्ययन २० । ३७

आत्मा ही कर्म का कर्ता है, सुख-दुख का स्रष्टा है और वही उसको नष्ट करता है।

कर्म के भेद

जैनदर्शन में कर्म के अनेक भेद बताकर उसे अलग-अलग ढंग से समझाया गया है। मूलतः कर्म के दो भेद हैं, **द्रव्यकर्म** और **भावकर्म**।

आत्मा में रागद्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि जो परिणाम हैं, जो भाव हैं—उन्हें 'भाव कर्म' कहा जाता है। उन परिणामों एवं अध्यवसायों के द्वारा जो कार्मणवर्गणा के पुद्गल आकृष्ट होकर आते हैं, और आत्मा में रागद्वेष के निमित्त पाकर उसके साथ दूध-पानी की तरह घुलमिल जाते हैं उन्हें 'द्रव्य कर्म' कहते हैं।

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथागात्रम्।
राग-द्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम्।

—आचार्य हरिभद्र

जैसे मनुष्य के शरीर पर तेल चुपड़ा हुआ होने से, उड़ने वाले धूल के कण उसके शरीर पर चिपक जाते हैं वैसे ही रागद्वेष रूपी चिकनाई से युक्त आत्मा पर कर्मरूपी रजकण चिपक जाते हैं—बस यही आत्मा के साथ कर्म

का बध कहलाता है । अर्थात् भाव कर्म, द्रव्य कर्म को खीचकर आत्मा के साथ सम्बन्ध करता है । वैसे भावकर्म का निमित्त द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म का निमित्त भाव कर्म माना गया है । जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से फिर बीज उत्पन्न होता है, दोनो का सिलसिला बराबर चलता रहता है वैसे ही द्रव्यकर्म और भावकर्म का सिलसिला है ।

बधुओ ! यह बात आपकी समझ मे आई होगी, कि 'द्रव्यकर्म' जड़ है भाव-कर्म चेतन है । 'भाव कर्म' जीव के परिणाम है अत. जैसे परिणाम तीव्र या मद होगे वैसा हो कर्मबन्ध तीव्र या मद होगा । एक प्राणी ससार मे रहता हुआ भी ससार की विषयवासना से उदासीन रहता है, परिणामो मे विरक्ति रखता है उसका कर्मबध अल्प और अल्पतर होता है, जिसकी आसक्ति अधिक प्रबल होती है, उसको कर्मबध भी अधिक तीव्र होता है ।

अपने यहाँ भरत चक्रवर्ती का उदाहरण आता है । भगवान ऋषभदेव से एकबार किसी ने पूछा कि "अल्पारभी महारभी का अर्थ क्या है ? क्या महान् राज्यऋद्धि का भोग करनेवाला चक्रवर्ती महारभी है या अल्पारभी ?"

भगवान ने बताया—"जिसके परिणामो मे विषयो के प्रति उदासीन भावना हो, वह राज्यऋद्धि का पालन करते हुए भी अल्पारभी रह सकता है, और परिणामों मे आसक्ति की प्रबलता हो तो अल्पऋद्धि का भोग करने वाला भी महारभी हो सकता है ।"

भगवान की सभा मे एक स्वर्णकार ने पूछा—"भगवन् ! मैं अल्पारभी हूँ या महारभी ?

भगवान ने कहा—"तुम महारभी हो, तुम्हारे भावो मे आसक्ति प्रबल है ।"

फिर पूछा गया—"भरत चक्रवर्ती अल्पारभी हैं या महारभी ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"भरतचक्री महान् राज्यऋद्धि का उपभोग करता हुआ भी उससे बिल्कुल उदासीन भाव रखता है, इसलिए वह अल्पारभी है ।"

भगवान के कथन पर स्वर्णकार को लगा, देखो यहाँ भी पक्षपात है। भरत भगवान का पुत्र है इसलिए यह छह खण्ड का साम्राज्य भोगता हुआ अल्पारंभी और मैं एक साधारण गृहस्थ हूँ फिर भी महारंभी।"

भरतचक्री ने सुनार की भावनाओं को समझ लिया। उन्होंने उसे राज-सभा में बुलाया और एक कटोरा तैल से लबालब भरकर उसकी हथेली में धरवाया और कहा—"इस तेल के कटोरे को हथेली में लेकर अयोध्या नगरी के बाजार व चौराहों पर चक्कर लगाकर आओ! ध्यान रखना, यदि एक बूँद भी कहीं गिर पड़ी तो वहीं साथ के सिपाही तुम्हारी गर्दन उड़ा देंगे।"

धड़कते हुए कलेजे से सुनार सिपाहियों के पहरे में अयोध्या के बाजारों का चक्कर लगाता रहा। सम्राट के सामने जब पहुँचा तो सम्राट ने पूछा—'कहो! मार्ग में क्या देखा?"

सुनार—"महाराज! मुझे तो बस यही कटोरा पूरे रास्ते दिखाई दिया, और कुछ नहीं देख पाया। थोड़ी-सी नजर इधर-उधर हो जाती तो मौत सामने खड़ी थी।"

सम्राट ने गंभीरतापूर्वक उसकी ओर देखा, और पूछा—"कुछ समझे?"

"महाराज! मैं तो कुछ नहीं समझा!" सुनार ने कहा।

देखो, तुम्हें जिस प्रकार मौत सामने दिखाई दे रही थी, इसलिए तुम्हारा सब ध्यान कटोरे पर ही केन्द्रित हो रहा था, वैसे ही मुझे प्रतिक्षण संसार में मृत्यु का दर्शन हो रहा है, इसलिए मेरा समस्त ध्यान आत्मा के केन्द्र पर लगा हुआ है। बाहर में ये जो चक्रवर्ती के भोग-विलास तुम्हें दिखाई दे रहे हैं और तुम्हें लगता है कि मैं कितना आनन्द कर रहा हूँ। पर दर असल, मैं तो बड़ी उदासीनता के साथ उनका भोग कर रहा हूँ। मेरा केन्द्र तो आत्मा है।"

हाँ, तो मैं यही बात कहना चाहती थी कि जो व्यक्ति भोग-विलास की साधन सामग्रियों के बीच रहते हुए भी जल में कमल की तरह जीवन जीते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म का बंधन बहुत हल्का करते हैं। शीघ्र ही वे कृतकर्मों की निर्जरा भी कर डालते हैं।

बधुओ ! जैन धर्म का 'कर्मवाद' सिद्धान्त बहुत ही गहरा है । इसको समझने का यही तात्पर्य है कि हम जीवन मे समता, सहिष्णुता और वीतराग भाव का अभ्यास करे और जीवन मे किसी भी परिस्थिति मे दु खी और सतप्त न हो ।

विश्व मे जितनी भी विचित्रता है, वह सब कर्म जन्य है, जिसने जैसा कर्म किया, वैसा ही फल पाया । यदि कोई सुखी है तो उसे देखकर ईर्ष्या व डाह नही करना चाहिए, यह सोचना चाहिए कि उसने पूर्व जीवन मे तपस्या, दान, स्वाध्याय आदि शुभकर्म किये है, उसी का फल भोग रहा है । हमे जो सुख प्राप्त है वह भी पूर्व-कृत सुकृत का परिणाम है । इस पर अहकार कैसा ? और यदि किसी को दुखी-दीन-हीन देखते है तो उससे घृणा व नफरत नही करनी चाहिए, वहाँ भी यही सोचना चाहिए कि इसने पूर्वजन्म मे पाप, हिसा, असत्य आदि का सेवन किया है, यहाँ उसीका फल भोग रहा है । स्वय के दु ख एव कष्ट मे भी मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए और यही विचारना चाहिए कि मैंने पूर्व मे अवश्य ही दुष्कर्म किए है, उनका फल तो भोगना ही पडेगा । जो कर्जा किया है उसे चुकाना ही पडेगा । भगवान महावीर ने कहा है—

"जहा कडे कम्म तहासि भारे ।"

—सूत्र० ५ । २६

जिसके जैसे कृत-कर्म है, उसे वैसा ही फल मिलता है ।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण-फल-विवागा हवति
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्ण-फल-विवागा हवति

—दशाश्रुत स्कध ६

अच्छे कर्म किए हुये अच्छे फलदायी होते हैं, और बुरे कर्म, बुरे फल देने वाले ।

कबीरदास जी ने कहा है—

देख पराई चोपड़ी क्यों ललचावे जीव
रूखी-सूखी खाय के ठंडा पानी पीव ।

दूसरे का सुख देखकर तू क्यों ललचाता है, तुझे तो वही मिलेगा जो तेरे भाग्य में लिखा है, इसलिए जो प्राप्त हुआ है उसी में आनंद मना !

भाग्य और पुरुषार्थ

कुछ लोग कहते हैं, हम क्या करें, तकदीर में यही लिखा है। जो भाग्य में लिखा होगा वही होगा। इसलिए कुछ लोग भाग्यवाद पर भरोसा कर हाथ पर हाथ धर के बैठ जाते हैं। वे कहते हैं—चाहे कुछ करो या न करो, मिलेगा वही जो भाग्य में लिखा है। यदि प्रयत्न नहीं करोगे तब भी भाग्य का लिखा कहीं नहीं जायेगा। वे कहा करते हैं—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम

दासमलूका कह गये सबके दाता राम।

मैं सोचती हूँ यह नियतिवाद या भाग्यवाद की गलत समझ है। भाग्य का यह मतलब नहीं है कि कुछ भी मत करो, अपने आप वर्षा होगी, खेत में हल चल जायेंगे, अनाज पैदा हो जायगा, पक कर, कट कर घर में आजायेगा, पीस कर रोटी बन जायेगी और अपने आप आपके मुँह में रोटी चली आयेगी ? यदि भाग्य मे ही सब कुछ होता है, तो फिर रोटी अपने आप मुँह में आजानी चाहिए और पेट भर जाना चाहिए। पर देखते हैं, संसार में कितना प्रयत्न करना पड़ता है, भाग्य में खाना मिलना लिखा है, फिर भी उसके लिए प्रयत्न करना होता है।

हाँ, केवल प्रयत्न भी कुछ नहीं कर पाता। भाग्य यदि विपरीत है तो दमतोड़ प्रयत्न के बाद भी आदमी सफल नहीं हो पाता। कहावत है—

भाग्यहीन खेती करे,

काल पड़े या बैल मरे।

तो भाग्य के साथ पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के साथ भाग्य इन दोनों का मेल होना जरूरी है।

'कर्म' को भाग्य के रूप में मानने से यह लाभ होता है कि मनुष्य न तो अपनी सफलता पर अहंकार करे कि मैंने यह कर दिया, वह कर दिया, वह

सोचता है, यह तो भाग्य था, पुण्य का सयोग था, हो गया। इसप्रकार कर्तृत्व का अहकार नही आने पाता। और न मन दीनता से कुंठित होता है। सफलता नही मिलने पर भी वह सोचता है कोई बात नही, भाग्य ने साथ नही दिया, पुण्य का योग नही था, या ऐसा ही होना था, तो हो गया उस पर रोष या दीनता कैसी ?

को सुख, को दुख देत है, देत कर्म झकझोर
उलझे-सुलझे आप ही ध्वजा पवन के जोर।

इस तरह भाग्य को अर्थात् नियति को, जिसे कर्मवाद की भाषा मे 'निकाचित कर्म' कहते हैं, वे मनुष्य के सुख-दुख का अटल हेतु लिए होते है। किंतु उस भाग्य का करने वाला तो स्वय पुरुष है, यदि पुरुष पुरुषार्थ नही करेगा तो भाग्य की लिपि कौन लिखेगा ? भाग्य का निर्माण पुरुषार्थ से होता है, उद्यम से होता है। आप जैसा पुरुषार्थ, पराक्रम या उद्यम करेंगे वैसा ही आपका भाग्य बन जायेगा। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

खुदी को कर बुलुन्द इतना कि हर तकदीर से पहले।
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है ?

तो यह खुदी, जिसे हम तदवीर या पुरुषार्थ कहते हैं, वही हमारी तकदीर का निर्माण करती है। इसलिए जैन धर्म के 'कर्मवाद' मे दोनो को समान महत्व दिया है।

हाँ, तो यह कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत ही गहरा और बड़ा ही सूक्ष्म है। ससार चक्र की समस्त गतिविधि का नियामक यही 'कर्म' है। कर्मवाद पर विश्वास करने वाला अपने सुख-दुख का दायित्व किसी दूसरे पर नही डालता। वह सोचता है—

जं जारिस पुव्वमकासि कम्मं
तमेव आगच्छति सपराए।

—सूत्र० ५। २६।

जिसने जैसा कर्म किया, वही वर्तमान जीवन मे फल के रूप मे उसे मिलता है। इस कारण कर्मवादी का मन अपना उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले

लेता है। वह सुख-दुख में घबराता नहीं, निराश नहीं होता, वह जानता है, 'कर्म' चक्र की तरह घूमता है, छाया की तरह चलता है, सुख के बाद दुःख है तो दुःख के बाद सुख भी है। इसलिए वह दुःखों में कभी दीन नहीं होता। आचार्य देवचन्द्र जी ने कहा है—

रे जीव, साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन।
सुख-दुख, आपद-सम्पदा, पूरब कर्म अधीन।

'कर्मवाद' का रहस्य समझने वाला, जीवन के हर क्षण में, खुशी और गमी की घड़ियों में सदा प्रसन्न और आत्मलीन रहता हुआ जीवन को एक खेल की तरह खेलता जाता है। और अपने को तथा संसार को सही मार्ग दिखाता है।

५ सब धर्मों का सार : अहिंसा
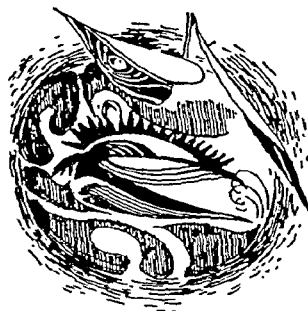
एक विचारक से किसी जिज्ञासु ने पूछा—धर्म क्या है ? विचारक ने उत्तर दिया—"अहिंसा परमो धर्मः ।"—अहिंसा यही धर्म है, यही परम धर्म है।

जिज्ञासु ने पुन पूछा—"अहिंसा क्या है ? विचारक ने जिज्ञासु के हाथ मे एक सुरभित फूल दिया और कहा – यह फूल तुम्हे पसद है ! तुम इसे अपने मित्रो और सम्बन्धियो के लिए भी पसद करोगे ?

क्यों नही ? यह तो सब को ही पसद आयेगा—जिज्ञासु ने कहा ।

विचारक ने एक तीखा काटा लेकर जिज्ञासु की हथेली मे चुभा दिया । जिज्ञासु तिलमिला उठा । यह क्या कर रहे है आप ?

क्यो भाई ! तुम्हें यह पसद नही ?—विचारक ने पूछा ।

"नही ! यह काटा किसे पसद होगा ? इसे तो कोई भी पसद नही करता" —जिज्ञासु ने कहा ।

विचारक ने कहा—"बस ! यही अहिंसा है। तुमने पूछा—कि अहिंसा क्या है ? यही मैंने बताया है कि जैसे तुम अपने लिए फूल को पसद करते हो, किन्तु काटा—शूल पसद नही करते, वैसे ही दूसरो के लिए भी सोचो !

उन्हें भी तुम्हारी तरह फूल ही पसंद है, काँटा पसंद नहीं। शास्त्र की भाषा में—

जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पणतो

तं इच्छ परस्स वि एत्तियग्गं जिणसासणयं ॥[1]

जो चीज तुम अपने लिए चाहते हो, और जो अपने लिए नहीं चाहते, बस इसी परसे धर्म का, अहिंसा का ज्ञान करो कि दूसरों के लिए भी वही चाहो, वही करो, जो अपने लिए चाहते हो, अपने लिए करते हो।

यही बात मनुस्मृतिकार महाराज मनु ने कही है—

आत्मनःप्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

जो अपने लिए अनुकूल नहीं है, उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो। महाकरुणावादी बुद्ध से भी जब अहिंसा के बारे में पूछा गया तो उन्होंने भी यही कहा—

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।[2]

जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये दूसरे हैं, और जैसे ये हैं, वैसा ही मैं हूँ, बस धर्म की यही तुला है कि सब को अपने समान सुख-दुःख का आकांक्षी समझ कर उनके साथ वैसा ही व्यवहार-वर्ताव करो, जैसा तुम उनसे चाहते हो।

आत्म-समानता का सिद्धान्त

अहिंसा में विश्वास रखने वाले प्रत्येक धर्म ने, चाहे वह जैन हैं, बौद्ध हैं, वैदिक हैं, या ईसाई, इस्लाम और यहूदी हैं, यही बात कही है कि अहिंसा का माने है—आत्म समानता की भावना। दूसरों को अपने समान समझे, दूसरे के दुःख दर्द को अपने कलेजे का दर्द समझे वास्तव में वही सच्चा अहिंसक हो सकता है। कहा है—

---

१ बृहत्कल्पभाष्य ४५८४. २ सुत्तनिपात २।३।७।२७

खंजर चले किसी पं, तड़पते हैं हम अमीर।
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर मे है।

भगवान् महावीर ने हिंसा-अहिंसा का विवेचन करते हुए कहा है—

तुम सि नाम तं चेव ज हंतव्व ति मन्नसि
तुमं सि नाम त चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि
तुम सि नाम त चेव ज परियावेयव्व ति मन्नसि

—आचारांग १ । ५ । ५

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

यह जैन धर्म की अद्वैत दृष्टि कहिए, या आत्म-समानता की भावना कहिए—अहिंसा का मूल है। मनुष्य यदि किसी से घृणा करता है, नफरत करता है, किसी का दमन और उत्पीडन करता है, तो वह दूसरों का नही, वास्तव मे अपना ही दमन-उत्पीडन कर रहा है। कुएँ मे यदि आप ध्वनि करते हैं, तो लौटकर प्रतिध्वनि वैसी ही आपके पास आयेगी। इसी प्रकार यदि दूसरो के साथ आप हिंसा, क्रूरता आदि का व्यवहार करते है तो याद रखिए आपके साथ भी ससार मे वैसा ही व्यवहार होगा। दूसरो को अशांति देने वाला स्वय शांति के साथ कैसे रह सकता है। दूसरो के घर उजाडने वाला यदि सोचे मेरा घर आबाद रहे तो यह नामुमकिन है।

अहिंसा के दो रूप

इसलिए यदि कोई प्राणी अपना सुख चाहता है, अपना जीवन आनन्द मे गुजारना चाहता है तो उसे जीवन मे अहिंसा, आत्म-समानता की भावना लानी होगा, अपने ऊपर सयम करना होगा अपनी सीमाओ को निश्चित करना होगा। अहिंसा का एक अर्थ है 'स्व' की सीमा मे रहना। जैसे आपको अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना जीवन अच्छा लगता है, और उसके लिए आप सुख सुविधाएँ जुटाते हैं। किंतु यदि आप अपने सुख के लिए दूसरो का सुख लूटने

की कोशीश करेंगे तो ? अपनी इच्छापूर्ति के लिए दूसरों की इच्छाओं को कुचलने लगेंगे तो, विद्रोह जन्मेगा, क्योंकि आपने अपनी 'स्व' की सीमा को तोड़कर 'पर' की सीमा में प्रवेश कर दिया। 'पर' पर आक्रमण कर दिया। 'पर' यदि आपसे बलवान होगा तो वह उलटा आप पर आक्रमण कर आपको ही अपना शिकार बना लेगा, फिर परस्पर संघर्ष, युद्ध, वैर की परम्परा चालू होगी। और 'पर' यदि कमजोर होगा तो भले ही वह आपके आक्रमण का उत्तर न दे सके, किंतु उसके मन में आपके प्रति घृणा, नफरत और विद्वेष के संस्कार जग जायेंगे और जब भी मौका लगेगा वह बदला लेने की चेष्टा करेगा। इसलिए जो 'स्व' की सीमा का उल्लंघन करता है, वह अपने लिए सर्वत्र वैर, द्वेष, घृणा और नफरत के बीज बोता है। 'स्व' की सीमा में रहने को ही 'संयम' कहा गया है। इच्छाओं का दमन करना, किसी को नहीं सताना, किसी को पीड़ा नहीं देना यह सब 'स्व' की सीमा है, और यही आत्म-संयम है। अहिंसा का यह एक पहलू है—किसी को नहीं मारना।

मैत्री-करुणा

यह बात नहीं है कि किसी को नहीं मारना—इतनी ही अहिंसा है। अहिंसा एक बहुत व्यापक और विशाल सिद्धान्त है। 'नहीं मारना' यह तो अहिंसा का एक निषेध पक्ष है। अहिंसा का दूसरा विधि पक्ष भी है, वह है—मैत्री, करुणा, और सेवा।

भगवान महावीर महान् मैत्रीवादी थे। विश्वमैत्री में उनका विश्वास था। उन्होंने अपने प्रवचनों में स्पष्ट कहा है—**मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ**—जगत के समस्त प्राणियों के साथ मेरी मित्रता है, मेरा कोई भी दुश्मन व शत्रु नहीं है।

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने से मनुष्य संसार में निर्भय होकर विचर सकता है। कहते हैं ऋषि लोग जंगल में तपस्या करते हैं तो उनके पास सिंह आदि क्रूर जानवर भी आकर शांत होकर बैठ जाते हैं। यह हो सकता है, चूँकि मैत्रीभाव का पूर्ण विकास होने पर हृदय का वैर-विद्वेष आदि समाप्त हो जाता है। और हृदय मैत्री के अमृत से लबालब भर जाता

है। जहाँ मैत्री है, वहाँ चाहे पशु भी हो, भय नही खाता। क्रूर से क्रूर प्राणी भी मैत्री भावना के समक्ष सरल और शात बन जाता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में कहा है—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः

अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके समक्ष सब वैर-विरोध शान्त हो जाते हैं।

बधुओ! यह अहिंसा का चमत्कार है, और कोई भी इसका अनुभव कर सकता है। जिसके मन में वैर-विरोध नही, द्वेष-घृणा नही संसार में उसके लिए सर्वत्र प्रेम, स्नेह एव सम्मान के फूल बरसते मिलेंगे।

इस प्रकार करुणा और सेवा अहिंसा का विधि पक्ष है। जिस हृदय में करुणा नही, जो दूसरो का दुःख देखकर भी पिघलता नही, वह मनुष्य हृदय नही, पत्थर से भी बदतर है। आज संसार में जितनी हत्या बढी है, हिंसा बढी है, गोवश का नाश हो रहा है वह सब करुणा की कमी का ही कारण है। करुणावादी मनुष्य स्वय तो यह हिंसा करता ही नही, किंतु वह इस नृशस हिंसा को बर्दाश्त भी नही कर सकता।

गोरक्षा और अहिंसा

मेरे धर्मप्रेमी भाइओ! आज जब मैं इस हिन्दुस्तान की भूमि पर, इस पवित्र पुण्यस्थली पर, जिस पर महावीर और बुद्ध से महाकारुणिको ने जन्म लिया, राम और कृष्ण से दया करुणा के अवतार जन्मे, उस भूमि पर गोवश की नृशस हत्या होती देखती हूँ, गाय के रक्त से भूमि को लाल होती देखती हूँ तो मेरा कलेजा भर आता है। सोचती हूँ यह भारत वह नही है, जिस पर राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर ने जन्म लिया था, जिस भारत में अहिंसा मैत्री का सदेश गूँज उठा था। जिस भारत की भूमि पर प्राणी मात्र को बधु और मित्र समझने का उपदेश दिया गया था, क्या आज यह वही भारत है जहाँ पर मनुष्य के भोजन के लिए, उसकी उदरपूर्ति और वासना पूर्ति के लिए गाय का कलेजा चीरा जाता है। जिस गाय की सेवा के लिए महाराज दिलीप

और रघु ने वरदान माँगे थे, और जीवन भर जिस गौ की माँ की तरह पूजा की थी ! क्या आज उनकी संतान के द्वारा ही उस गौवंश का विनाश किया जा रहा है ?

आपको ज्ञात होना चाहिए. प्राचीन युग में अपने पूर्वजों ने गौ-सेवा का महान् व्रत लिया था। भगवान महावीर के लाखों श्रावकों में १० श्रावक सबसे मुख्य थे, ऐसा वर्णन आता है। उनमें भी आनंद श्रावक सबसे प्रमुख और प्रथम श्रावक था। वह किसान था। खेती और गौरक्षा ही उसका व्यवसाय था। गीता के शब्दों में—**कृषि-गौरक्ष-वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्**— कृषि, गौरक्षा और व्यापार ये व्यवसाय उसका खानदानी व्यवसाय था। हाँ तो उस आनंद श्रावक ने जब अपने धन, भूमि, पशु दास आदि की सीमा की थी, परिग्रह परिमाण व्रत धारण किया था उस समय उसने अपने पास कितनी गायें रखी थी ज्ञात है आपको ? उसके पास गायों के दस गोकुल थे, और एक-एक गोकुल में दस हजार गायें रहती थीं ?[1] इसका अर्थ है एक ही आनन्द श्रावक के आश्रय में एक लाख गायों का पालन होता था। और सिर्फ आनंद ही क्या, दस श्रावकों का जो वर्णन आता है, उसमें सभी के पास बड़े-बड़े गोकुल थे। और उनमें हजारों गायों की सेवा, पालन और रक्षा होती थी। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में करकंडु प्रत्येक बुद्ध का उल्लेख आता है। वह कंचनपुर का स्वामी था। उसे गौ पालन का बहुत शौक था। अनेक गोकुल थे उसके पास और वह स्वयं घूम-फिर उन गायों की देखभाल आदि की व्यवस्था की जाँच करता था।

मैं पूछती हूँ श्रावक कहलाने वाले किसी सेठ साहूकार को आज है गौपालन का शौक ! किसी को गौ-वंश से प्रेम है ? आज तो अधिकतर घरों में एक गाय भी मिलनी मुश्किल है। तो फिर आप अपने पुराने आदर्श को नहीं निभा पाये है यही कहना पड़ेगा।

---

१ उपासग दशा १

प्राचीन समय मे गौ की सेवा की जाती थी और उस गौ से शुद्ध दूध, दही, मक्खन प्राप्त होता था, जो मनुष्य को शारीरिक शक्ति देता और साथ ही सात्विक विचार जगाता। आज जब गौवश का ही नाश हो रहा है तो कहाँ मिलेगा शुद्ध दूध, घी ! और इसीलिए लोगो का स्वास्थ्य गिर रहा है। दवाइयाँ और ताकत की गोलियाँ खाकर नकली सेहत बना रहे हैं। मै अधिक क्या, इतना ही कहूँगी कि यदि भारतवासियो मे करुणा और अहिंसा की सच्ची भावना होती तो गौवश का इस प्रकार नाश नही होता। खेती का धधा चौपट नही होता और तब लोग क्यो हिंसा मासाहार आदि की ओर झुकते।

तो बधुओ ! अहिंसा, जो हमारे धर्म का सार है, सब धर्मो का मूल तत्व है, आधार भूमि है, वह यही सिखाती है कि आपके मन मे करुणा, स्नेह एव प्रेम की अखड धारा बहे, मैत्री की शीतल तरगे उठे और उससे विश्व की अशान्ति, हिंसा, द्वेष, घृणा की अग्नि शात हो। जीवन पवित्र, निर्मल एव आनन्दमय बने !

६ जन से जिन वनने का मार्ग : सेवा

उत्तराध्ययनसूत्र में एक स्थान पर भगवान महावीर स्वामी से पूछा गया है—

गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

—उत्तराध्ययन २९

भंते ! गुरुजन एवं साधर्मिक बन्धुओं की सेवा करने से जीव को किस पद की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान ने बताया है—गुरु-साधर्मिक की सेवा करनेवाला जीव हृदय से विनीत होता है। वह उनकी स्तुति-भक्ति-बहुमान करके उन्हें साता पहुँचाता है, और इससे वह मनुष्य एवं देवलोक की शुभगति को प्राप्त होता है, क्रमशः वह मोक्ष गति का भी अधिकारी बन जाता है।"

बंधुओ ! आप और हम जो त्याग-तपस्या करते हैं, कष्ट सहते हैं, उपवास आदि तप करते हैं, उसका उद्देश्य क्या है ? परलोक में अपार भोग-ऐश्वर्य पाना उसका लक्ष्य है ! नहीं न ? यह तो सकाम-तप होगया, हम लोग जो

ज्ञान पूर्वक तप करते है, वह निष्काम तप है, उसमे किसी प्रकार का कोई भौतिक प्रलोभन नही है, कोई सासारिक कामना नही है। उस तप-त्याग का तो एकमात्र उद्देश्य है, कर्म-निर्जरा के द्वारा आत्मा को उज्ज्वल बनाना। आत्मा जब परम उज्ज्वल बन जाता है तो अपने स्वरूप—अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ? मोक्ष प्राप्त करना ही हमारी सपूर्ण साधना का उद्देश्य है ?

कुछ भाइयो को जिनके मन मे तो मुक्ति की अभिलाषा है, किन्तु जब हम तप करने का उपदेश करती है तो कहते है—'महाराज ! भूखा तो नही रहा जाता ! सुबह उठते ही पेट तो पुकारने लगता है, जब तक पेट पूजा नही हो, तब तक किसी काम मे ध्यान ही नही लगता। इसलिए उपवास तो एक दिन का भी बडा कठिन है।"

उन्हे त्याग के लिए कहती है, ब्रह्मचर्य और सत्य का उपदेश देती है तो उसका भी आचरण बडा कठिन लगता है। ध्यान करने का कहती हैं तो उसमे भी मन नही लगता। वे कहते है—महाराज ! कोई सीधा सा रास्ता बता दो, जिसमे न भूखो मरना पडे, न मन को मारने की झझट हो और न कोई और कठिनाई हो, पर ऐसा धर्म बताओ कि 'चट रोटी पट दाल' बस आसानी से धर्म हो जाये और मुक्ति मिल जाये।

भाइयो ! मैं आज आपको एक ऐसा ही आसान रास्ता बताना चाहती हूँ, जिसमे बहुत कम कठिनाई है, और जो सीधा मुक्ति की ओर जाता है ! कहिए आपको ऐसा रास्ता चाहिए ?

जरूर ! जरूर ! ऐसा ही रास्ता बताइए।

मैं नही बता रही हूँ, भगवान महावीर स्वामी ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले ही आपके लिए यह रास्ता बता दिया था। इस रास्ते का नाम है—सेवा !

'सेवा' का मार्ग बहुत आसान है, इसमे न आपको उपवास, बेला तेला करके तन को सुखाने की जरूरत। न एक जगह बैठकर ध्यान लगाने की जरूरत ! यह तो ऐसा मार्ग है कि आप घूमते-फिरते, खाते-पीते भी मजे से इस मार्ग पर चल सकते है। प्रारम्भ मे मैंने जो भगवान महावीर का

प्रश्नोत्तर आपको बताया उसका अर्थ यही है कि साधक जो मुक्ति की भावना लेकर आगे बढ़ रहा है, वह चाहे घर में रहे, या साधु बने, भवन में रहे, चाहे वन में रहे, उसके मन में सेवा की भावना होना चाहिए। गुरुजन और साधर्मिक भाइयों के प्रति उसके मन में आदर और बहुमान होना चाहिए। उनके प्रति भक्ति होनी चाहिए, उनकी सेवा-शुश्रूषा करने की लगन होनी चाहिए, बस वह निष्कामभाव से सेवा करता हुआ एक दिन अवश्य ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त हो जाता है।

भक्तियोग और सेवायोग

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में साधना के तीन मार्ग बताये हैं—भक्ति, कर्म और ज्ञान। भक्ति—यह सबसे पहली भूमिका है। साधारण मन, जिसमें अभी तक ज्ञान की स्फुरणा नहीं जगी हो, और कर्म का विवेक भी जागृत नहीं हुआ हो, वह भी भक्ति कर सकता है। भक्ति में बहुत बड़े ज्ञान व बहुत प्रखर कर्म की आवश्यकता नहीं होती, बस इसमें तो तन्मयता होनी चाहिए, लीनता होनी चाहिए। बच्चा जिस प्रकार रातदिन मां की छाया में रहना चाहता है, बस इसी प्रकार भक्त निशदिन प्रभु की शरण में रहना चाहता है। खाते-पीते, सोते-बैठते, हर समय उसके मन प्रभु बसा रहता है। बच्चे के सामने कोई भी भय आता है तो वह तुरंत—मां मां पुकारता है, उसी प्रकार भक्त के सामने जब कोई भी 'संकट' आता है तो उसके मुँह से भी 'भगवान भगवान'! प्रभो! प्रभो!" यही पुकार निकलती है। भक्ति योग बड़ा सहज है, इसलिए इसे 'बाल योग' भी कहा गया है। कर्मयोग को 'युवायोग' तथा 'ज्ञानयोग' को 'स्थविरयोग' के नाम से पुकारा जाता है। हां तो मैं बता रही थी, गीता में, या वैदिक भक्ति परम्परा में, जिसमें तुलसी, सूर, मीरा जैसे अनेक भक्त हुए हैं, उसमें जो महत्व भक्तियोग का है, जैन परम्परा में वही महत्व 'सेवा योग' का है। उत्तराध्ययन का यह पाठ आपके सामने ही है कि सेवा करने से परम सुगति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, इससे भी आगे चलना हो तो इसी उत्तराध्ययन सूत्र के इसी अध्ययन के तैंतालीसवें बोल में पूछा गया है—

वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भते ! वैयावृत्य—सेवा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर मे कहा गया है—

वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्मं निबंधइ ।

सेवा करते-करते उत्कृष्ट भावना आती है तो जीव तीर्थङ्कर नाम कर्म का भी बध कर सकता है ?

अब देखिए—सेवा का कितना बडा फल है ? भगवान स्वय कहते है—सेवा करने वाला जीव मेरे जैसा ही तीर्थङ्कर हो सकता है, भगवान बन सकता है । प्रभु की भक्ति करने वाला भक्त सदा भक्त ही बना रहता है, जबकि हमारे यहाँ सेवा करने वाले को भगवान बनने का भी अधिकार दिया गया है, और डके की चोट कहा गया है कि जो साधक गुरु, साधर्मिक, रोगी, बालक, वृद्ध आदि की सेवा करता है, वह उत्कृष्ट सेवा भाव जगने पर भगवान का पद भी प्राप्त कर सकता है और निसदेह कर सकता है ।

सेवा का फल

एक सस्कृत की सूक्ति है—

सेवितव्यो महावृक्षः फल-छाया - समन्वितः
यदि दैवात् फल नास्ति छाया केन निवार्यते ?

महान् वृक्ष की सेवा करनी चाहिए, सेवा करने से उसके मधुर फल भी प्राप्त होते है, और शीतल छाया भी । यदि भाग्यवश फल न भी मिले तो कोई बात नही, उसकी छाया तो कही नही जाती ? छाया मे बैठने से तो कोई रोक नही सकता ?

बधुओ ! यही बात सेवा के क्षेत्र मे है । सेवा करने से मोक्षरूप भगवद् पद की प्राप्ति होती है, यदि समझ लीजिए वह मोक्ष न मिला तो सेवा के फल रूप मे भौतिक ऋद्धि-सिद्धि ऐश्वर्य की तो प्राप्ति कोई रोक ही नही सकता ? सेवा से आध्यात्मिक ऋद्धि रूप मोक्ष भी प्राप्त होता है । तीर्थङ्कर पद भी प्राप्त होता है और छाया की भांति भौतिक ऋद्धियां एवं ऐश्वर्य भी मिलता है ।

जैन ग्रन्थों को पढ़ने सुनने वाले भाई जानते हैं—भरत चक्रवर्ती का अपार ऋद्धि ऐश्वर्य और बाहुबली का असीम बल संसार में अद्वितीय था। पर वह किस पुण्यकरणी का फल था? यही सेवा का फल था? पिछले जन्म में उन्होंने गुरुजनों की तन-मन से सेवा की थी, जीवानंद वैद्य के भव में एक कुष्ठ रोग से पीड़ित मुनि की बड़ी अद्भुत परिचर्या उन्होंने की थी। दौड़धूप करके लक्षपाक तैल, रत्न कंबल जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर कुष्ठ रोग से पीड़ित मुनि की चिकित्सा की, उन्हें साता पहुँचाई और उनका कुष्ठ रोग शांत किया। इसी सेवा का अमृत फल भरत बाहुबली को प्राप्त हुआ—अपार ऐश्वर्य एवं असीम बल के रूप में।

नंदीषेण जी की कथा तो आप लोग सुनते ही रहे हैं। एक दीन-हीन-असहाय युवक, जिसे संसार में कहीं सिर छुपाने को भी कोई घर नहीं मिला, कोई आसरा नहीं मिला। जिसकी भौंड़ी सूरत देखकर लोग हँसते, मजाक करते, और कोई अपने पास दो क्षण खड़ा नहीं होने देता। ऐसा अपमानित और घृणित उनका जीवन! जब जीवन से घबराकर वह एक दिन पहाड़ की चोटी पर पहुँचा और वहाँ से छलांग मार कर नीचे गिर कर आत्महत्या करने की कोशिश करने लगा, तो एक मुनि ने उसे समझाया, पूछा—"भाई! क्या बात है? इस पहाड़ से छलांग मारकर कहाँ पहुँचना चाहता है?"

नंदीषेण घबराया हुआ-सा था, बोला—"महाराज! मैं इस संसार से ऊब गया, यहाँ कोई भी मेरा अपना नहीं है, मेरा गुजर इस संसार में नहीं हो सकता, और जब—

"गुजर की जब न हो सूरत
तो गुजर जाना ही बेहतर है।"

इसीलिए मैं मरना चाहता हूँ।"

मुनि ने प्यार से उसे समझाया—'मूर्ख! यों मरने से आगे क्या जिन्दगी की गुजर आसान हो जायेगी? आगे भी यही कठिनाई और यही हालत हो गई तो?

अब तो घबरा के कहते हो कि मर जायेंगे !
मर के भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे ?

मुनि की चेतावनी से नदीषेण रुका, मुनि ने उसे जिन्दगी को सुधारने का उपाय बताया—'सेवा !' मुनि ने कहा—"बस, सेवा मे जुट जा आज से ! जो भी रोगी, वृद्ध, बालक, असहाय कोई भी साधु सत मिले उनकी सेवा करता जा। सेवा का अमृत-स्पर्श पाकर बडे-बडे कोढी कचन वर्ण होगए, दरिद्र ऐश्वर्य सपन्न होगए और असख्य-असख्य भटकती हुई आत्माएँ सन्मार्ग पर आ गई।"

बस, नदीषेण मुनि बन गया और जुट गया सेवा मे। उसकी सेवाभावना मे अद्भुत जोश था, असीम श्रद्धा थी, और निष्ठा थी। दूर-दूर तक उसकी सेवा की ख्याति फैल गई। एक दिन दो देवता उसकी सेवा भावना की परीक्षा लेने आये। एक मुनि का रूप बनाकर उसके पास आया और बोला—"ऐ ढोगी नदीषेण ! मुझे मालूम है तू ढोग रचने के लिए बेले-बेले पारणा कर रहा है, और झूठ-मूठ सेवा का ढिढोरा पीटता है, एक मुनि तो जगल मे बीमार पडे है और तू यहाँ पारणा करने खाने पर जान दे रहा है।"

नदीषेण को साधुरूपधारी देव के कथन पर बिल्कुल क्रोध नही आया, उसने बेले का पारणा जो लाया था, वह रख दिया और वैसे ही चल दिया मुनि की सेवा करने। मुनि अतिसार से पीडित थे। चला नही जा रहा था। नदीषेण ने उन्हें अपने कधे पर बिठाया और बडी नम्रता, सेवा भावना के साथ स्थान पर लाकर उनकी सेवा की। वे उसे गालिया दे रहे थे, परेशान कर रहे थे, पर नदीषेण एक ध्यान से सेवा मे जुटे रहे। यह अद्भुत सेवानिष्ठा देखकर देवता का हृदय गद्गद् हो गया। रात्रि के अधकार मे जब मुनि एकात मे अकेले बैठे है, तब दिव्यप्रकाश के साथ देवता प्रकट हुआ—'महामुनि ! धन्य हैं आप ! धन्य है आपकी सेवानिष्ठा ! आपकी सेवा की अमरकीर्ति स्वर्ग तक पहुँच गई, वहाँ पर देवराज इन्द्र ने आपकी सेवा की प्रशसा की और हम उसकी परीक्षा लेने आये। किंतु मुनिवर ! जितनी प्रशसा सुनी, उससे प्रखर है आपकी सेवानिष्ठा ! धन्य है आपका जीवन !

यह है सेवा का चमत्कार ! जो नंदीषेण एक दिन—

गुजर की जब न हो सूरत
गुजर जाना ही बेहतर है—

मानकर आत्महत्या करने पर उतारू हो रहा था, सेवा ने उसके जीवन को परिपूर्ण बदल डाला। मरुस्थल के वीरान को नंदनवन बना दिया। घोर हलाहल को अमृत बना दिया।

गृहस्थ जीवन का सार

स्थानांग सूत्र में भगवान महावीर ने अपने शिष्यों को आठ सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं। उनमें एक महत्वपूर्ण शिक्षा है—**असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भु ट्ठेयव्वं भवई**[1]"—जो अनाश्रित है, असहाय है, बेसहारा है उनकी सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। जो मनुष्य होकर मनुष्य के काम न आये वह मनुष्य ही क्या काम का ? एक उर्दू के शायर ने तो कहा है—

ईमां गलत, उसूल गलत, इद्दुआ गलत।
इन्साँ की दिलदिही अगर इन्साँ न कर सके।

वह धर्म भी झूठा है, वह सिद्धान्त, नियम और दावा भी झूठा है, जिसमें इन्सान इन्सान की सेवा और सहायता न कर सके।

यही है इबादत यही है दीनो-इमां।
कि काम आये दुनियाँ में इन्सां के इन्सां।

आपको मालूम है, श्रावक के तीन मनोरथ बताये गये हैं जिनका प्रातःकाल में स्मरण करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। उनमें सबसे पहला मनोरथ यही है, कि 'मैं' कब अपने धन का, अपने ऐश्वर्य का, संतों, एवं दीन-गरीबों की सेवा के लिए त्याग करूँगा, वही दिन मेरा धन्य होगा।

बंधुओ ! जिस जैन गृहस्थ जीवन का प्रथम संकल्प ही सेवा है, और जो सेवा की मूर्ति बना है वह आज अपनी सेवा भावना को भूल रहा है। आज

---

१ स्थानांग सूत्र ८

मनुष्य मनुष्य को भूल रहा है। मै देखती हूं जो मनुष्य मन्दिरो मे चढाने, एव विरादरी को खिलाने पिलाने मे हजारो रुपए पानी की तरह बहा देते हैं, वे किसी दीन-गरीब को, बेसहारा को देखकर एक कौडी भी नही देते ? क्या यही सच्ची धार्मिकता है ?

धर्मात्मा कहे जाने वाले लोगो को इस दुर्वृत्ति पर गहरी चोट करते हुए कवि ने कहा है—

ऐ खुदा ! तुझको पूजनेवाले
तंग करते हैं तेरे बन्दों को।
बागे-जन्नत के सब्ज-पेड़ों से
बांध अपने नियाज मन्दों को।

खुदा को पूजनेवाले खुदा के बदो को यदि परेशान करेगे तो खुदा कैसे मिलेगा ? जो आदमी, आदमी से नफरत कर ईंट-पत्थरो के मदिर और मूर्ति मे प्यार करता है, वह सच्चा प्यार नही, वह सच्ची सेवा नही। उसके दिल मे सचमुच इन्सान के प्रति कोई लगाव और सद्भाव नही है। कवि 'नीरज' ने तो इन्सान को इन्सान से प्यार करने की सीख देते हुए कहा है—

क्या करेगा प्यार वह भगवान को ?
क्या करेगा प्यार वह ईमान को ?
जन्म लेकर गोद में इन्सान की
प्यार कर पाया न जो इन्सान को !

जनसेवा ही जिनसेवा

जैनसस्कृति इसीलिए एक स्वर से पुकार रही है, 'तुम भगवान की सेवा करने की बाते छोडकर पहले इन्सान की सेवा करो। यह बात सिर्फ मैं ही नही कह रही हूं, किन्तु जैन दर्शन के महान आचार्यों ने कही है। आचार्य हरिभद्र ने एक जगह लिखा है—एकबार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—"भते ! एक व्यक्ति दिन-रात भगवान की सेवा करता है और एक दीन-दुखियो की सेवा करता है, इन दोनो मे श्रेष्ठ कौन है ? आप किसे साधुवाद देंगे ?"

भगवान ने कहा—"गौतम ! जो व्यक्ति दीन-दुःखियों की सेवा करता है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है, वही मेरा सच्चा पुजारी है।"

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—भंते ! कहाँ आप जैसे वीतरागी महापुरुष की सेवा और कहाँ एक दीन दुःखी की सेवा जो अपने ही कर्मों का फल भोग रहा है ?

भगवान ने गौतम को समाधान दिया—गौतम ! मेरी सेवा, मेरे तन की सेवा करना नहीं, किन्तु मेरी आज्ञा, मेरे वचन का पालन करना ही मेरी सेवा है। मेरी आज्ञा है कि तुम मुझसे से पहले उसकी सेवा करो जिसे सेवा की जरूरत है। वही मेरी सेवा है। भगवान की सेवा करने वालों की संसार में कोई कमी नहीं है, किन्तु भगवान के भक्त की सेवा करने वाले कितने हैं ? महाकवि इकवाल के शब्दों में—

खुदा के बन्दे हैं तो हजारों,
वनों में फिरते हैं मारे-मारे।
मैं उसका बन्दा बनूँगा, जिसको
खुदा के बन्दों से प्यार होगा।

इसीलिए भगवान ने अपनी सेवा से बढ़कर दीन-गरीब की सेवा को महत्व दिया है। जन की सेवा जो करता है, वही जिनकी सेवा भी करता है। हमारे यहां कहावत है—नर में नारायण का वास है। इसका अर्थ है, नर की सेवा करने से ही नारायण प्रसन्न होते हैं। नारायण का आदेश भी यही है कि तुम मेरा नाम रटने की वजाय मेरे भक्त की सेवा करो।

एक सेठ थे। उनकी पत्नी बड़ी धर्मात्मा थी। वह रोज भगवान की पूजा, भजन आदि करती रहती। एक बार दुपहर का समय था, सेठ जी कहीं वाहर से धूप में चलकर आये थे, बड़ी प्यास लगी थी, गला सूख रहा था, सेठ ने आते ही पुकारा—"जल्दी पानी पिलाओ ! गला सूखा जा रहा है।"

सेठानी माला फेर रही थी। बोली—"अंधे हो गये हो, दिखाई नहीं देता मैं भगवान की माला फेर रही हूँ। तुम उठकर पानी पीलो।"

सेठ को पत्नी के व्यवहार पर बड़ा रोष आया, उसने उसी समय सकल्प किया, मैं अब दूसरा विवाह करके दूसरी पत्नी लाऊंगा। जो पत्नी मेरी सेवा नही करती वह किस काम की ? सेठ ने दूसरी शादी करली। वह पत्नी बड़ी सेवाभावी थी, दौड-दौड कर सेठ की सेवा करती। पहली पत्नी को बड़ा दुख हुआ। उसने सेठ को प्रसन्न करने के लिए अब सेठ के नाम की माला फेरनी शुरु की। सुबह आसन लगाकर बैठती और पति का नाम था 'मोतीलाल' ! तो बस दिनभर 'मोतीलाल-मोतीलाल' जपती रहती। छोटी पत्नी माला नहीं फेरती, पर उसकी सेवा करती। और बड़ी सिर्फ माला ही फेरती रहती।"

अब बतलाइए सेठ किस पत्नी पर प्रसन्न होगा ? जो उनके नाम की माला फेरती है उसपर या जो उसका काम करती है, सेवा करती है उस पर ? आप कहेंगे, सेवा करने वाली पर !

तो यही बात भगवान की है। भगवान केवल माला से खुश नही होते। वे तो जो उनकी सेवा अर्थात् उनकी जो आज्ञा है कि मनुष्य की सेवा करो, उस पर जो आचरण करेगा उसी पर खुश होगे।

जैन धर्म ने हमें यही बात सिखाई है कि जन से ही जिन बनता है, जो आदमी सच्चे मन से जन की सेवा करता है, वह जिन की भी सेवा करता है, सिर्फ सेवा ही नही, किंतु जैसा कि मैंने पीछे बताया है 'जन' सेवा करने वाला एक दिन स्वय 'जिन' भी बन जाता है। सेवा का मार्ग ही भगवान का मार्ग है। जो सच्चे दिल से सेवा करेगा वह सेवा का मीठा मेवा भी पायेगा और निश्चित पायेगा। ●

खण्ड : ४

साधना का रसानुभव...

—प्रवर्तक श्री पृथ्वीचन्द जी महाराज (आगरा)

जैन साधना का मार्ग 'असिधारा-पथ' है। इस पथ पर वही चल कसता है जिसके संकल्पों में हिमालय-सी दृढ़ता हो। साधना का मार्ग रूखा है, उसके लिए, जिसे कि साधना का स्वाद ज्ञात नहीं हुआ हो। जिसने साधना का रसानुभव प्राप्त कर लिया और उसके आनन्द में डूब गया, उसके लिये साधना ही सर्व रसों की भूमि है। वही साधक साधना का सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है, जो साधना में रम जाता है।

प्रवर्तनी महासती पार्वती जी के सुयोग्यसान्निध्य में महासती पन्नादेवी जी ने जीवन के सुकुमार बाल्यकाल से साधना पथ पर कदम बढ़ाए थे जो आज जीवन की सांध्यवेला में आने तक उसी दृढ़ता एवं साहस के साथ बढ़ाए जा रही हैं। उनकी इस दीर्घसंयम यात्रा के अनुभवों का वर्णन जो जीवन चरित्र में प्रकाशित किया जा रहा है, आशा है वह सबके लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा। उनकी सुदीर्घ-संयम साधना का हार्दिक अभिनन्दन है।

●●

अनुभवों का खजाना...

—प्रसिद्धवक्ता मालवकेशरी सौभाग्यमलजी म० (अमलनेर)

'साधना पथ की अमर साधिका' पुस्तक मे आप श्री पन्नादेवी जी म० के जीवन एव साधनाकाल के अनुभवो का वर्णन दे रहे है यह बहुत ही सुन्दर प्रयास है।

पन्नादेवी जी म० का जीवन साधना काल के अनुभवो का खजाना है। ७० वर्ष तक उन्होंने जिस सयम-पथ पर यात्रा की है, उसके अनुभव सर्व-साधारण को अवश्य ही प्रेरणा प्रदान करेंगे। उनके जीवन-चरित्र से जन-जन मे त्याग, तपस्या एव साहस की प्रेरणा जागृत होगी, ऐसी आशा करता हूँ।

अमर रहे यह अमर साधिका

—योगनिष्ठ मुनि फूलचन्द जी 'श्रमण'

राजस्थान सतियों की जन्म भूमि है, जौहर की ज्वालाओं में जलने वाली सतियों की और तपोनिष्ठा के पावन-पावक में प्रहुत होकर लोक-मानस को पवित्र करने वाली महासतियों की भी, इसी राजस्थान ने युग-युग से तपते हुए अपने पवित्र अंक में पालित किया है महासती श्री पन्नादेवी जी को।

मातृअंक, पालने और पर्यङ्क पर ही दीपक की लौ को देख कर राजस्थान की बालाएँ इसलिये उल्लसित हुआ करती थीं कि उन्हें ज्ञात होता था कि ये ज्वाला ही हमारी सतीत्व की रक्षिका महादेवी है, श्री पन्नाजी भी शैशव के उल्लासमय क्षणों में उल्लसित हो जाया करती थीं। सती-साध्वियों के सत्संग में प्रदीप्त एवं ज्ञान-दर्शन और चारित्र की कमनीय किरणों से वाता-वरण को व्याप्त करती हुई साधना एवं तपोनिष्ठा की दिव्य ज्योति के दर्शन करके।

साधुता की साकार प्रतिमा, पर्वतीय दृढ़ता की धारिका महासती प्रवर्तिनी पार्वती जी की संयम-निष्ठा ने श्री पन्ना जी के बाल मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया और श्री पन्नाजी के जन्मजन्मान्तरीय तप से पूत मानस ने उस आकर्षण में अपने प्राप्तव्य के दर्शन कर आत्मसमर्पण कर दिया संयम-निष्ठा के चरणों में।

सत्य का सहारा लेकर नव साधिका का नव दीक्षित मानस विश्वास और श्रद्धा के शिखरों पर पहुँच कर तितिक्षा की छत्रछाया में तप करने लगा,

स्वाध्याय का अलौकिक आलोक प्राप्त कर बढने लगा भगवान् महावीर के त्याग एव सयम के पावन प्रशस्त पथ पर—बढा और बढता ही गया, करुणा की किरणो को बिखेरता हुआ, प्राणिमात्र को प्रेम से आप्लावित करता हुआ, अपनी सच्ची सहानुभूति का सहारा देता हुआ, अपनी विमल दृष्टि से जगत को पावन करता हुआ, अपने विमलाचार और निर्मल विचार से जन-जन के मानस का नव सस्कार करता हुआ, विभूति को ठुकराता हुआ, अनुभूति को बिखेरता हुआ, ममता की पावनधारा से जन-मानस के कालुष्य को पखारता हुआ।

श्री पन्नादेवी जी का बाल मानस आज वृद्ध नही, समृद्ध बन गया है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अनन्त वैभव को पाकर वे जरा की ओर नही, निर्जरा की ओर बढ रही हैं, उनका शरीर नही, शरीर-कालुष्य क्षीण हो रहा है, वे स्थविरत्व की ओर नही, स्थिरत्व की ओर बढ रही है। बढ़े गी और बढती ही रहेगी—यह मैं नही, मेरा दृढ विश्वास कह रहा है।

श्री पन्ना जी उत्क्रान्तदर्शिनी दिव्य देवी हैं, क्योकि उनके विचारो मे क्रान्ति नही, उत्क्रान्ति है, वे क्षण-क्षण मे सक्रमण कर रही हैं मानवत्व से देवत्व की ओर एव सतप्त ससार से तप की ओर।

उन्होने ७० वर्ष की साधना के द्वार मे प्रवेश किया है। वे साधना के असिधारा व्रत को धारण कर जीवन के ८० वें वर्ष मे आ गई है, असाधारण एव अतिमानवी पवित्र चरित्र के बल पर।

उनके जीवन के ८० वे जीवन द्वार पर खडी मेरी मगल-कामनाएँ उनका अभिनन्दन करती हुई शासन देव के चरणो मे प्रार्थना करती हैं कि वे जीवन के शत-शत वर्ष पूर्ण करती हुई बढ़े दिव्यलोक की ओर, अलौकिक प्रकाश को लोक मे वितरित करती हुई जैन-जगत को गौरव अमरत्व प्रदान करती हुई।

●

●●
ज्योति शिखा...

—मधुरप्रवक्ता श्री मधुकर मुनि जी म० (जयपुर)

भारतीय संस्कृति के उत्थान में जैन श्रमणों एवं श्रमणियों का जो उच्चतम योगदान रहा है, वह युग-युग तक अविस्मरणीय रहेगा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्र व समाज में शांति एवं आध्यात्मिकता का वातावरण बनाने में संत-सतियों का अपूर्व योग रहा है। एक प्रकार से राष्ट्रीय शांति की आधार भूमि संत ही रहे हैं।

सती श्री पन्नादेई जी म० उसी जैनश्रमणी परंपरा की एक वयोवृद्ध-साध्वी हैं, जिन्होंने अपना जीवन स्वकल्याण के साथ लोक कल्याण के लिए अर्पित किया है। उनका आदर्श जीवन सब के लिए प्रेरणादायी रहा है। ८० वर्ष की आयु में भी उनका कृतित्व तेजस्वी है, और वे एक ज्योतिशिखा की भांति दीप्तिमान भी, यह हमारे श्रमणीसंघ के लिए गौरव की बात है।

महासतीजी के साधना प्रधान प्रेरक जीवन से समाज को दीर्घकाल तक लाभ मिलता रहे, यही मंगलकामना है।

भविष्य निर्मात्री

—सेवाभावी श्री अखिलेश मुनिजी (आगरा)

महासती श्री पन्नादेवी जी के सम्बन्ध मे जब सोचता हूँ तो उर्दू के एक शायर का शेर मेरी स्मृतियो मे सहसा उभर आता है—

जिन्दगी हर मोड़ पर मुझको यह देती है सदा।
फिक्रे-फर्दा छोड़िये तामीरे - फर्दा कीजिये ॥

जिन्दगी हर मोड पर यह आवाज दे रही है, ऐ मनुष्यो ! भविष्य की चिन्ता छोड कर भविष्य के निर्माण मे जुट जाओ। यही तुम्हारी मौजूदगी का ससार में एक निशान रहेगा।

महासती पन्नादेवी जी मे निर्माण की अद्भुत कला है। उन्होने अपने स्नेह, वात्सल्य एव दूरदर्शिता के आधार पर समाज के साध्वीमडल का जिस दीर्घ-दृष्टि से निर्माण किया है, वह वास्तव मे ही उनके जीवन का सफल कृतित्व है। देहली प्रवास के समय भी मैने उनको निकटता से देखा है। तथा जब महासती सरला जी आगरा पधारी तब भी उनकी शिष्याओ के व्यवहार एव योग्यताओ का साकार दर्शन हुआ। उनकी शिष्यमडली मे अध्ययन की उत्कट जिज्ञासा है। नवीन चिन्तन एव नवीन अध्ययन के साथ, नये विचारो को पचाने मे वह हमारे साध्वी समाज मे प्रमुख स्थान रखता है। साथ ही उनमे सेवा, विनम्रता, व्यवहार कुशलता आदि सद्गुणो का सुन्दर सम्मिलन भी हुआ है। मै मानता हूँ महासती जी के जीवन का यह सुन्दर सच्चा कृतित्व है। उन्होने सघर्षो एव विरोधो की कभी परिवाह नही की, भविष्य

की चिंता नहीं की, किंतु साहस के साथ स्वयं को और स्वयं के शिष्या परिवार को भी प्रगति के पथ पर गतिशील बनाये रखा और अपने हाथों से भविष्य का सुन्दर सच्चा निर्माण कर सुयोग्य साध्वी मंडल को तैयार किया है।

उनके योग्य कृतित्व, स्थिर प्रज्ञा एवं सुदीर्घ संयम जीवन का अभिनन्दन किया जा रहा है—यह प्रसन्नता के साथ गौरव की बात है। उनके सुन्दर अनुभवों एवं प्रेरणाओं से समाज को चिरकाल तक लाभ मिलता रहे, यही शुभाशा है....।

यह ज्योति जलती रहे !

—मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज (देहली)

महास्थविरा महासती श्री पन्नादेवी जी की ८० वी वर्षगांठ पर जैन महिला समिति देहली, जीवन चरित्र प्रकाशित करने जा रही है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई, यह एक शुभ प्रयास है। समाज सेवा के कर्मक्षेत्र मे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के बीज बोने मे, तथा समूचे पराधीन राष्ट्रीय अन्तरात्मा के जागरण मे, जिनका प्रारम्भ से ही अनूठा योगदान रहा हो, ऐसी प्रतिभा-सम्पन्न वीतराग पथ की अमर साधिका पन्नादेवी जी महाराज के जीवन सस्मरणों को सकलित करना नई पीढी के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महासती जी ने अपने जीवन के अरुणिम प्रभात मे भारत की पराधीनता और कोटि-कोटि हिन्दुस्तानियो के दरिद्रता भरे जीवन को भी देखा है। विदेशियो का शासन और धर्म के नाम पर सत्ता और सपत्ति के माध्यम से होने वाले धर्म-परिवर्तन के क्रूर कुकृत्यो को भी अपनी आखो मे निहारा है। इसके साथ ही स्वाधीनता के अरुणोदय को भी उनका आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है। पुरानी और नई पीढी के बीच मे जो आज सक्रमण एव दुरभिसधि चल रही है, उसके स्वरूप को जितनी गहरी नजर से महासती जी ने निरीक्षण किया है, उन अनुभवों को एकत्रित करने का विचार कितना स्तुत्य है कहने की आवश्यकता नही। महासती पन्नादेवी जी श्रद्धा और शौर्य के पूंजीभूत रूप मे आविर्भूत हुई है। उनका जन्म धाम राजस्थान है और उनकी साधना और कर्म क्षेत्र पजाब रहा है। ७० वर्ष के साधना काल के कड़वे और मीठे अनुभव तथा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो को पार करता हुआ बेदाग रहा

है उनका साधना जीवन। वे रथ के पहिये को धुरी की तरह अपने लक्ष्य पर सदा सुस्थिर रही हैं।

यद्यपि कालचक्र तथा घटनाचक्र उनके चारों ओर अनेकों प्रकार के वातावरण की उत्सृष्टि करता रहा है, किन्तु किसी भी परिस्थिति में उनका मन कभी भी डगमगाया नहीं, और न ही कोई संकट या आकस्मिक दुर्घटना उन्हें अपने लक्ष्य से च्युत कर सकी। अध्ययन में उनकी रुचि रही। नारी जागरण, धार्मिक संस्कारों की प्रतिष्ठा एवं नई पीढ़ी को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने की लालसा उनके मन में सदा से बनी रही है। उनके जीवन में अनेकों प्रकार के धार्मिक अभियान, सम्प्रदायगत विवाद, और सैद्धान्तिक चर्चाओं के तूफान आये और चले गये। अनेकों प्रकार की चर्चास्पद बातों के ज्वार भाटे उठे और लीन हो गये, किन्तु वह अपनी जीवन नौका को खेते हुए लगातार अपने उद्देश्य की ओर बढ़ती ही चली गयी और बढ़ते ही जा रही है। धर्म के क्षेत्र में उनका योगदान और राष्ट्रीय जन जागरण में उनकी प्रेरणा, और नारी उत्थान में उनका दिया हुआ मार्गदर्शन किसी भी तरह भुलाया नहीं जा सकता। आज भी उनका शिष्यापरिवार उन्हीं से प्रेरणा पाकर धर्म ज्योति जगाये रखने में तल्लीन है। उनकी लम्बी साधना तथा दीर्घायुष्य समाज एवं संघ के लिए वरदान के रूप में वर्तमान रहे यही हमारी शुभकामना है।

यह ज्योति जलती रहे !

—मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज (देहली)

महास्थविरा महासती श्री पन्नादेवी जी की ८० वी वर्षगाँठ पर जैन महिला समिति देहली, जीवन चरित्र प्रकाशित करने जा रही है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई, यह एक शुभ प्रयास है। समाज सेवा के कर्मक्षेत्र मे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के बीज बोने मे, तथा समूचे पराधीन राष्ट्रीय अन्तरात्मा के जागरण मे, जिनका प्रारम्भ मे ही अनूठा योगदान रहा हो, ऐसी प्रतिभा-सम्पन्न वीतराग पथ की अमर साधिका पन्नादेवी जी महाराज के जीवन सस्मरणो को सकलित करना नई पीढी के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महासती जी ने अपने जीवन के अरुणिम प्रभात मे भारत की पराधीनता और कोटि-कोटि हिन्दुस्तानियो के दरिद्रता भरे जीवन को भी देखा है। विदेशियो का शासन और धर्म के नाम पर सत्ता और सपत्ति के माध्यम से होने वाले धर्म-परिवर्तन के क्रूर कुकृत्यो को भी अपनी आखो से निहारा है। इसके साथ ही स्वाधीनता के अरुणोदय को भी उनका आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है। पुरानी और नई पीढी के बीच मे जो आज सक्रमण एवं दुरभिसधि चल रही है, उसके स्वरूप को जितनी गहरी नजर मे महासती जी ने निरीक्षण किया है, उन अनुभवो को एकत्रित करने का विचार कितना स्तुत्य है कहने की आवश्यकता नही। महासती पन्नादेवी जी श्रद्धा और शौर्य के पुँजीभूत रूप मे आविर्भूत हुई है। उनका जन्म धाम राजस्थान है और उनकी साधना और कर्म क्षेत्र पजाब रहा है। ७० वर्ष के साधना काल के कडवे और मीठे अनुभव तथा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो को पार करता हुआ बेदाग रहा

●●

इस अन्तर्यात्रा का शत-शत अभिनन्दन !

—श्री सुरेश मुनि, शास्त्री (अमृतसर)

भारतीय संस्कृति एवं धर्म-परम्परा के इतिहास का यह एक चिरन्तन तथ्य है कि, इस विश्व-मंच पर मानव-जीवन सर्वथा-सर्वाधिक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। और उसकी ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का मूल आधार भी लौकिक व भौतिक नहीं, आध्यात्मिक—लोकोत्तर रहा है। यहाँ जीवन का मूल्याङ्कन संयम-साधना तथा त्याग-तप की आराधना की दृष्टि से किया जाता रहा है। जीवन में जितना अधिक संयम, उतना ही वह श्रेष्ठ। जिसमें जितना अधिक त्याग, वह उतना ही मौलिक। जिसमें वैराग्य की धारा जितनी अधिक प्रबल, वह उतना ही सच्चा-अच्छा !

अविवेकी व्यक्ति की दृष्टि संसाराभिमुखी होती है,—अतः वह जीवन का उपयोग-प्रयोग भी संसार के लिए—लौकैषणा, पुत्रैषणा एवं वित्तैषणा के लिए ही करता है। विवेकी साधक की दृष्टि—अन्तर्मुखी—धर्माभिमुखी होती है। अतः वह अपने जीवन को एक अमूल्य-अनमोल अवसर समझ कर, उससे आत्म-साधना, संयम-आराधना तथा त्याग-तप का परिपालन कर सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य पूरा कर लेता है। इसीलिए कहा है—

येनैव देहेन विवेकहीना,
संसार-बीजं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः,
संसार-बीजं परिशोषयन्ति॥

भारतीय संस्कृति की विचार-परम्परा में, जीवन का ध्येय भोग नहीं, योग है, असंयम नहीं, संयम है, लोकैषण नहीं, आत्म-गवेषणा है।

●●
मंगल कामना

—कविरत्न श्री चन्दन मुनि (बरनाला)

निर्मल मन ममतामयी, नयनन द्वय में दमक।
पन्नादेवी जी सती, रही जगत मे चमक ।।
लिया जन्म जब आपने, सोजत के दरम्यान।
दूर-दूर आकाश में, गु जे मगल-गान ।।
न थे बीते बाल्य के, पूरे कुछ दस साल।
लेकर सयम आपने, सचमुच किया कमाल ।।
पार्वती-सी पण्डिता, सतियों की सिरमौर।
पूज्या गुरुणी आप पा, थी हर्षित हर तौर ।।
हरने को ससार के, पाप-ताप अपराध।
गुरुणी जी से आपने, पाया ज्ञान अगाध ।।
मुक्त हृदय से अब वही, बाँट-बाँट कर ज्ञान।
दुनियाँ का है कर रहीं, निश-दिन ही कल्याण ।।
भारतवासी लोग ये, जिसे देख हैं दग।
मानव-सेवा की भरी, मन मे मधुर उमग ।।
सहिष्णुता, समता तथा सयम, सेवा धन्य।
सरल सती न आप-सी, होगी कोई अन्य।
'चन्दन' की शुभकामना, फूले और फलें।
शम-दम-सयम-साधना, करती सतत चलें।

●

●●

इस अन्तर्यात्रा का शत-शत अभिनन्दन !

—श्री सुरेश मुनि, शास्त्री (अमृतसर)

भारतीय संस्कृति एवं धर्म-परम्परा के इतिहास का यह एक चिरन्तन तथ्य है कि, इस विश्व-मंच पर मानव-जीवन सर्वथा-सर्वाधिक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। और उसकी ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का मूल आधार भी लौकिक व भौतिक नहीं, आध्यात्मिक—लोकोत्तर रहा है। यहाँ जीवन का मूल्याङ्कन संयम-साधना तथा त्याग-तप की आराधना की दृष्टि से किया जाता रहा है। जीवन में जितना अधिक संयम, उतना ही वह श्रेष्ठ। जिसमें जितना अधिक त्याग, वह उतना ही मौलिक। जिसमें वैराग्य की धारा जितनी अधिक प्रबल, वह उतना ही सच्चा-अच्छा !

अविवेकी व्यक्ति की दृष्टि संसाराभिमुखी होती है,—अतः वह जीवन का उपयोग-प्रयोग भी संसार के लिए—लोकैषणा, पुत्रैषणा एवं वित्तैषणा के लिए ही करता है। विवेकी साधक की दृष्टि—अन्तर्मुखी—धर्माभिमुखी होती है। अतः वह अपने जीवन को एक अमूल्य-अनमोल अवसर समझ कर, उससे आत्म-साधना, संयम-आराधना तथा त्याग-तप का परिपालन कर सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य पूरा कर लेता है। इसीलिए कहा है—

येनैव देहेन विवेकहीना,
संसार-बीजं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः,
संसार-बीजं परिशोषयन्ति॥

भारतीय संस्कृति की विचार-परम्परा में, जीवन का ध्येय भोग नहीं, योग है, असंयम नहीं, संयम है, लोकैषण नहीं, आत्म-गवेषणा है।

महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज भी इसी सयम-साधना तथा त्याग-तप की आराधना के परमपथ की एक सफल साधिका रही है। दस वर्ष की किशोर अवस्था मे सयम-त्याग के कठिन-कठोर अग्नि-पथ को अपनाना और नित्य-निरन्तर उस पर अपने मुस्तैदी कदम बढाना—वस्तुत: एक नारी के लिए गौरवास्पद एव महत्त्वपूर्ण जीवन की स्थिति है—इस ज्वलन्त तथ्य से इनकार नही किया जा सकता।

कहना न होगा कि, सयम का बाना और प्रशस्त पथ अपनाकर ही, उन्होने अपने-आप को कृत-कार्य नही समझा। जीवन को अधिकाधिक गतिशील, सयमशील एव वैराग्यमय बनाने के लिए उन्होने अनवरत ज्ञान का अभ्यास किया, त्याग-तप के रस को और गहरा किया और अपनी इसी ज्ञान-निष्ठा, सयम-प्रतिष्ठा तथा त्याग-वैराग्य की सतत साधना के बल पर ही, वे अपनी इठलाती हुई तरुणाई मे भी आगे, निरन्तर आगे ही बढती चली गई, कभी पीछे मुडकर देखना जाना ही नही। जीवन की प्रगति तथा लक्ष्य-बिन्दु को प्राप्त करने का एक राज मार्ग यही है—

न पीछे हटाया कदम को बढ़ाकर,
अगर दम लिया भी तो मजिल पे जाकर।

पजाब-प्रान्तीय स्थानकवासी जैन परम्परानुयायी साध्वी-वर्ग मे उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

हर्ष की बात है कि, साधना-पथ की एक सफलसाधिका के रूप मे, उनकी ८० वी वर्ष-गाँठ के स्वर्णिम अवसर पर, एक विशाल अभिनन्दन का आयोजन किया जा रहा है। सयम का आदर अपनी आत्मा का ही आदर है, और साधना-निष्ठा का स्वागत अपनी साधना वृत्ति का ही प्रतीक है—ऐसा मन का विचार है। जीवन की इस अन्तर्यात्रा का—सुदीर्घ सयम भावना का, शत-शत अभिनन्दन!

★

●●

ये अनुभवों के प्रकाश स्तम्भ !

—प्रसिद्धवक्ता श्री ज्ञानमुनि जी महाराज (फिल्लौर)

एक विद्वान विचारक लिखता है कि "मनुष्य को पहचानने और समझने के लिए साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जीवन-चरित्र ही अधिक स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण सहायता दे सकता है। मनुष्य के भीतर रहने वाली गुणसम्पदा का वोध यथार्थरूप से जीवन-चरित्र से ही हो पाता है। जीवन में संघर्ष की जो घड़ियाँ रही हैं, तथा उन्हें शान्त करने में जो-जो उपाय काम में लिए जाते हैं, हम उनसे वहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। किस समय में मनुष्य को क्या करना चाहिये ? किस प्रकार व्यक्ति को अपने जीवन की समस्याएँ सुलझानी चाहिये ? किस समय कैसी वाणी वोलनी चाहिए ? किस-किस पद्धति से मनुष्य अपने कर्त्तव्य-कार्यों को निभा सकता है ? तथा किन साधनों के द्वारा मानव महामानव के समुच्च पद को अधिगत कर सकता है ? आदि प्रश्नों का समाधान किसी भी महापुरुष के जीवन-चरित्र को पढ़ने एवं सुनने से सहज ही मिल जाता है। अतएव साहित्य जगत में जीवन-चरित्र का वड़ा ही प्रशस्त एवं एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज स्थानकवासी जैन-जगत की एक जाने-माने साध्वी-रत्न हैं, वयोवृद्ध हैं, अनुभवी हैं, शास्त्रीय ज्ञानसाधना तथा त्याग-वैराग्य की आराधना में ही जीवन का अधिक समय व्यतीत करने वाली महासती हैं। सं० १९७० की चार नवम्बर को आपकी ८०वीं वर्षगाँठ है। इसी सुअवसर पर आदरास्पद महासती जी की विदुषी शिष्या महासती श्री सरला जी अपनी देख-रेख में "साधना पथ की अमर साधिका" का संयोजन कर रही हैं। महासती के इस सत्प्रयास का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। समाज को मान्य महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज जैसी विचारक महासतियों के सुलझे हुए अर्वाचीन तथा प्राचीन अनुभवों की नितान्त आवश्यकता है। ये अनुभव प्रकाश स्तम्भ की तरह समाज के अन्तर्जगत में व्याप्त अज्ञानान्धकार का परिहार कर सकते हैं। यही शुभ कामना....!

छोटा सा अभिनन्दन,
किन्तु, श्रद्धा से आप्लावित...

—मधुर प्रवक्ता श्री मनोहर मुनि जी 'कुमुद' (कटक)

अहिंसा, संयम तथा तप की साकार प्रतिमे !

तुम केवल समाज के मंच पर संयम का अभिनय मात्र ही नही कर रही हो। जीवन के बसन्त में पतझर तथा जीवन के पतझर मे बसन्त से आनन्द की तुम ने अनुभूति की है। यही समता-योग है।

साधु जीवन की अक्षय निधि ! एक अमर कोष !! फिर तू क्यो न अभिनन्द्य हो, प्रत्येक सहृदय के लिए।

वास्तव मे व्यक्ति का महानव्यक्तित्व कभी भी बाह्य अभिनन्दन की अपेक्षा नही रखता। किन्तु प्रत्येक अभिनन्दी अभिनन्द्य की जीवन छाया निज मे उतारने के लिए ही अभिनन्दन करता है। यही इसका रहस्य है।

हे जिन शासन की स्वर्णमयी अँगूठी के पन्ने ! तू अपने अम्लान जीवन से सतत इसे विभूषित करती रहो। यही मेरी शुभ कामना है। तेरे रत्नत्रय से परिपूत तथा पर्यवदात जीवन का मैं श्रद्धा से आप्लावित हृदय के साथ अभिनन्दन करता हूँ।

●●

अभिनन्दन ! अभिनन्दन !!

—श्री हीरा मुनि 'हिमकर' प्रभाकर (बम्बई)

(१)

मन्दाक्रान्ता

पन्नादेवी सकल गुण से राजती नित्य आर्या,
दीक्षानान्ही दस बरस में पायके ज्ञान अर्जा।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचन रसीली अनोखी सुरीली,
साध्वी चारों विनय गुण से बनी थी निराली।

(२)

'द्रुतविलम्बित'

स्थविर के गुण गायन कीजिये,
गरजना करके कुछ गुंजिये।
कमर को कश के अब ऊठिये,
करम वे घन-घातक तोड़िये।

(३)

जगत में सतियाँ सत पाल के,
मुगत के मग में नित चाल के।
कर गई अपना शुभ काज वे,
चलत आज उसी मग ठाट पे।

(४)

सरल हो, सरला ! सुन लीजिये,
स्थविर के सुख साधन कीजिये ।
अरज है इसड़ी भगवान से,
श्रमणि-संघ सदा सुख में रहे ।

(५)

'हिमकरो' अरजी नित यूं करे,
चतुर संघ फले फुलतो रहे ।
जगत मे जिन शासन खास है,
अमर आस रखो निलभाव से ।

प्रज्ज्वलित ज्योति

—श्री ज्ञान मुनि जी (देहली, सदर)

आत्म-संयम चरित्र का सर्व प्रधान अंग कहा जाता है। आत्म संयम किसी एक रूप में प्रकट नहीं होता, वल्कि अनेकों रूपों में सामने आता है। मनुष्य स्वभावतः आनन्दप्रेमी है। इसीलिए साधारण मनुष्य विना सोचे विचारे आनन्द को प्राप्त करने में उचित और अनुचित उपायों का भी विचार नहीं करता। वह अपनी सभी इन्द्रियों को खुल्ली छूट दे देता है और विलास में मग्न रहता है। पर चरित्रवान् व्यक्ति आनन्द प्राप्ति के लिए उचित और अनुचित उपायों में अपनी विवेक बुद्धि से विचार करता है। जिस साध्वी-रत्न के विषय में कुछ कहने जा रहा हूँ उनका जीवन भी ऐसा ही है।

महासती जी का जीवन श्रेष्ठ उज्ज्वल चरित्रमय है। साधना तप की अमर साधिका, श्री पन्नादेवीजी महाराज का दिव्य तपोपूत कर्त्तव्यनिष्ठ, ध्येय-निष्ठ जीवन हमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्रज्ज्वलित ज्योति प्रदान कर रहा है। संयम पथ पर चलना कायरों का काम नहीं है। आपने कुशल सारथी की भांति अपनी इन्द्रियों का दमन कर महान् आदर्श चरित्रता का वीरता से स्फूर्त्त सन्देश दिया है। आपका जीवन गुण-गरिमा के सौरभ से महक रहा है।

आपने वीर वसुन्धरा में जन्म लेकर वीरता को पाया है, उसी वीरता-क्षत्रियता से प्रेरित होकर १० वर्ष की किशोरावस्था में संयम पथ पर चलने का सुदृढ़ व्रत ग्रहण किया।

आप उस कल-कल से मधुर गान करने वाले, मस्ती से प्रवाहित होने वाले झरने की तरह अनेक विपज्जाल ग्रावा की छाती तोड़ती हुई अमरत्व के अनु-सन्धान में निर्भीक व अकम्प भाव से अग्रसर होती गई हैं।

आपने पुरुषार्थ-उत्साह-अतन्द्रा को अपनी संयम यात्रा में सदैव संगी बनाया। यही कारण है कि आप आज भी इतनी दीर्घायु में संयम पथ पर तरुणावस्थावत् गमन करने में सजग हैं, जागरूक हैं। मैं आप का ८० वें पुनीत शुभ्र शरद् वर्ष प्रवेश पर हार्दिक शत-शत अभिनन्दन करता हूँ।

●●
उज्ज्वल किरण

—मुनि नेमचन्द्र जी 'पंजाबी' (चंडीगढ़)

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे,
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने-वने।

तपोमयी तपस्विनी-शान्त स्वरूपा, आध्यात्मिक स्फूर्ति-सहिष्णुता की प्रत्यक्ष प्रतिभा, समता सेवा की पवित्र मूर्त्ति महासती श्री पन्नादेव जी महाराज का जीवन अति पवित्र है। वह सर्वोच्च कोटि के चरित्र, सयम आचार-विचार व व्यवहारादि मे आदश रूपा है। गौर वर्ण से अत्यन्त तेजोमयि सूर्यवत् प्रकाशशीला है। जो भी एक बार आपके सम्पर्क मे आ जाता है, आपके आदित्यवर्ण प्रभावशील देह तथा वचनामृतो से प्रभावित हुए बिना नही रहता।

वस्तुतः सत्य है कि—

तप की तारुण्यमयि प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा।
व्यथित विश्व की चेतनता,
महासती पन्ना बन आई है॥

इन्होने थोडे ही समय मे तीक्ष्ण बुद्धि के कारण जैनागमो के गूढ तत्त्वार्थ को हृदयगम कर लिया, तथा प्राकृत-सस्कृतादि भाषाओ पर पूर्णअधिकार कर लिया है। आपने अपनी ओजस्विनी मधुर वाणी के द्वारा जन-जन के हृदय परिवर्तित कर दिये है। जिन के मानस पटल स्वभाव जन्य क्रोध ईर्षादि कालिमा से कलुषित थे, उनको आपने अपने वचनामृतो के प्रभाव से एव धर्म रूपी जल से प्रक्षालित कर निर्मल कर दिया है। महासती अपने धर्म सदेश

पंजाव-हरियाना-राजस्थान-उत्तरप्रदेश व दिल्ली आदि सुदूर प्रदेशों तक प्रसारित कर धार्मिक क्रान्ति करने में समर्थ हुई हैं।

आपके तेजोमय तथा शान्त व्यक्तित्व के दर्शन मात्र से ही मानव शान्त-रस में ओतप्रोत हो जाता है।

मैं गत वर्ष १९६९ में दिल्ली में प्रथम वार आपके सम्पर्क में आया। आपके सौम्य स्वरूप एवं तेजोमय उच्च कार्य को देखा, तथा वार्तालाप में अधिकतर हृदय की विशालता को पाया। आप की कर्मठता—कर्म तत्परता-सुदृढ़ता तथा विवेकशीलता को देख कर अवाक् सा रह गया। क्योंकि उस समय १०४ डिग्री ज्वर होते हुए भी आप में संयम के प्रति दृढ़ता एवं सहनशीलता सर्वोपरि प्रतीत होती थी। यद्यपि आप को औषधी सेवन करने के लिए वाध्य किया गया, किन्तु आप ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि—सर्व रोगो-पशमन औषधि शान्ति भाव है। औषधि मेरे लिये विशेष आवश्यक नहीं, निर्दोष संयम ही मेरे लिये सुन्दर संजीवनी है। आपके इन अडिग विचारों को देखकर मैं अत्यन्त विस्मित हुआ।

यद्यपि यह सम्पर्क विशेष नहीं रहा, किन्तु यह स्पष्ट ज्ञात हो गया कि आप की आत्मा में कितनी उच्चकोटि का वैराग्य है। जनता को अकर्मण्य न रहने तथा कुछ न कुछ शुभ कर्म करने की सद्भावना श्री गुप्तजी के शब्दों में इन्होंने स्पष्ट की है—

कुछ काम करो कुछ काम करो,
जग में रह कर कुछ नाम करो,
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो
कुछ तो उपयुक्त करो तन को,
नर हो न निराश करो मन को।

मैं महासती जी की महानता—संयमशीलता का कहाँ तक वर्णन करूँ? आपका मानव जीवन सद्गुणों से ओत-प्रोत है, अतः मैं शुभ एवं मंगल शब्दों के साथ आपका सादर अभिनन्दन करता हूँ।

प्रेरणा—प्रदीप

—श्री विजय मुनि (कटक)

जब हम देहली आये थे, तब आपके दर्शन हुए थे। तो आपके मधुर व्यवहार से मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। मैने देखा कि वृद्धावस्था मे भी आपके मुख-मण्डल पर तेज झलक रहा था। आपके सयम की किसी क्रिया मे आलस्य व प्रमाद नही देखने मे आया। आपका सौम्य स्वभाव और पुरुषार्थ परायण जीवन वास्तव मे ही जनता के आकर्षण का मूल हेतु है।

जीवन के ७० वर्ष तक सयम के कठिन मार्ग पर अक्षुण्ण रूप से चलते रहना कोई खेल नही है। जीवन की इस कठिन परीक्षा मे आप उत्तीर्ण हुए है, यह निसन्देह कहा जा सकता है।

ऐसे आदर्श साध्वी जीवन समाज के लिये सचमुच प्रेरणा प्रदीप है। अधिक क्या, मैं आपके दीर्घ सयमी जीवन के लिए—शुभ मगल कामना करता हूँ।

आदर्श श्रमणी

—श्री रमेश मुनि 'काव्यतीर्थ' (बम्बई)

(१)

उपजातिवृत्त

आचारनिष्ठा सुविचार दक्षा,
प्रज्ञासती प्राज्ञवती बनी है।
जिनेन्द्र आज्ञा अनुगामिनी हैं,
विज्ञा विनीता गुरु भक्ति युक्ता।

(२)

आराधिका संयम साधिका है,
स्वाध्यायलीना सुविवेकशीला।
अन्तर्विशाला ललिता गुणों से,
वीराङ्गना है, गुणिनी गुणज्ञा।

(३)

विद्या विभा से यह राजती है,
वीरा विनम्रा प्रवरा विनीता।
आदर्श आर्या, सरल स्वभावा,
व्याख्यान दात्री विदुषी प्रसिद्धा।

●●

एक महकती कलिका

—साध्वी ललिताकुमारी शास्त्री, 'साहित्यरत्न' (इन्दौर)

एक सुन्दर, सुमनोहर जीवन-कलिका जब मरुधरा के उपवन मे विहँसने लगी, तो उपवन का माली कृतकृत्य हो उठा। उस अभिनव कली की सुललित आभा एव अद्भुत सौन्दर्य को माँ मरुभूमि का वरदान समझ कर उसने उसे महिमामयी सती-साध्वी देवी पार्वती के चरणो मे समर्पित कर दिया। कलिका ने शनै-शनै खिले पुष्प का स्वरूप पाया और उस जीवन-पुष्प की मधुर महक से पूरा पँचनद महक उठा। सयम, तप, त्याग, सेवा की मीठी सौरभ से उसने जन-जन के मन को मोह लिया। आज भी उसकी सुरभि, सौन्दर्य एव साधना जनता के हृदय मे श्रद्धा का विषय बना हुआ है।

पुष्प के सौरभ एव गुणीजन के गुण कभी छुपे नही रहते। वायु के झोके एव जनता की आवाज उसे दूर-दूर तक पहुँचा देती है और उस सौरभ का अनुभव कर मन प्रसन्नता से भर उठता है, सद्गुणो का श्रवण कर मानस श्रद्धाभिभूत हो जाता है।

परम श्रद्धेया स्थविरा श्री पन्नादेवी जी महासती जी की गुण-गाथा हमारे कर्णकुहरो तक भी पहुँच चुकी थी। किन्तु उनका सर्वप्रथम साक्षात्कार हमे १९६२ मे हुआ। मेरी परमपूज्या गुरनी जी बा० ब्र० विदुषी श्री सज्जनकुमारी जी महासती जी एव अन्य साध्वी-समुदाय के साथ भारत की राजधानी देहली मे पहाडीधीरज स्थित जैनभवन मे जब हमने उस महान् व्यक्तित्व के दर्शन किए, तो मन पुलकित हो उठा। मधुर व्यक्तित्व, स्नेहसिक्त वाणी और सहज ही घुलमिल जाने की उनकी कला ने हमे कुछ क्षण भी अपरिचित नही रहने दिया। उनके समीप रह कर हमे जो निश्छल एव हार्दिक

स्नेह उपलब्ध हुआ, उसकी स्मृति से मन आज भी गद्गद् हो उठता है। उनके जीवन में शत-शत गुणों की ज्योति जगमगा रही है, पर मेरे मानस-पटल पर तो उनकी वही एक वात्सल्यमयी मूर्ति अंकित हो चुकी है। उसके बाद जब जब भी उनकी सेवा में रहने का अवसर मिला है, स्नेह की उस अक्षय-निधि ने मन को अभिभूत कर लिया है। स्नेह और अनुशासन की वह प्रतिमा मेरे मन में कभी धूमिल नहीं हो सकेगी।

उस साधना-पथ की जगमगाती हुई दीपशिखा को ८० वीं वर्षगाँठ पर मेरी आन्तरिक श्रद्धा के कण उनके चरणों में समर्पित करते हुए मैं उनके लिए यह कामना करती हूँ कि वे शत-शत शरद तक अपने दिव्यज्ञान से जन-मानस को आलोकित करती रहें।

●●

हार्दिक अभिनन्दन !

श्रमण संघीय सद्गुरुदेव पुष्करमुनि जी म० सा० की आज्ञानुवर्तिनी महासती जी म० सा० श्री कैलाश कुँवर जी, विदुषी साध्वी रत्न श्री कुसुम वती जी आदि ठाणा ३ की महासती जी के दर्शन करने का सौभाग्य भारत की राजधानी दिल्ली मे हुआ था। आप निरन्तर महा स्थविरा साध्वी जी के गुणगान करती रहती है। आप अपने हृदय की समस्त तरंगमालाओं को लेकर महासाध्वी जी की दीर्घायु-कामना करती है कि वे अपने सत्सग मे आने वाले उपासक और उपासिकाओ के ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप की अभिवृद्धि मे अधिक से अधिक सन्नद्ध रहे। शासनदेव आपकी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वृद्धि की शक्ति को अधिकाधिक सम्पन्न बनाते रहे इसी भावना के साथ हार्दिक अभिनन्दन !

●●
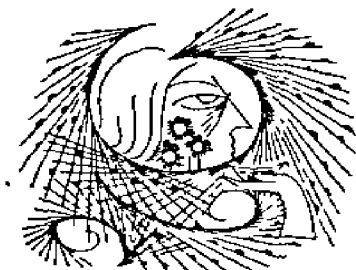
तू गुणों की धाम है...!

—**साध्वी श्री सीता** (श्री चन्दा जी महाराज की प्रशिष्या)

जहाँ में तेरा नाम है, तू गुणों की धाम है।
वर्तमान युग में तू, सतियों में प्रधान है ।।

☆

सौन्दर्य की प्रतिमा कहूँ, या त्याग की मैं मूर्ति,
वृद्धावस्था में झलकती, है युवक सी स्फूर्ति।
वाणी में ओजस्विता, निर्भय सदा हैं साहसी,
दूध की भाँति समुज्ज्वल, आपकी है राह जी।
चाँद की उपमा दूँ गर, पर उसमें भी तो दाग है,
बालपन से ले के अब तक, चोला तेरा बेदाग है।
जब शिष्याओं में हों विराजे, लगते शाहों के शाह जी,
देखते ही मुख से निकले, क्या शान हैं ? वाह-वाह जी।
जब गगन के तारा मण्डल में शशि है शोभता,
तेरी छवि को देखकर, उसका भी मन है मोहता।
लूटली तूने वो शक्ति, जो कि मुझसे दूर है,
मैं तो हूँ इक जड़ की हस्ति, तू चेतना का नूर है।
श्वेत तो हैं बहुत वस्तु, पर चेतना पाई नहीं,
इसलिए खुद तो हैं वो, पर उनमें खुदाई नहीं।
खुद खुदाई ही समाई है, तेरे इस रूप में,
तू अंधेरे में चमकती, जग चमकता धूप में।
अस्सी वर्ष की आयु भी, संकेत देती हैं हमें.
अष्ट कर्म ही शून्य करके, पार होना है इन्हें
पतितों की पत रखनेवाले, पन्नादेवी शुभ नाम है,
अय ! जगत की ज्योति तुझको शत-शत मेरा प्रणाम,है।

हृदय तन्त्री की वीणा

—साध्वी स्वर्णा जी (श्री ईश्वरादेवी जी म० की शिष्या)
(अम्बाला शहर)

श्रमणी सघ मे प्रात स्मरणीय विश्व वदनीया महार्य्या प्रवर्त्तनी श्री पार्वती जी म० का जीवन श्रमणी सघ मे एक ऐसी मणिमाला के मणि से सम्बन्धित है, जिन्हे आज तक पजाब प्रान्त मे सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है, जिनका व्यक्तित्व समाज मे गौरवान्वित है । आज समस्त पजाब एव हरियाना तथा उत्तर प्रदेश श्रमणी वर्ग से सुरभित है, यह उन्ही की महती कृपा का वरदान है ।

उसी श्रमणी वर्ग मे त्याग की सजीव प्रतिमा, बाह्य आन्तरिक आध्यात्मिक साधना मे निमज्जन करने वाली आदरणीया महामती पन्नादेवी जी म० हैं ।

यह इस कलियुग की श्री राजुलमती जी महाराज की शिष्या हैं । श्री भगवान अरिष्टनेमी के युग की राजुलमती सदृश यह त्याग वैराग्य की प्रतिमूर्त्ति श्री प्रवर्त्तनी राजुलमती जी म० थी ।

श्री पन्नादेवी जी म० पजाब मे सबसे प्रथम-वयोवृद्धा साध्वी है । कान्ति-युक्त गौर वर्ण—विशाल भुजाएँ—सुन्दर चमकते तेजोमय नेत्र—श्वेत केश राशि—उज्ज्वल वेष मे आप का व्यक्तित्व वृद्धावस्था मे भी प्रबल चमत्कृत है ।

सन् १९६० मे मुझे आपके शुभ दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ । आपके अति रोबीले चेहरे के कारण मन भय से आशकित था, पर मिलन वेला मे जो मधुर स्नेह प्राप्त हुआ, वह अभी तक स्मृति पटल पर अकित है । इन नेत्रो को प्रेम प्यार की बहती मन्दाकिनी के दर्शन मे विशेष आनन्द एव उल्लास प्राप्त हुआ ।

आपका व्यक्तित्व सर्वोच्च है। जीवन श्रेष्ठकलामय है। सदैव मुख मण्डल पर प्रसन्नता टपकती रहती है। आभा से आकर्षणमय है।

प्रातः स्वाध्याय, समय, सौम्य मुद्रा का तेज निराला ही होता है। आप अपने समय की प्रसिद्ध प्रवक्ता, शास्त्रों की मर्मज्ञा हैं।

आपकी सरलता ने मेरे हृदय को बहुत आकर्षित किया है। आपकी प्रकृति सरल-सरस मृदु व सात्विक है। कोई भी सत्य बात कहने में आपको संकोच नहीं होता। आप निर्भीक व स्पष्टवक्ता हैं। आप के दर्शन व वार्तालाप से मानव देह कृत्य-कृत्य हो उठती है। आप सभी के श्रद्धा के केन्द्र हैं।

हमारी हृदय तन्त्री की वीणा सदैव आप का स्वागत गान गाएगी और जीवन स्थली में आप का स्थान आदरणीय एवं अर्चनीय रखेगी।

शासन देव से प्रार्थना है कि आप दीर्घायुष्य प्राप्त करें। आपकी मृदु छाया हमारे सिर पर सदैव बनी रहे।

ओजस्विता की साक्षात् मूर्ति

—श्री प्रवेश कुमारी जी महाराज 'सिद्धान्त प्रभाकर'

जब कभी भी मुझे किसी भी सन्त या साध्वी के सम्बन्ध मे लिखने को कहा जाता है, तब मै बडे ही असमजस मे पड जाती हूँ वस्तुत किसी सन्त या साध्वी के सम्बन्ध मे लिखना बडा ही कठिन कार्य है, क्योकि उनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह महान् होता है और कृतित्व अनन्त सागर की तरह विराट् होता है, उनके विराट व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दो की सीमा मे आबद्ध करना क्या सरल कार्य है ?

मैं समझती हूं इससे बढकर अन्य कठिन कार्य नही हो सकता, किन्तु जब आध्यात्मिकता, सहिष्णुता-मूर्ति, सरलमना शान्त-मूर्ति, प्रसिद्ध वक्त्री, विदुषी वयोवृद्धा साधिका श्री पन्नादेवी जी महाराज के विषय मे अभिनन्दन लिखने के लिये कहा गया तो मै अपनी इस विचार धारा को रोक न सकी। महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज श्रमणी सघ की एक विशिष्ट साध्वी है। उनके सबसे प्रथम दर्शन मुझे भारत की राजधानी देहली मे हुये। उस समय मेरी अवस्था लगभग १२ वर्ष की थी। उनका विशाल शरीर, उन्नत ललाट, उन्नत वक्ष, प्रबल मासल भुजाए तेज पूर्ण गौर मुख-मडल उनके आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा था। मैं उनकी मनमोहन छवि को निहार कर मन मे विचार किया करती थी, कि प्रकृति ने सारा सौन्दर्य समेट कर इनको दे डाला है। जैन श्रमणी सघ तथा त्याग साधना की आप अमर कलाकार रही है। वाणी का माधुर्य, व्यक्तित्व का ओज, सत्य का सौन्दर्य तथा सयम की निष्ठा आपके व्यक्तित्व के अपूर्व गुण रहे है। आपकी दृढ निष्ठा सगठन शक्ति

रचनात्मक कार्य को सफल बना देने की अपूर्व सूझ-बूझ और सत्य को जनता के गले उतार देने का वाग्वैदग्ध्य सचमुच अभी तक अप्रतिहत रहा है। मैंने कुछ ऐसे व्यक्ति देखे हैं जिनका हृदय बहुत सरल मधुर और निश्छल प्रतीत हुआ, किन्तु हृदय की वह मधुरता वाणी में नहीं छलक सकी, मन का माधुर्य कर्म में नहीं उतर सका। अन्तःकरण की सरल वाणी में व्यक्त नहीं हो सकी और ऐसे तो बहुत व्यक्ति देखे हैं, जिनकी वाणी मिसरी का टुकड़ा लगी, बड़ी मधुर सरस ऐसी कि बस मधु की मिठास भी फीकी लगे, किन्तु उनके हृदय को जब देखा तो कटुता, विद्वेप, वैमनस्य का जहर वहाँ छलछला रहा था। सौभाग्य से तीसरी कोटि के व्यक्ति भी देखे हैं। जिनकी वाणी मधुर, मन उससे भी मधुर, वाणी सरल सरस, हृदय उससे भी सरल सरस पवित्र। महासती श्री पन्नादेवी जी महाराज से जब जब मेरा पत्र द्वारा मिलन हुआ तो मैंने उनके व्यक्तित्व को इसी कोटि में पाया। आगम की वाणी में—

हिययमपावमकलुसं जीहा वि य महुरभासिणी णिच्चं

हृदय अकलुष निष्पाप और वाणी में मधुर आलाप

इसे ही आगमकार ने **महुकुंभे महुपिहाणे** कहा है।

मुझे यह कहते प्रसन्नता और गौरव का अनुभव होता है कि सती जी महाराज जी का जीवन ऐसा ही समर्पित जीवन है, उनके जीवन चरित्र के प्रकाशन के प्रसंग को मैं एक महान् प्रसंग मानती हूँ, मुझे कहना चाहिये कि इस सुअवसर पर यह पंक्तियां लिखते हुए मेरा हृदय कृतार्थता का अनुभव कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक व्यक्तित्व होता है।

जितेन्द्रिय साध्वी जी ! आप श्री जी की धीरता, वीरता, नम्रता, गंभीरता, शांतिप्रियता, निर्भीकता, निष्पक्षता, दयालुता, सेवा भावना दूरदर्शिता, वाक्पटुता व्यवहार कुशलता, संयम साधना एवं ज्ञानाराधना इत्यादि गुणों की ज्योत्सना भूमंडल में जगमगा रही हैं। आपकी मधुरता की स्मृति होते ही मुझे संस्कृत काव्य की कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं।

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं

हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मथुराधिपतेरखिलं मधुरम्

वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरं
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मथुराधिपतेरखिलं मधुरम्

—ठीक इसी प्रकार आपका बोलना, हसना चलना सब कुछ मधुर है। आपके नयनो मे चातुर्य, माधुर्य औदार्य और साथ ही साथ दिव्य एव भव्य जीवन का सत्य भरा हुआ है। आपके चेतनामय वचन मुरझाए हुए मानव फूलो को नवचेतना और नवस्फुरणा प्रदान करते है। सचमुच आपकी वाणी मे एक आलौकिक प्रकार का जादू है, जो सुनने वालो के समग्र जीनव को आलोकित कर देता है।

आपका जीवन आदर्श और पवित्र है, आपके दर्शन और सेवा भावना शुभाचरण की प्रेरणा देते हैं। आपका प्रत्यक्ष दर्शन जितना पावन है, उतना आपका स्मरण भी पावन है। परमश्रद्धेया साध्वी जी महाराज के पुनीत जीवन से कौन परिचित नही होगा, उनके विषय मे एक पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल की युक्ति मुझे याद आ रही है—

"What is well-known is not necessarily known merely because it is well-known"

जिनका जीवन व्यापक एव विराट् हो उनकी परिचय प्रशस्ति को शब्द शृखला की कडियो मे आबद्ध करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

आपके जीवन मे यह विशेषता क्यो न हो, क्योकि आपने यह सर्व गुण प्रात स्मरणीया परम आदरणीया, श्रमणसघ की आत्मा जैन शासन की विभूति, अनेक गुण-सम्पन्न अखड बालब्रह्मचारिणी, शास्त्ररसिका, कल्पवृक्ष के समान, धर्म की ध्वजा के समान सघ की नायिका स्वर्गीया श्री प्रवर्तनी महासती पार्वती जी महाराज जी के चरणो मे रहकर प्राप्त किये हैं। घोर तपस्विनी, दृढसयमी, सरलात्मा, शान्तमूर्ति स्वर्गीया श्री श्री १००८ श्री राजमति जी महाराज के उपवन मे आप एक फूल बनकर महकी है, जिसकी महक और छत्रछाया मे जो भी आता है, वह आत्म विभोर हो जाता है, उन के जीवन चरित्र के प्रकाशन के इस अवसर पर यद्यपि मै इस शरीर देह-द्वारा निकट मे नही हूँ, तथापि शब्दो के द्वारा सन्निकट होकर अपनी तरफ से

उनका हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ और उनके दीर्घ जीवन और आरोग्यता की कामना करती हूँ।

"गुलाब बनकर महक तुझको जमाना जाने
तेरी भीनी भीनी महक अपना बेगाना जाना"

Let your knowlege be as wide as the harizon, your understanding as deep as the oceqns and your ideas as high as the heavens above.

हे करुणामूर्ति ! धरती तल के मानव तो दूर, स्वर्ग में बैठी हुई योगनिष्ठा महामानवीय गुणों से परिपूर्ण स्वनामधन्या स्वर्गीया श्री रतनदेवी जी महाराज भी "आप दीर्घायु बने जैनशासन की चिरकाल तक सेवा करके स्व पर कल्याण की साधना करें, यही शासन देव से नम्र प्रार्थना करती हैं।"

सत्यं शिवं सुन्दरम्

●●
जैन जगत की दिव्य विभूति

—साध्वी निर्मल (देहली)

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः॥

"यथा नाम तथा गुण" उक्ति के अनुसार स्वनामधन्या महासती श्री 'पन्नादेवी जी' का जीवन अक्षरक्ष. चरितार्थ है। पन्ना (रत्न) की भाँति आप श्री का जीवन उज्ज्वल-सम्मुज्वल-प्रत्युज्ज्वल है।

सयमपथ की साधिके ! अदम्य है आपका साहस। प्रखर है आपका पांडित्य। अद्वितीय सौम्यता, तेजस्विता, वाणी मे नैसर्गिक (Natural) सरलता आदि सद्गुण क्षितिज की भाँति प्रशसनीय व अनुकरणीय है। प्रकृति (Nature) मे मृदुता का बिम्ब इस महान विभूति मे स्पष्ट प्रतीत होता है। कवि के शब्दो मे कह दूँ—

"सरल मतिः सरल गतिः सरलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति सरलं, सरलः सरलेन भावेन॥"

आप श्री (महासती जी) की विराट गुणावली को शब्दो की ससीम परिधि मे आबद्ध नही *किया जा सकता। कारण कि वर्ण ससीम हैं, गुण असीम है।* अत आपके सम्पूर्ण गुणो का वर्णन करना मेरे लिए दुष्कर ही नही अपितु असभव भी है। महान आत्मा का जीवन तो दीपक की भांति है।

इन सयम पथ की आराधिका का "जीवन परिचय ग्रन्थ" प्रकाशित किया जा रहा है, यह कृति अभिवदनीय है। दिव्यात्माओ के चरित्र से यथार्थ मार्ग का प्रदर्शन होता है व मानव बनने की प्रेरणा मिलती है।

अत मे महासती जी के पवित्र चरणाम्बुज मे शत-शत वन्दन करती हुई उनकी जन्म जयन्ती के पावन प्रसग पर उनके निष्कटक साधना पथ की मगल कामना करती हूं। ●

●●
श्रद्धा के मोती

—साध्वी प्रमोद
(श्री पन्नादेवी जी म० की प्रपौत्र शिष्या)

भारतीय संस्कृति एक ऐसी उच्च धार्मिक संस्कृति है, जिसने समय-समय पर भव्य आत्माओं व महान् विभूतियों को जन्म देकर मानव समाज का ही नहीं अपितु विश्व के चराचर प्राणीमात्र का कल्याण किया है। भारत में जहाँ महान दार्शनिक साधक और आत्मचिंतन करने वाले महापुरुष हुए हैं वहाँ भारत की नारियाँ भी किसी प्रकार उनसे पीछे नहीं रही हैं। भारत की नारी तप त्याग की महान मूर्ति है। वह शान्ति की जीवित प्रतिमा है, एवं महान अन्धकार से पूर्ण विश्व में मानवता की जगमगाती तारिका है। इन्हीं विभूतियों में से एक दिव्य विभूति प्रातःस्मरणीया त्यागमूर्ति एवं विश्वविभूति परम श्रद्धेया महासती श्री १००८ पन्नादेवी जी महाराज हैं। जिन्होंने आजीवन सत्य एवं अहिंसा के महान पथ पर चल कर भीषण से भीषण आपदाओं में भी धर्म का मार्गदर्शन दिया है।

मुझे बाल्यकाल से ही महाराज श्री के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और उन्हीं की अगाध प्रेरणा से प्रेरित होकर श्रमण धर्म मार्ग पर आजीवन चलने का संकल्प लिया है। आज सौभाग्य का विषय है कि मैं कुछ श्रद्धा के सुमन उनके चरण कमलों में अर्पित कर रही हूँ। और इसके लिए मैं अपने जैसे तुच्छ को अनुगृहीत समझती हूँ। महापुरुषों की स्मृतियों की अनेक घटनाएँ होती हैं। वे परोपकार त्याग एवम् तपस्या के कारण याद किए जाते हैं एवं उनका जीवन सफल माना जाता है। श्रद्धा के केन्द्र आदर-

णीय महासती जी ने अपने जीवन को त्याग एव तपस्या की कसौटी पर कस कर कचन के समान उज्ज्वल बनाया है ।

वे त्याग तप एव श्रद्धा की ज्योति-प्रदायिका है । स्फूर्ति इनके अग-अग मे झलकती है । मैंने स्वय देखा है कि भीषण आपदाओ और घोर सकट काल मे भी उदासीनता के चिह्न दिखाई नही देते है । अनेक भीषण विपत्तियो के मध्य भी उनके अन्दर सर्वदा उत्साह वर्धक मुस्कराहट दिखाई देती है । मानव को धर्म-पथ पर से विचलित होते हुए देखकर महासती जी व्यथित हृदय से कह उठती है "मनुष्य ने समुद्र के गम्भीर अन्तस्तल का पता लगाया । हिमालय के उच्चस्तर शिखर पर चढ कर देखा, आकाश और पाताल की सन्धियो को नाप लिया, परमाणु को चीर कर देखा, किन्तु वह अपने आपको नही देख सका । अपने पडोसी को नही देख सका । मानव ने अपने सही रूप को नही पहचाना है ।"

महासती जी का जीवन आद्योपान्त धर्म साधना मे व्यतीत हुआ है । उनके हृदय मे दया, क्षमा, करुणा एव सहनशीलता और प्रेम का अगाध श्रोत है । आपके विचार विशाल एव व्यापक है । इसी कारण आपके मुखारविन्द से निकले हुए सरल भाव शुभवचन मानव के हृदय मे स्थायी भाव बन जाते हैं । वर्ण, जाति एव वर्ग भेद आपके हृदय को छू तक भी नही पाया है । यही कारण है कि प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति आपको आदर की दृष्टि से देखता है । आप असीम गुणो के भडार हैं । आपके स्वभाव मे सरलता, मधुरता, सौम्यता एव गम्भीरता स्पष्ट झलकती है । आप उच्चकोटि की महान विदुषि एव गम्भीर दार्शनिक हैं । संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, गुजराती आदि अनेक भाषाओं मे पारगत है । जैन आगमो का आपने गहन अध्ययन किया है ।

इसके साथ-साथ आपकी भाषण कला बहुत ही प्रभावशाली है । ज्ञान तप एव महान साधना से आपका मुखमडल हमेशा देदीप्यमान दिखलाई देता है । इसके साथ महान सयम, एव चरित्र की गहरी छाया आपके जीवन मे झल-कती है । किशोरावस्था के पूर्व ही जैन धर्म मे दीक्षा लेकर सूर्य के समान

प्रकाश, चन्द्रमा के समान शीतलता एवं पुष्प के समान सुगन्धि प्राप्त की। आपके महान पांडित्य एवं विचार शक्ति के समक्ष महान से महान विचारक एवम् तार्किक सहसा अपनी तर्क शक्ति को भूल जाते हैं। और पूर्णरूपेण अपनी शंकाओं का समाधान पाकर संतुष्ट हो जाते हैं।

महासती जी के कृपापात्रों में मैं भी एक हूं, जिसे चरण सेवा में रहने का काफी समय प्राप्त हुआ है। उनका जीवन केतकी की तरह सुरभित है। द्राक्ष की तरह मधुर है और गुलाब की तरह विकसित है। हम इनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। महाराज श्री जी हमारे श्रद्धा के केन्द्र हैं। हम उनकी आज्ञा पालन करते हुए आत्मनिरीक्षण करें और कर्त्तव्यपथ के पथिक बनें। यथाशक्ति उन पर आचरण करें। तथा मार्ग में जो शूल हों, वे फूल बनें। ऐसी हार्दिक कामना करती हूं। श्रमण संघ का ही नहीं, सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज का परम सौभाग्य है कि जो इस प्रकार की विभूति प्राप्त है। अन्त में शासनेश से यही मंगल कामना है कि परम श्रद्धेय महासती जी की पावन छत्रछाया हमेशा-हमेशा के लिए हम सभी पर बनी रहे। आपके नेतृत्व में संघ उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहे दिन द्विगुना रात चतुर्गुणा आपका यश गौरव दिग् दिगंत में व्याप्त होता अग्रसर रहे।

"तुम सलामत रहो हजार वर्ष,
हर वर्ष के दिन हों पचास हजार"

०　　　०

श्रद्धा के अधखिले फूल ये, हे अनबिंधे मोती।
इनमें महक रही है, झिलमिल 'प्रमोद' हृदय की ज्योति॥

●●
प्रस्फुटित रश्मि ..!

—साध्वी साधना (देहली)
[महासती पन्नादेवी जी म० की प्रपौत्र शिष्या]

जिस प्रकार विश्वसस्कृति अथवा जन सस्कृति मे भारतीय सस्कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उसी प्रकार भारतीय सस्कृति मे श्रमणी सस्कृति भी अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती है। श्रमणी वर्ग का इसमे अपूर्व योगदान रहा है। श्रमणी सस्कृति क्या है? आचार मे विचार और विचार मे आचार का सुन्दरतम योग। ज्ञान और क्रिया का श्रेष्ठतम समन्वय! सद्गुण और सदाचरण का पुञ्जीकृत रूप।

भारतीय सस्कृति का इतिहास ऐसे त्यागमार्गी महान् आत्माओ के समुज्ज्वल चरित्र एव पावन उपदेश की हैमाभरश्मियाँ विकीर्ण कर रहा है। भारत आध्यात्म सस्कृति का केन्द्र रहा है। अत प्रत्येक स्थान मे, प्रत्येक समाज मे प्रत्येक सम्प्रदाय मे, प्रत्येक प्रान्त मे एक से एक बढकर चिन्तनशीला, मननशीला साध्वियो मे महासती पुण्यश्लोका पन्नादेवी जी म० भी एक हैं। यथा नाम तथा गुण की उक्ति आप पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है।

हे धवल ज्योत्सने!—आपने 'तमसो मा ज्योतिगर्मय' इस शाश्वत परम्परा के आधार पर स्वय अन्त करण मे आत्म-ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित कर जनता को भी उसी ज्योति मे ज्योतिर्मय किया। आपने अन्धकारावृत मानवो को झकझोरा।

हे रजत रश्मि ! आपकी ज्ञान की रजत रश्मियाँ प्राप्त करने के लिए मानव मन उत्सुक रहता है। आपने उनको ज्ञान प्रकाश प्रदान किया। 'ज्ञान का कुछ लोगों की जायदाद वन जाना घोर अन्याय है।' आपने इसका विरोध किया और आपने मानव को अमर सन्देश दिया—कि हे मानव ! तू वढ़ता चल ! निरन्तर वढ़ता चल। सतत प्रकाश की ओर। जाज्वल्य ज्योति की ओर। हे मानव तू अपनी शक्ति को पहचान। समन्वय की विचारधारा से मस्तिष्क और हृदय को उज्ज्वल कर। आपके ये शब्द 'महाकवि प्रसाद' की इस उक्ति की पुष्टि करते हैं—

> **"डरो मत ! अरे अमृत सन्तान, अग्रसर है मंगलमय वृद्धि।**
> **पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र, खिची आवेगी सकल समृद्धि।**
> **शक्ति विद्युत्कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हों निरुपाय।**
> **समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥**

विचारों की ज्योति कितनी ऊँची उठ सकती है। और कितनी दूर तक आलोक की रजतरश्मियाँ प्रसारित कर सकती हैं। यह हमने आपके जीवन में भली-भाँति देखा है।

हे महकती कलिके ! आप श्री वीरभूमि राजस्थान के सोजत नगर में स्वगृह के विराट् प्रांगण में एक कलिका के रूप में महकीं। किसको ज्ञात था कि माता नानकी की यह सुपुत्री एक दिन देश की दिव्य विभूति वनेगी। इनके पिता किशनचन्द जी भी देश के वड़े ही पुण्यात्मा व धर्म प्राण व्यक्ति थे। माँ-वाप के इस मधुर ओजस्वी व्यक्तित्व से पन्नावाई को उन्नत संस्कार प्राप्त हुए। यह सुकुमार कलिका अपनी महक से गुलावी शैशव में ही जन मानस को आकृष्ट करने लगी।

हे सौन्दर्य की साकार प्रतिमूर्त्ति ! आपका आत्म वैभव के साथ-साथ शारीरिक वैभव भी अपूर्व है। गौर वर्ण, धवल वसना, तेजस्वी नयन, भव्य ललाट एक अनूठी दीप्ति से परिपूर्ण हैं। विशाल वक्षस्थल, आजानुवाहु, उच्च-

काय मोहक व नयनाभिराम है। प्रथम दर्शन मे ही दर्शक सौन्दर्याकृति को देखकर अवाक् सा रह जाता है।

हे शरद् चन्द्रिके ! आपके हृदय को विश्व के राग-रग आकर्षित न कर सके। आप अपनी आत्मा को शुद्ध प्रबुद्ध बनाने के लिए अनन्त पथ की ओर अग्रसर हुई। आपने १० वर्ष को किशोरावस्था मे आर्हती भगवती दीक्षा ग्रहण कर प्रसिद्ध साध्वी विदुषी प्रवर्तनी श्री पार्वती जी महाराज के चरण सरोजो मे अपने को समर्पित किया। शरद चन्द्रिका सदृश आज भी आप उज्ज्वल ज्योत्सना, सत्य निष्ठा, अविचल श्रद्धा, सयम और जन जागरण का सदेश दे रही है।

हे साधना की साक्षात् प्रतिमे ! आप श्री का कहना है कि समता साधना का प्राण है। जीवन की ज्योति है। जिस जीवन मे समता नही है, समभाव नही है, उसमे साधना की ज्योति ज्योतिमय नही हो सकती। समभाव की साधना के बिना साधक को सिद्धि की प्राप्ति दुर्लभ है। आपके जीवन मे साधना की अपूर्व झलक दृष्टिगोचर होती है। समता आपके जीवन का मूलमत्र है।

हे विश्व माधुरी ! आप समग्र विश्व मे मधुरता का सदेश प्रसारित कर रही है। आप श्री का कहना है मानव-मानव सब एक है। किसी जाति विशेष मे जन्म लेने के कारण किसी मानव का अनादर करना अपना ही अनादर करना है। आपके हृदय मे प्रेम निर्झर प्रवाहित है। आपकी यह शुभ कामना है कि जन मानस मे सदैव प्रेम सरिता प्रवाहित होती रहे। 'कवि दिनकर' के शब्दो मे भी यही सदेश प्रतिध्वनित हो रहा है।

बहे प्रेम की धार मनुज को वह अनवरत भिगोए।
एक दूसरे के उर मे नर बीज प्रेम के बोए॥

हे अक्षय निधि ! आप समाज की अक्षयनिधि हैं। आप श्री का गहन अध्ययन, चिन्तन एव मनन अपने कल्याण के लिए नही, वरन् समस्त विश्व के मगल हेतु है। मानव ज्योति के लिए आप प्रज्ञास्कन्ध है। आपका जीवन आध्यात्मिक सद्गुणो से ओत-प्रोत है।

हे निर्मल विभूते ! आपका जीवन निर्मल एवं पवित्र है। सज्जनता, संयम, शान्ति, सरलता, सत्य, सन्तोष सेवाभाव आदि सद्गुणालंकारों से आपका जीवन चन्द्रकिरणों के सदृश प्रतिभासित है।

आपके जीवन में मृदुलता, सरलता निष्कपटता, मैत्री, करुणा, सहानुभूति आदि प्रचुर मात्रा में परिव्याप्त हैं। आपकी महिमा अकथनीय है। लेखनी गुणों को अंकित करने में असमर्थ है। पर श्रद्धा रस में निमज्जित हो अनायास ही यह शव्द हृदय तंत्री में झंकृत हो उठते है।

"तुम हमारी आत्मा हो तुम हमारा प्राण हो।
अय धर्म की देवी तुम्हीं धर्म रक्षक त्राण हो ।।
तेरी इक इक तान पर कुर्बान सब संसार हो।
प्यार हो श्री संघ में सर्वत्र सुख संचार हो ।।
है कैसी मोहनीमूर्त्त ओ चन्दा सी चमकती है।
तेरा तप त्याग तेरी करुणा पेशानी पे दमकती है ।।

आपके ८० वें शुभ जन्म दिवस पर हार्दिक अभिनन्दन करते हुए यह मंगल कामना करती हूँ कि आप आरोग्य और दीर्घायु हों। इन्हीं शब्दों के साथ—

"सत्यनिष्ठामय पुण्यश्लोका महासती,
के चरणों में शत-शत वन्दन।
प्रेम श्रद्धा के सुमन संचय कर,
'साधना' करती है अभिनन्दन ।।"
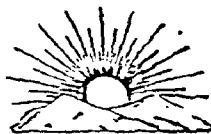
प्रणाम करें ...!

—आर्या स्वर्णा (अम्बाला)

तेजोदीप्त मुख मुद्रा है गौर वर्ण सुकुमार शरीर ।
अन्तर निर्मल उज्ज्वल निश्छल सागर सम हैं गम्भीर ।
आत्म तुष्टि सयम पुष्टि मे जीवन की घड़ी सुचिर ।
समता करुणा का निर्झर बहे निरन्तर अजर अमर ।
तेजस्वी काया से निशदिन आत्म ज्ञान का स्रोत बहे ।
त्याग वैराग्य की पावन रश्मि से जीवन उत्थान करें ।
समाज सुधार नारी जागरण की हृदय मे तड़फ बढ़ी ।
जिन वाणी के द्वारा हो मानव सेवा की चाह जगी ।
राजस्थानकी वीर स्थली मे सोजतनगर को मान मिला ।
प्रवर्तिनी राजुल गुलशन में सर्वोत्तम स्थान मिला ।
उसी गुलशन मे 'हीरा','पन्ना','चन्दा','मानक','रत्न' जड़ी ।
योग निष्ठ तपोभूमि मे 'ईश्वर', 'राधा' सात कली ।
हे विदुषि ! पन्ना भू-कल्याणी युग तेरा गुणगान करें ।
पार्वती जी के अंशज को 'स्वर्ण' कोटि प्रणाम करें ।

●●

आस्था से महकते सुमन...!

—साध्वी स्नेहलता (सदर देहली)

विराट विश्व में प्रतिपल अनंत प्राणी अवतरित होते हैं, और काल के ग्रास बनते हैं उसकी कोई गणना नहीं है । परन्तु जो जीवात्मा जन्म लेकर स्व पर कल्याण की साधना में समरस होता है, ऐसी जीवात्माएँ अमर हुई हैं, और भविष्य में अमर रहेगीं । यह जैन शास्त्र का परम सत्य तथ्य फरमान है ठीक इसी तरह हमारे महासती जी स्व-पर साधना में तल्लीन बने हुए हैं । आपका जीवन सुमधुर, सुकोमल, एवं सौरभान्वित सुमन सम है । जैसे सुमधुर सुमन उद्यान में खिलता है, और अपनी सुमधुरता, सौन्दर्य एवं सौरभ सर्वत्र फैलाता है, इसीतरह विश्ववाटिका में हमारे महासती जी मानव पुष्प के रूप में अवतरित होकर सेवा, समता एवं सहिष्णुता की सुमधुरता स्वभाव सौन्दर्य तथा सद्‌गुण सौरभ सर्वथा वितरित कर रहे हैं । आपका जीवन सुवासित अगरवत्ती के समान है जो स्वयं जल कर भी दूसरों को अपनी खुशबू देती है ।

आप एक अनमोल रत्न हैं, रत्न जब तक खान में अज्ञात स्थान में छिपा रहता है तब तक उसका किसी को पता नहीं होता, परन्तु जब मशीन पर घिस कर उसके पहलू बनाये जाते हैं तब वह सम्राट के मुकुट में जगमगाता है । इसी तरह उस समय किसी को पता नहीं था कि यह मानव रत्न सम्पूर्ण भारत में अपना सद्‌ज्ञान और चरित्र प्रतिभा फैलाएगा, परन्तु यह मानव रत्न जीवन के उच्चतम शिखर को प्राप्त कर समग्र भारत में जगमगा रहे हैं

आपने स्थानकवासी समाज मे एक रिकार्ड तोडा है। आपने १० वर्ष की आयु मे दीक्षा लेकर संस्कृत, प्राकृत एव धर्मशास्त्रो का उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त स्व-पर दर्शन की प्रकाण्ड पण्डिता बनी। आप मे विनम्रता एव कठ की मधुरता का त्रिवेणी सगम हुआ है। साथ ही सोने मे सुगध समान बुलन्द आवाज का वरदान भी प्राप्त हुआ है। आपका प्रवचन श्रवण कर श्रोतागण मत्रमुग्ध हो जाते है। बासुरी की ध्वनि सुनकर सर्पराज जैसे तल्लीन हो जाता है, इसी तरह श्रोतावर्ग भी तल्लीन हो जाता है। विनम्रता तो आपके अणु-अणु मे झलकती है। आपमे गम्भीरता का बहुत बडा गुण है। आपके तेजोमय तथा शान्त व्यक्तित्व के दर्शन मात्र मे ही मानव शान्त रस मे ओत-प्रोत हो जाता है। बालब्रह्मचारिणी तथा प्रखर बुद्धिमत्ता एव सहिष्णुता के कारण यदि आपको आधुनिक भीष्म पितामह कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी।

महासती जी के विषय मे कुछ कहना, 'सूर्य को दीपक दिखाना जैसा है।'

आप जैन-समाज की एक बहुमूल्य रत्न हैं। इस प्रकार अपने हृदयस्थ श्रद्धा पुष्पो को मैं महासती जी के चरणो मे समर्पित करती हूं। इन श्रद्धा पुष्पो मे भले ही मनमोहक सुगन्धि न हो, भले ही इन श्रद्धा पुष्पो मे आकर्षक रूप रग न हो, फिर भी ये श्रद्धा सुमन मेरे हृदय मे सिंचित है, और महासती जी के प्रति गहरी आस्था और सच्ची निष्ठा मे भीगे हुए है। अतएव जो कुछ मेरे पास है जैसे भी है, जितने भी है, सेवा मे समर्पित है। स्वीकार कीजिए भगवन्! और मुझे यह मगलमय वरदान दीजिए कि मैं भी आपके चरण चिह्नो का अनुसरण करके जीवन के सही ध्येय, सच्चे लक्ष्य एव पावन उद्देश्य तक पहुंच सकूं।

यही मगलकामना है कि महासती जी दीर्घजीवी हो और उनके जीवन से हम सदैव शिक्षा ग्रहण करे।

सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति

—श्रीमती विमलादेवी जैन
महासचिव, जैन महिला समिति, देहली

इस अवनी पर एक नहीं, अनेकों महान् विभूतियां आई और अपने जीवन का सौरभ महका कर चली गई। जैसे इतिहास उन महापुरुषों की गौरव गाथाओं से समुन्नत है। महान् आत्माओं का जीवन-चरित्र भी साहित्य का एक रूप होता है। चरित्र नायिका के जीवन की घटनाएँ तथा उनके अनुभवों से हम बहुत लाभ उठाते हैं। इस विश्व के साधना मंच पर अनेकों साधक आए, अपनी-अपनी साधना के चमत्कार दिखाए। उन्हीं साधकों में परम श्रद्धेय महासती श्री पन्नादेई जी भी एक हैं।

इनका जीवन निराला जीवन है। साधना की ज्योति से इनका जीवन ज्योतिर्मय है। संयम की साधना, मानवता की साधना, ज्ञान की साधना से इनका जीवन ओत-प्रोत है। साधनापथ की पथिक बन कर यह उस पथ को प्रशस्त और उज्ज्वल बना रही हैं। जीवन में आए हुए विकट संकटों तथा उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिए यह दिव्य विभूति स्वयं भी धैर्य से कार्य करती हुई विश्व के मानवों को भी शान्त, धीर गम्भीर बनने का सन्देश चहुँ ओर प्रसारित कर रही हैं।

मैं २२ वर्ष से महासती जी के जीवन का अवलोकन कर रही हूँ। मैंने इनके जीवन को गहराई से देखा है; सदा मधुरता का स्रोत ही प्राप्त हुआ। उनकी वैराग्य पीयूष धारा में निमज्जित होकर आत्मा आनन्द से गद्‌गद् हो गई। विरोधिता की प्रचण्ड आँधी, कष्टों के अंधड़, झंझावत उनको अपने गन्तव्य पथ से कभी नहीं डिगा सके। प्रेम का झरना तो प्रवाहित है ही, इसके साथ-साथ

आप परम विदुषी और मधुर वक्ता भी है। संगीत की मधुर वीणा ऐसे झंकृत होती है मानों पीयूष वर्षा हो रही हो। निर्भीकता, व सत्यनिष्ठा इनके जीवन का विशेष गुण है।

यह पवित्र ज्योति आज से ७६ वर्ष पूर्व राजस्थान की वीर भूमि सोजत नगर में अवतरित हुई। वैराग्य से सचित उनका बचपन अपनी अलौकिक छटा बिकीर्ण कर रहा था। १० वर्ष की अवस्था मे ही इस असार ससार से विरक्त होकर स्थानकवासी जैन परम्परा की महान् विदुषी साध्वी प्रवर्तनी श्री पार्वतीजी महाराज के चरण सरोजो मे भागवती दीक्षा अगीकार कर अपने स्वप्नो को साकार किया।

वर्तमान में आप दिल्ली के प्रमुख केन्द्र सदरबाजार मे जनजागरण का सन्देश देती हुई विराजमान हैं। आप सदर बाजार के ओसवाल, अग्रवाल, दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी समाजो की अमूल्य मणिसदृश है। आप अपने नाम को सार्थक करती हुई समाज को चमत्कृत कर रही हैं। सदर समाज, आप जैसी दिव्य विभूति को पाकर गौरवान्वित है।

आप सरलहृदया, करुणाशील, सहिष्णुता, समता और ज्ञान की प्रखर रश्मियाँ प्रसरित कर रही है। वयोवृद्ध स्थविरा श्री पन्नादेई जी की गौर वर्ण मुद्रा, नयनों मे तेजस्विता, वाणी मे मधुरता, हृदय मे सेवा भावना व वात्सल्यता की फुहार से मानस सिक्त हो जाते है।

मेरी जड लेखनी उनकी अनन्त गुणावली का शब्दो की सीमा मे नही बाँध सकती। इनकी महिमा अपरिमित है। मेरा सीमित बुद्धि व लेखनी आपके विशाल गुणो का अकन करने मे असमर्थ है, तो भी भक्ति भावना से निमज्जित होकर आपके शुभ जन्म दिवस पर अपनी ओर से तथा अपनी सदर महिला समाज की ओर से यही मगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हो, आरोग्य हों, और सदर समाज की यह पताका इसी प्रकार ऊँची उठी रहे और हम लोग इनसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को आदर्शमय बना सके।

●●

जन-जीवन की अमर ज्योति

—श्रीमती मोहिनी सिंघवी

सहमंत्रिणी-एक विश्वसद्भावना परिषद, देहली

विश्व रंग-मंच पर अगणित व्यक्ति आते हैं, और अपना अपूर्ण अभिनय समाप्त कर चले जाते हैं। जिन्होंने कलापूर्ण अभिनय किया, वे मरे नहीं, सदा के लिए अमर बन गये। जिन्होंने जीने की कला को जाना, वे जन-जीवन की अमर ज्योति बन गये। महास्थविरा महासती पन्ना जी भी इसी महान पावन शृङ्खला की एक कड़ी हैं।

साध्वी श्री शान्ति, स्नेह सन्तोष, समता, सहिष्णुता एवं सद्भावना की प्रतिमूर्ति हैं। वह केवल साधनारत जैन साध्वी ही नहीं, वरन् आप में अनेकों विशेषताएँ हैं, जिसमें आपका सहज स्वभाव है "सेवा भाव"।

जहाँ "स्त्रीशूद्रौ नाधीयतां" उक्ति के अनुसार स्त्रियों को पढ़ना वर्जित माना जाता था। वहाँ आपने नारी शिक्षण केन्द्र प्रारम्भ कर क्रान्ति का मंत्र फूँका। नारी जागरण का सन्देश दिया। महिलासमाज के जागृति का जब इतिहास लिखा जायेगा तब साध्वी श्री पन्ना जी का नाम स्वर्ण अक्षरों में सदा के लिए सुअङ्कित रहेगा।

जैन महिला समिति, दिल्ली ने महामती महासती के ८० वें शुभ्र-शरद् के शुभावसर पर "साधना पथ की अमर साधिका" नाम से साध्वी श्री का जीवन-परिचय ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर वस्तुतः ही नारी समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

मैं हृदय से यह शुभ कामना करती हूँ कि यह ग्रन्थ क्रान्तिकारी साध्वी श्री के मूर्त जीवन को जनता सामने प्रस्तुत कर महिला समाज को सदा-सर्वदा एक नई क्रान्ति, एक नवीन चेतना, एक नूतन प्रेरणा प्रदान करें। ●

आप परम विदुषी और मधुर वक्ता भी है। सगीत की मधुर वीणा ऐसे झकृत होती है मानो पीयूष वर्षा हो रही हो। निर्भीकता, व सत्यनिष्ठा इनके जीवन का विशेष गुण है।

यह पवित्र ज्योति आज से ७६ वर्ष पूर्व राजस्थान की वीर भूमि सोजत नगर मे अवतरित हुई। वैराग्य से सचित उनका बचपन अपनी अलौकिक छटा विकीर्ण कर रहा था। १० वर्ष की अवस्था मे ही इस असार ससार से विरक्त होकर स्थानकवासी जैन परम्परा की महान् विदुषी साध्वी प्रवर्तनी श्री पार्वतीजी महाराज के चरण सरोजो मे भागवती दीक्षा अगीकार कर अपने स्वप्नो को साकार किया।

वर्तमान मे आप दिल्ली के प्रमुख केन्द्र सदरबाजार मे जनजागरण का सन्देश देती हुई विराजमान है। आप सदर बाजार के ओसवाल, अग्रवाल, दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी समाजो की अमूल्य मणिमदृश है। आप अपने नाम को सार्थक करती हुई समाज को चमत्कृत कर रही है। सदर समाज, आप जैसी दिव्य विभूति को पाकर गौरवान्वित है।

आप सरलहृदया, करुणाशील, सहिष्णुता, समता और ज्ञान की प्रखर रश्मियाँ प्रसरित कर रही है। वयोवृद्ध स्थविरा श्री पन्नादेई जी की गौर वर्ण मुद्रा, नयनो मे तेजस्विता, वाणी मे मधुरता, हृदय मे सेवा भावना व वात्सल्यता की फुहार से मानस सिक्त हो जाते हैं।

मेरी जड लेखनी उनकी अनन्त गुणावली को शब्दो की सीमा मे नही बाँध सकती। इनकी महिमा अपरिमित है। मेरी सीमित बुद्धि व लेखनी आपके विशाल गुणो का अकन करने मे असमर्थ है, तो भी भक्ति भावना से निमज्जित होकर आपके शुभ जन्म दिवस पर अपनी ओर से तथा अपनी सदर महिला समाज की ओर से यही मगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हो, आरोग्य हो, और सदर समाज की यह पताका इसी प्रकार ऊँची उठी रहे और हम लोग इनसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को आदर्शमय बना सके।

●

जन-जीवन की अमर ज्योति

—श्रीमती मोहिनी सिंघवी

सहमंत्रिणी-एक विश्वसद्भावना परिषद, देहली

विश्व रंग-मंच पर अगणित व्यक्ति आते हैं, और अपना अपूर्ण अभिनय समाप्त कर चले जाते हैं। जिन्होंने कलापूर्ण अभिनय किया, वे मरे नहीं, सदा के लिए अमर बन गये। जिन्होंने जीने की कला को जाना, वे जन-जीवन की अमर ज्योति बन गये। महास्थविरा महासती पन्ना जी भी इसी महान पावन शृङ्खला की एक कड़ी हैं।

साध्वी श्री शान्ति, स्नेह सन्तोष, समता, सहिष्णुता एवं सद्भावना की प्रतिमूर्ति हैं। वह केवल साधनारत जैन साध्वी ही नहीं, वरन् आप में अनेकों विशेषताएँ हैं, जिसमें आपका सहज स्वभाव है "सेवा भाव"।

जहाँ "स्त्रीशूद्रौ नाधीयतां" उक्ति के अनुसार स्त्रियों को पढ़ना वर्जित माना जाता था। वहाँ आपने नारी शिक्षण केन्द्र प्रारम्भ कर क्रान्ति का मंत्र फूँका। नारी जागरण का सन्देश दिया। महिलासमाज के जागृति का जब इतिहास लिखा जायेगा तब साध्वी श्री पन्ना जी का नाम स्वर्ण अक्षरों में सदा के लिए सुअङ्कित रहेगा।

जैन महिला समिति, दिल्ली ने महामती महासती के ८० वें शुभ्र-शरद् के शुभावसर पर "साधना पथ की अमर साधिका" नाम से साध्वी श्री का जीवन-परिचय ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर वस्तुतः ही नारी समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

मैं हृदय से यह शुभ कामना करती हूँ कि यह ग्रन्थ क्रान्तिकारी साध्वी श्री के मूर्त जीवन को जनता सामने प्रस्तुत कर महिला समाज को सदा-सर्वदा एक नई क्रान्ति, एक नवीन चेतना, एक नूतन प्रेरणा प्रदान करें।

श्रद्धा के बिन्दु !

--सरोजदेवी जैन (देहली)

इस मरणधर्मा ससार मे कुछ, महान आत्माएँ ऐसी आती हैं, जो इस भौतिक जीवन के समाप्त होने के बाद भी नही मरती। काल का गहरा आवरण भी उनकी जीवन गाथाओ को धुँधला नही बना सकता उनकी स्मृतियो को मिटा नही सकता। भगवान ऋषभदेव, राम कृष्ण, और बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषो को हजारो-लाखो वर्ष बीत गये, परन्तु वे आज भी जीवित हैं और युग-युगान्तर तक जीवित रहेगे। श्रद्धेय श्री १००८ महासती पन्नादेई जी महाराज भारतीय सस्कृति की महान सतियो मे से एक है। जैन धर्म मे सदा ऐसी सतियो का महत्व रहा है। श्रद्धेय श्री १००८ महासती पन्नादेई महाराज के जीवन मे ज्ञान की दिव्यज्योति के साथ आचार के उज्ज्वल-समुज्ज्वल स्वरूप का दर्शन होता है। श्रद्धेय श्री पन्नादेई जी म० के निकट सम्पर्क एव उनके चरणो मे लगभग २ वर्ष तक मुझे बैठने का सौभाग्य मिला है। आप श्री जी के उज्ज्वल चरित्र एव महान जीवन से मैं बहुत प्रभावित हुई हूँ। आपकी सयम साधना के ७० वर्ष पूरे हो रहे है। इसलिए इस शुभ अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा एव भक्ति ने मुझे दो शब्द लिखने के लिए प्रेरित किया है।

पन्नादेई जी महासती का जीवन पवित्रता से ओत-प्रोत भरा है। आपके विचार इतने पवित्र और स्पष्ट है, कि श्रोता मुग्ध होकर सुनते रहते है। कभी थकते नही हैं। आपकी वाणी मे एक तरह का रहस्य छिपा हुआ है। जिसको कोई सुनता है और पढता है, वह सदा के लिए आपका हो जाता

है। आपका सीधा-सादा रहन सहन। महासती जैसा जन प्रायोग्य परिमित उपकरण। धर्म, दर्शन और सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ, बस यही तो पन्नादेई जी महाराज को दृष्टि से अपनी सम्पत्ति है। आपका व्यक्तित्व इतना अद्भुत और अनोखा है कि न वह अपने पर अन्याय को सहन कर सकती है और न दूसरों पर होने वाले अन्याय को ही देख सकती है। आप जैन साध्वी होते हुए भी अन्य धर्मों का आदर करती हैं। आप जैन धर्म की गहन तत्वचिंतक हैं। जैन समाज के बीच आपका बहुत बड़ा सन्मान है। बड़े से बड़े व्यक्ति भी आपकी चरणरज सर-आँखों पर लेने में अपना भाग्य समझते हैं।

—धन्य है महासतीजी का पावन जीवन !

अभिनन्दन है, उस प्रेरणा-दीप का !

—श्री चन्दनमल 'चाँद' एम० ए० साहित्यरत्न
व्यवस्थापक—भारत जैन महामण्डल, बम्बई

व्यक्ति का सद्गुणो से जब पूर्ण विकास होने लगता है तो वह नारी बन जाता है। सीधे शब्दो मे यह कथन भले ही अटपटा लगे, किन्तु गहराई से चिंतन करे तो सत्य प्रतीत होता है। अहिंसा, क्षमा, सहनशीलता, करुणा प्रेम, ममता आदि धर्म के जो विशिष्ट लक्षण बताये जाते है, उनका मूर्त रूप नारी मे सहज ही दृष्टिगत होता है। स्वभाव से कोमल, भावना से ममता एव वात्सल्य की मूर्त्ति, हृदय से उदार एव करुणाशील तथा सेवा की जीती-जागती तस्वीर माँ होती है। इसलिए यह कथन सही लगता है कि व्यक्ति की पूर्णता उसे नारीत्व मे परिणत कर देती है।

इन सारे गुणो से मडित नारी यदि साधना एव सयम का पथ स्वीकार कर आत्म-कल्याण की मजिल तय करती हुई लोक-कल्याण की मगलमय भावना से निरन्तर गतिशील बनती है, तो सोने मे सुगन्धि आ जाती है। भारतीय इतिहास मे नारी जाति के शौर्य, गुण, साहस एव त्याग तपस्या के सहस्रो स्वर्णपृष्ठ लिखे गये हैं। उन महान् आत्माओ के स्मरण से ही प्रेरणा प्राप्त होती है। भारत की वह त्यागमयी पावनधारा आज भी अनवरत प्रवाहित हो रही है, भले ही उसकी धारा कही मद पडी हो, या गति धीमी हुई हो। वात्सल्य एव करुणा की निधि से परिपूरित उस नारी साधनामय जीवन का अभिनन्दन।

महासती पन्नादेवीजी उन्ही नारी रत्नो मे से एक हैं। आपने दस वर्ष की बाल्यावस्था मे ही अध्यात्म साधना का कठोरतम मार्ग अपनाया और अपने

दीर्घकालीन साधना के ७० वर्ष पूरे कर रही हैं। लम्बी आयु पाना महत्व की बात नहीं, महत्वपूर्ण है जीवन के उन क्षणों को सार्थक करना। साध्वी श्री ने जीवन के क्षणों को साधना, त्याग एवं सेवा द्वारा सार्थक किया है। राजस्थान की धरती वीर-प्रसू रही है। कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाने का संघर्षमय वीरत्व दिखाना साध्वी श्री को संस्कारों में ही मिला। व्यक्तिशः मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु व्यक्ति दर्शन की अपेक्षा गुण-दर्शन अधिक महत्वपूर्ण होता है। साध्वी श्री के गुणों की सुरभि यत्र-तत्र मिलती रही है।

अभिनन्दन व्यक्ति का नहीं होता, उनके कर्तृत्व एवं सेवाओं का होता है। अभिनन्दन प्रदर्शन के लिए नहीं, प्रेरणा के लिए किया जाता है। जिसका हम अभिनन्दन करते हैं, वे तो इसे बोझ समझकर और भी नम जाते हैं। उन्हें अभिनन्दन की आवश्यकता नहीं लगती, किन्तु आने वाली पीढ़ी के लिए उनका जीवन और कार्य उस दीप की तरह जगमगाता रहे जिसकी रोशनी में भवसागर में भटकने वाले हम जैसी अनेक छोटी बड़ी नौकाओं को मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

अतः अभिनन्दन है उस प्रेरणा-दीप का,—अभिनन्दन है उस सेवा-भावना का,—अभिनन्दन है साधना का और वन्दन है साध्वी श्री को—उनकी तपश्चर्या और साधना को।

●●

श्रद्धा के श्रोत....!

—श्री होतीसिह एम० ए०

भारत के अन्य धर्मों के साधु वर्ग मे जैनश्रमण वर्ग का आचार विचार एव त्याग वैराग्य की दृष्टि से जो सर्वश्रेष्ठ स्थान है, वह सर्व विदित है। आज भी मानवजगत जैन श्रमणो की सयम साधना का लोहा मानता है। भगवान महावीर के श्रमण जगत मे आज भी अनेको दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन पर अध्यात्म जगत को महान गर्व है। वह सयमसाधना के महानपथ पर चल कर आज भी अहिसा, सत्य का अमृत घर-घर मे बाँटकर विश्व कल्याण की ओर अग्रसर हो रहा है।

इन्ही विभूतियो मे से एक दिव्य विभूति प्रात स्मरणीया महानसाध्वी श्री १००८ श्री महाराज पन्नादेवी जी एक विरक्त निस्पृह उदासीन सयमप्रिय चरित्रशील गुणवान एव विदुषी हैं। जिन्होने जवानी का आरम्भ होने से पूर्व ही ससार के मोह बन्धनो को तोडकर, समाज तथा परिवार के सुख वैभव को त्याग कर, अहिसा एव सत्य के महा पथ पर चलना आरम्भ कर दिया था। त्याग एव वैराग्य के कँटीले मार्ग पर चलकर भयकर से भयकर आपदाओ मे भी अपने को धैर्य के मार्ग मे डाँवाडोल न होने दिया। अपितु हँसते-हँसते सभी अनुकूल तथा प्रतिकूल बाधाओ को मुस्कराते हुए सहन किया है।

महासती जी ने अपने समग्र जीवन मे समाज की महान सेवा की है। उन्होने समाज के प्रत्येक अग को सुन्दर व स्वस्थ बनाने का जीवन भर प्रयत्न किया है। भारत की नारी को लक्ष्य करते हुए कहती हैं—"भारत की नारी तप व त्याग की मोहक मूर्ति है, शान्त जीवन की जीवित प्रतिमा है। वह

अन्धकार से घिरे संसार में मानवता की जगमगाती तारिका हैं।" आप मन के कण-कण में क्षमा, दया, करुणा, सहनशीलता एवं प्रेम का अगाध समुद्र लिए जन-जन को प्रेरणा प्रदान कर रही हैं।

आपने अपना पूरा जीवन जनमानस को सन्मार्ग पर लाने, चिंतन द्वारा आत्मा के दर्शन कराने एवं प्राणीमात्र के लिए शरद् हास-सा सौम्य धवल उपदेश के कार्यों में अभिव्यक्ति कर जीवन की शालीनता स्थापित करने का एकमात्र व्रत ले रखा है। आप महान विदुषी, मनीषी, तपस्विनी एवं महान साधिका हैं। वस्तुतः हमारी संस्कृति एवं तत्त्वज्ञान तथा साधना की मूर्तिमान प्रतीक हैं साध्वी श्री जी!

महासती जी एक महान आध्यात्मिक युगद्रष्टा एवं युगसृष्टा हैं। मैं आपके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, एवं कामना करता हूँ कि यह ज्योति निरंतर जनमानस के हृदय को अलोकित करती रहेगी। और भावी युग को प्रशस्त मार्ग प्रदान करती रहेगी।

●●

गौरवमय जीवन...!

—सौ० लीलादेवी सुराना (आगरा)

इस धरती पर कोटि-कोटि नर,
प्रतिपल आते - जाते है।
जीवन सफल उन्ही का जग में,
जो कुछ करके जाते है।
मानव तन मिट्टी का दीपक,
इसमे ज्योति जलाते है।
अमल-बिमल सद्ज्ञान-रश्मि से,
नव प्रकाश फैलाते है।
महासती पन्नादेवी जी,
सचमुच ज्योति-शिखा निर्मल।
महक रही है जन-जन-मन मे,
उनकी शुभ सद्गुण परिमल!
दीपक-सा ज्योतिर्मय जीवन,
फूलो-सा सौरभ-मय मन!
इस धरती पर धन्य-धन्य है,
उनका गौरवमय जीवन!

●●

आप नया मोड़ देने वाली हैं...!

— महिमादेवी जैन
(एस० एस० जैन महिला संघ, जालन्धर शहर)

महापुरुषों का जीवन ज्योति स्तम्भ सदृश होता है। इनका जीवन संसार के भूले भटके प्राणियों का पथ प्रदर्शक होता है। उन्हीं महापुरुषों में महासती जी का नाम भी उल्लेखनीय है।

सती शिरोमणि श्री पन्नादेई जी महाराज का जीवन सौरभमय पुष्प सदृश है, जो कि देहली के सदर बाजार के धर्मोद्यान में महक रहा है। जिसकी महक समस्त पंजाब को महका रही है।

सत्यनिष्ठा—सरलता—निर्भीकता शान्ति और क्षमा जिनके महान् गुण हैं। दस वर्ष की किशोरावस्था में ही आपने दीक्षा ग्रहण कर साधना की कठिन सीढ़ी पर पाँव रखा, और नाना प्रकार के परिषहों को सहन करती हुई साधना पथ की अमरसाधिका बन गई। धन्य है ऐसी महान् साध्वी को। जिनका दर्शन करने से हृदय गद्‌गद हो जाता है। जिनके साथ ज्ञान चर्चा करने से हृदय एवं आत्मा को बल मिलता है।

नारी जाति को नई दृष्टि, नया मोड़ देनेवाली महान् प्रतिभाशालिनी साध्वी दीर्घायु हों, एवं ज्ञान तपोवन की ज्योति सदा जगमगाती रहे यही हमारी मंगलकामना है।

●●●

●●

साहस की मूर्ति !

—कमला जैन 'प्रभाकर' (देहली)

वयोवृद्धा साध्वी श्री पद्मादेवी जी महाराज का तेजस्वी मुखमंडल उनकी निश्छल व पवित्र विचारधारा का प्रतीक है।

पाकिस्तान बनने के समय आप देहली मे विराजमान थी। उन दिनो हम लोग पाकिस्तान से निष्कासित होकर आये थे। हमारे मन निराश और हताश थे। उस समय आपकी मगलमय छाया मे बैठकर हमे अतीव शक्ति व साहस अनुभव होता था। हम अपने सारे दु ख-दर्द भूल कर उनसे आध्यात्मिक-ज्ञान का आनन्द लिया करते थे। वह हमे परम स्नेह तथा मधुरता से अपने अतीत की गौरव गाथा सुनाया करती थी, जिसे सुन कर हमारा हृदय गौरव से गौरवान्वित हो जाया करता था। वह अपने बीते जीवन का वर्णन भी बडे रोचक ढग मे सुनाया करती। कैसे उनकी गुरुनी ने उन्हे स्नेह तथा लाड दिया और साथ ही अपने कठोर अनुशासन द्वारा सयम मार्ग मे उन्हे आगे बढाया।

उन्होने बताया कि आज की तरह तब स्वतन्त्रता नही थी। परन्तु वह बाल्यकाल से ही निर्भीक थी। जब कोई भी उनकी सहयोगिनी बोल पाने मे असमर्थ होती तब वह आगे बढकर हृदयगत विचार व्यक्त करने में हिचकिचाती न थी।

उनके जीवन के हमे निरन्तर साहस, धैर्य, तितिक्षा, विनय एव सदाचार की प्रेरणाएं मिलती रही है। हृदय की आकाक्षा है कि यह प्रेरणा चिरकाल तक हमारी अगली पीढी को भी मिलती रहे। ●

—सहयोग के हजार हाथ—

जीवन-चरित्र प्रकाशनार्थ जिन उदार हाथों ने हमारा सहयोग किया, उन

दानदाताओं की सूची

१	श्री अग्रवाल जैन महिला संघ, पहाड़ीधीरज, देहली	२०००)
२	श्री वीनारानी जैन, पहाड़ीधीरज, देहली	१०००)
३	,, दुर्गादेवी C/o ला० रामलाल सर्राफ, देहली	५००)
४	,, रज्जीबाई C/o ला० ज्ञानचन्द जैन, देहली	५००)
५	श्री लोकनाथ जैन, हरफूलसिंहवस्ती, देहली	५००)
६	श्री जगदीश प्रसाद, कलकत्ता	५००)
७	,, डा० रामानन्द जैन	५००)
८	,, शान्तिदेवी C/o लाला वशेश्वरनाथ जैन पहाड़ी धीरज, देहली	४५०)
९	,, चरणदेई C/o डा० ज्ञानचन्द जैन करौलबाग, देहली	४०१)
१०	जैन परिवार, ३५ लखनऊ रोड तिमारपुर, देहली	३०१)
११	श्री राजदुलारी C/o जम्बूप्रसाद, मोतियाखान देहली	२५१)
१२	श्रीमती C/o श्री मुन्नीलाल जैन	२००)
१३	श्रीमती प्रकाशवती, शक्तिनगर देहली	२०२)

१४ श्रीमती लीलावती C/o मुखचैनलाल जैन
बाडा हिन्दुराव, देहली १६०)
१५ ,, गन्धूरी देवी C/o ला० प्यारेलाल, नया बाँस, देहली १५१)
१६ ,, सुमित्रादेवी, सदर बाजार देहली १०१)
१७ कैल्टेक्स हॉजरी मिल्स, बाडाहिन्दुराव, देहली १०१)
१८ श्रीमती लीलावती सदर बाजार देहली १०१)
१९ सन्तोष जैन C/o वीरकुमार, कमला नगर देहली १०१)
२० रावलपिण्डी जनरल स्टोर, अजमलखाँ रोड, करौलबाग देहली १०१)
२१ धर्मपत्नी डा० गोपालचन्द जैन, देहली १०१)
२२ श्रीमती कुन्दनदेवी C/o मा० सन्तराम जैन, हरफूलसिंह
बस्ती, देहली १०१)
२३ ,, शान्तिदेवी C/o ला० रोशनलाल जैन
बाराटोटी देहली १०१)
२४ ,, शान्ति जैन C/o जगीलाल जैन, वीर नगर, देहली १०१)
२५ ,, कमला जैन C/o मदनलाल जैन, वीर नगर देहली १०१)
२६ ,, पन्नादेवी C/o ला० कुंजलाल जैन देहली १०१)
२७ श्रीमती हेमचन्द जैन मेम्बर पहाडी धीरज, देहली १०१)
२८ श्री हुक्मचन्द जैन, शक्तिनगर देहली १०१)
२९ लाला स्नेहीराम जैन, नया बाजार देहली १००)
३० श्रीमती प्रीतमाबाई जैन C/o खैलचन्द जैन, देहली ५१)
३१ ,, विद्यावती C/o सुखचैनलाल जैन
पहाडी धीरज, देहली ५१)
३२ ,, आशावती जैन, पहाडी धीरज देहली ५१)
३३ ,, मायादेवी, वीर नगर देहली ५१)
३४ ,, इन्द्रादेवी, पुलबगस देहली ५१)
३५ ,, बनारसी बाई, हरफूलसिंह बस्ती, देहली ५१)

३६	श्रीमती	वीरांबाई वीर नगर, देहली	५१)
३७	,,	कमलावती, नई देहली	५१)
३८	,,	प्रकाशवती, राजपुर रोड देहली	५१)
३६	,,	लीलावती, नई देहली	५१)
४०	,,	विद्यावती C/o नत्थूमल जैन, देहली	५१)
४१	,,	चम्पाबाई C/o नौबतराय जैन, देहली	५१)
४२	,,	प्रीतो & कान्ता जैन करौलबाग देहली	५१)
४३	,,	विद्यावती, नागा पार्क शक्तिनगर देहली	५१)
४४	,,	सूर्यबाई, डिफेंस कालोनी, नई देहली	५१)
४५	श्री	ला० मुंशीराम जैन, बाड़ा हिन्दुराव देहली	५१)
४६	श्री	रामेश्वरप्रसाद, शक्ति नगर देहली	५१)
४७	श्री	सुभाष कुमार जैन, कमला नगर देहली	५१)
४८	श्री	लक्ष्मण सिंह, नई देहली	५१)
४६	श्रीमती	कृष्णा देवी C/o अभयकुमार जैन	४०)
५०	,,	शान्तिदेवी, लायलपुर वाली	
५१	,,	कुमरी देवी, पहाड़ी धीरज देहली	
५२	,,	सूर्यबाई, कमला नगर देहली	
५३	,,	धर्मपत्नी श्री मूलराज जैन	
५४	,,	त्रिलोकसुन्दरी, सदर बाजार देहली	
५५	श्री	जसवन्त जैन, हरफूलसिंह बस्ती देहली	
५६	श्रीमती	फूलाबाई, फरीदाबाद	
५७	,,	दुर्गादेवी तपस्विनी, वीर नगर देहली	
५८	,,	तोती बाई, गुड़गाँवा	
५६	,,	रामप्यारी, बाड़ा हिन्दुराव देहली	
६०	,,	मेमबाई, राजपुर रोड देहली	
६१	,,	संतोष कुमारी, होज खास नई देहली	

६१	श्रीमती शीलावती, करोलबाग देहली	२१)
६३	,, लीलावती, हरफूलसिंह बस्ती देहली	२१)
६४	श्री तेलूराम मांगेराम, नयाबास देहली	२१)
५	,, किशोरीलाल, नयाबास देहली	२१)
६६	,, धर्मपत्नी श्री फकीरचन्द, सिद्धिपुरा देहली	२०)
६७	श्रीमती राजकुमारी, पटेलनगर न्यू देहली	१५)
६८	श्री ज्ञानचन्द जैन मेरठ	१५)
६९	,, सुमित्रा जैन, पुलबगस देहली	११)
७०	श्रीमती रतनदेवी, हरफूलसिंह बस्ती देहली	१०)
७१	,, नवी बाई, देहली	१०)
७२	माता जी (श्री तरमेव कुमार) पहाड़ी धीरज देहली	७)
७३	धर्मपत्नी (श्री रामस्वरूप) पहाड़ी धीरज देहली	५)
७४	,, रानीदेवी (मनोप कुमार) रोहतक	५)
७५	,, लक्ष्मी जैन (श्री बाबूराम) रोहतक	५)
७६	श्री निर्मल जैन (कैलाशचन्द), रोहतक	५)
७७	श्रीमती रेशम बाई, रोहतक	५)
७८	एक महिला गुप्तदान	५)